चिन्तन : मनन

चिन्तन : मनन

उच्च कोटि के विवेचनात्मक निबन्ध

सम्पादक

दुर्गाशंकर मिश्र

निबन्धकार :

डा० नगेन्द्र, डा० सम्पूर्णानन्द, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल, डा० भगीरथ मिश्र, डा० विश्वनाथ मिश्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, डा० विजयमोहन शर्मा, डा० ओम्प्रकाश प्रभृति

*
प्रकाशक
साहित्य सदन
देहरादून

*
प्रथमावृत्ति
१९५८

*
मूल्य
सात रुपये

*
भास्कर प्रेस
देहरादून

आमुख

निबन्ध की महत्ता

इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य के विविध रूपों के इतिहास में निबन्ध सब से अधिक अधुनातन रूप है और आचार्य शुक्ल का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।[1] स्मरण रहे कि गद्य का विभाजन उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना, जीवनी, गद्यकाव्य एवं पत्र नामक सात भागों में किया जाता है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि निबन्ध में ही गद्य का निजी रूप दृष्टिगोचर होता है ; क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं में तो गद्य की भाषा एक माध्यम-मात्र है, लेकिन निबन्ध में तो वह अपनी पूर्ण शक्ति एवं सजधज के साथ व्यक्त होती है। उपन्यास की श्रेणी में साधारणतः उस सम्पूर्ण कथा साहित्य को रखा जाता है जिसका आधार कल्पनाप्रसूत होता है तथा जोकि गद्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। कहानी में तो उपन्यास की अपेक्षा आकार की संक्षिप्तता एवं काव्यत्व तथा लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार जीवनी, इतिहास एवं उपन्यास के मध्य की वस्तु है तथा उसमें व्यक्ति के अन्तर और बाह्य स्वरूप का कलात्मक निरूपण रहता है। यह अवश्य है कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा पत्रों में व्यक्तित्व का अधिक पुट रहता है और पत्र-लेखक को संक्षिप्त शब्दावली में ही अपने

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ५०५)

व्यक्तित्व का प्रकाशन कर भावग्राहक की भावनाओं को प्रभावित करने का सर्वदा ध्यान रखना पड़ता है। गद्य-काव्य एक इस प्रकार का काव्यात्मक गद्य है जिसमें भाव एवं मनुरञ्जन करने वाली काव्य-प्रधान शैली का अवलम्ब काव्य की ही भाँति होता है और रचयिता को एक निश्चित लक्ष्य की ओर अपनी धुन में लीन हो स्वच्छन्द रूप से विचरण करना पड़ता है, अतः उसे विषयान्तर का कोई अवसर ही नहीं मिल पाता। निबन्ध और समालोचना में बहुत कुछ अंशों में सादृश्यता सी है, क्योंकि किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ या विषय का अनुशीलन कर उसके गुण-दोषों की मीमांसा कर उ० के विषय में अपनी सम्मति प्रकट करना ही समालोचना है, जब कि निबन्धों में उक्ति-वैचित्र्य एवं रूप विधान को अधिक महत्व न देकर विचारों की अपेक्षा भावों की अधिक प्रधानता रखी जाती है और इस प्रकार उसमें विषय प्रतिपादन के साथ लेखक का व्यक्तित्व भी निहित रहता है। वस्तुतः इस व्यक्तिगत अनुभूति के कारण ही निबन्धकार वैज्ञानिक एवं तत्व-चिन्तक से भी भिन्न हो जाता है और जैसा कि श्री जयनाथ 'नलिन' का कथन है--'लेखक और पाठक के बीच निबन्ध सबसे छोटा, सरल और सीधा राजपथ है। पाठक सीधे और सही रूप में लेखक से परिचय पाता है। निबन्धकार उपदेश नहीं देता, वह बिना छिपाये अपनी बात कहता है। निबन्ध में केवल लेखक की अपनी निजी अनुभूतियाँ, विचार और भावनाएं रहती हैं, इसलिए उसे पहचानने में देर नहीं लगती। निबन्ध के द्वारा ही लेखक अपने पाठक के सामने यथार्थ रूप में बैठता है। × × × निबन्ध में व्याख्यान का प्रभाव, वक्तृता की मर्यादा, तर्क का बल और पारस्परिक वार्तालाप का आनन्द निहित है। निबन्ध में गद्य के सम्पूर्ण क्रम, तीव्रतम प्रवाह, अमिट प्रभाव, शरीर सङ्कोच और अर्थ विस्तार की परख होती है। निबन्ध गद्य को अधिक से अधिक प्राणवान बनाता है। निबन्ध किसी भी साहित्य के गद्य-विकास का मापदण्ड है।' [४]

निबन्ध की परिभाषा

चूंकि विविध आचार्यों और समीक्षकों ने निबन्ध की अनेक परिभाषाएं निश्चित की हैं तथा समय की गति के साथ उनमें परिवर्तन भी होता रहा है, अतः अभी तक उसकी कोई उपयुक्त परिभाषा निर्धारित नहीं हो सकी तथा जे० बी० प्रीस्टले की इस प्रकार की परिभाषा—'निबन्ध वह साहित्यिक

---

४ हिन्दी निबन्धकार—श्री जयनाथ 'नलिन' (पृ० १--२)

रचना है जिसे एक निबन्धकार ने रचा हो'—के समान ही परिभाषाओं की अधिकता है। स्मरण रहे कि आपटे द्वारा रचित संस्कृत कोष में निबन्ध के—(१) बांधना, जोड़ना, (२) लगाव, आसक्ति (३) रचना, लिखना (४) कोई साहित्यिक टीका या कृति (५) संग्रह (६) संयम, बाधा, रोक (७) मात्रावरोध (८) शृङ्खला (९) सम्पत्ति का दान, पशुओं का यूथ या द्रव्य का भाग, किसी की सहायता के लिए बांध देना (१०) निश्चित धन (११) नींव, उत्पत्ति और (१२) कारण हेतु नामक बारह अर्थ किये गये हैं। यहाँ पर भी यह स्मरण रहना चाहिए कि निबन्ध शब्द के प्रयोग की भी बड़ी अव्यवस्था है और इस प्रकार निबन्ध, प्रबन्ध तथा लेख—तीनों को समानार्थवाची मान लेने की त्रुटि भी बहुधा की जाती है। वस्तुतः निबन्ध और प्रबन्ध के शाब्दिक अर्थों में वैषम्यता सी है तथा जैसा कि श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने लिखा है—'किसी प्रकार के बन्धन को न स्वीकार करने वाला साहित्यिक गुम्फन निबन्ध कहलाना चाहिये और विशेष प्रकार के बन्धनों के अनुसार की गई साहित्यिक रचना को प्रबन्ध के नाम से पुकारना चाहिए।'[3] वस्तुतः प्रबन्ध शब्द संस्कृत साहित्य में किसी विस्तृत—सुबद्ध और व्यापक रचना के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा उसका मौलिक अर्थ सम्बद्ध कथा अथवा विषय को प्रस्तुत करने वाले लेख से समझा जाता था। लेकिन आधुनिक युग में वह किसी विषय का प्रतिपादन करने वाली विस्तृत रचना के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और उसे कभी-कभी अंग्रेजी शब्द ट्रीटाइज (Treatise) के अर्थ में तथा कभी-कभी थीसिस (Thesis) के अर्थ में भी प्रयुक्त कर इन शब्दों का समानार्थी बनाने का प्रयास भी किया जाता है। कतिपय पाश्चात्य समीक्षकों का यह भी विचार है कि जब निबन्ध में दुरूहता आती है तथा अध्ययन प्रसूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है, तब यह निबन्ध न रह कर प्रबन्ध का रूप धारण कर लेता है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'वाङ्मय विमर्श' नामक अपनी कृति में इस अन्तर को पूर्ण स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है और उनका विचार है कि प्रबन्ध विस्तार से लिखा जाने वा लेखता है जिसमें प्रतिपाद्य विषय प्रधान होता है, व्यक्तित्व की योजना नाम-मात्र को होती है। निबन्ध अपेक्षाकृत छोटी रचना होती है। इसमें व्यक्तित्व अपनी झलक देता चलता है। प्रबन्ध में वैसी कसावट नहीं होती जैसी निबन्ध में। निबन्ध में बन्ध निगूढ़

3 बुद्धि तरंग—श्री सद्गुरुशरण अवस्थी (पृ० १)

होता है, भाषा ऐसी होती है कि शब्दों का परिवर्तन सम्भाव्य नहीं जान पड़ता।[4] स्मरण रहे 'लेख' शब्द अंग्रेजी के आर्टिकल (Article) शब्द के अनुरूप ही अर्थ रखता है तथा किसी भी सामयिक पत्र-पत्रिका में एक लेखक के विचारों का जो प्रकाशन एक स्वतन्त्र-रचना के रूप में होता है उसे ही लेख की संज्ञा दी जाती है। श्री गंगाबख्शसिंह के शब्दों में—'लेख किसी भी विषय पर हो सकता है; लेख में लेखक का ध्यान विषय प्रतिपादन की ओर अधिक रहता है। प्रतिपादित विषय सम्बन्धी विचारों को सीधी तरह से लेखक प्रकाशित करता जाता है, साहित्यिकता अथवा चमत्कार उत्पन्न कर पाठक को प्रभावित करने की ओर उसका ध्यान रहना आवश्यक नहीं। इसके विपरीत निबन्धकार अपने और पाठक के बीच के दुराव को मेट कर तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। एक बात और कि लेख जब तक पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक साहित्य के रूप में रहता है, लेख है; परन्तु जब वही लेख किसी पुस्तक में संगृहीत किया जाता है तो 'निबन्ध' की संज्ञा प्रदान की जाती है। 'लेख' शब्द का प्रयोग निबन्ध की अपेक्षा व्यापक अर्थ में होता है।'[5] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्ध के स्थान में 'लेख' शब्द का प्रयोग समीचीन नहीं है। इधर कतिपय विचारकों ने 'सन्दर्भ' शब्द का प्रयोग भी निबन्ध के अर्थ में किया है और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने निबन्ध संग्रह का नामकरण 'सन्दर्भ सर्वस्व' किया है तथा पुस्तक की भूमिका में उन्होंने 'सन्दर्भ' शब्द की व्याख्या भी की है। वस्तुतः सम्बद्ध रचना ही सन्दर्भ है और इस प्रकार 'सन्दर्भ' शब्द को निबन्ध का पर्यायवाची नहीं मानना चाहिए, क्योंकि निबन्ध में सम्बद्धता के साथ-साथ आकार की संक्षिप्तता, प्रभावपूर्ण एवं मनोरञ्जन शैली को भी प्रधानता दी जाती है। इसी तरह 'निबन्ध' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'रचना' शब्द को भी निबन्ध का पर्यायवाची शब्द नहीं माना जा सकता, कारण कि रचना एक बहुत ही व्यापक शब्द है और उसका प्रयोग गद्य तथा पद्य दोनों के ही लिए होता है। यहाँ यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि यद्यपि भारतीय तथा अभारतीय दोनों ही साहित्यों में आजकल निबन्ध, प्रबन्ध और लेख नामक शब्दों का प्रयोग गद्य-रचना के ही लिए होता है, परन्तु पहले इस प्रकार का कोई बन्धन न

---

[4] वाङ्मय विमर्श—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (पृ० ७१)

[5] द्विवेदी-युगीन निबन्ध साहित्य—श्री गंगाबख्शसिंह एम०ए० (पृ० १०-११)

था और पद्य तक भी उनका विस्तार था तथा संस्कृत साहित्य में तो निबन्ध और प्रबन्ध का प्रयोग किसी भी मौलिक कृति के लिए होता था।* स्मरण रहे रचना शब्द अंग्रेजी के कम्पोजीशन (composition) के अधिक निकट है और निबन्ध एस्से (essay) के। अतः रचना में व्याकरणीय नियमों के पालन तथा शब्दों के शुद्ध एवं उचित प्रयोग पर ही बल दिया जाता है जब कि ठीक इसके विपरीत निबन्ध में विषय के प्रतिपादन तथा आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता दी जाती है और वास्तविकता तो यह है कि विद्यार्थियों को 'गद्य-रचना' में निपुण बनाने के हेतु ही 'रचना' का अभ्यास कराया जाता है। इस प्रकार निबन्ध एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है, जब कि रचना एक व्यापक अर्थ में। अतः निबन्ध के लिए 'रचना' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है।

वस्तुतः संस्कृत शब्द निबन्ध का शाब्दिक अर्थ बांधना है और इस प्रकार निबन्ध वह है जिसमें निःशेष रूप से बन्ध या सङ्गठन हो। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द-सागर' में तो बाँधना शब्द का यही अर्थ दिया गया है—'बन्धन वह व्याख्या है जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो' परन्तु आधुनिक काल में निबन्ध का प्रयोग जिस अर्थ में हो रहा है, वह पूर्ववर्ती अर्थ से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि निबन्ध साहित्य की आधुनिकतम रूप में कल्पना हमारे साहित्य में पाश्चात्य—विशेषतः अंग्रेजी—साहित्य के सम्पर्क से आई है और वह अंग्रेजी के एस्से (essay) से सर्वाधिक प्रभावित है। स्मरण रहे अंग्रेजी शब्द 'एस्से' भी प्राचीन उत्तरी

---

* देखिये—

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां
कामाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किका ज्ञान निवृत्ति हेतुः
करिष्यते तस्य मया निबन्ध॥
—श्री भरद्वाजो द्योतकर कृत न्याय वार्तिक, श्लोक १

और भी—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥
—माघकृत शिशुपाल वध, सर्ग २ श्लोक ७३

फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से निकला है और उसका अर्थ है—प्रयत्न अर्थात् किसी भी विषय पर गद्य में छोटी साहित्यिक रचना; और सम्भवतः इसीलिए डा० मूरे के कोश में एसे की यही परिभाषा दी गई है -'जिसमें किसी भी विषय का पूर्णत्व से विचार किया गया है ऐसे किसी भी आकार का अपूर्ण लेखन।' स्मरण रहे योरोप में निबन्ध साहित्य के जन्मदाता फ्रांसीसी लेखक 'मौण्टेन' (Montaigne) ने इस शब्द का 'प्रयत्न' अर्थ में ही प्रयोग किया है और उसका विचार है कि 'निबन्ध विचारों, उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है।'[7] चूंकि मौण्टेन के अनुसार निबन्ध साहित्य की वह विधा है जिसमें लेखक के आत्म-प्रकाशन का प्रयास-मात्र रहता है, अतः स्वयं उसके निबन्धों में सम्बद्धता का अभाव सा है, क्योंकि कल्पना की लगाम ढीली कर देने के कारण उसके विचार स्वाभाविक विचार-शृङ्खला का अनुकरण करते है और इस प्रकार उसके निबन्ध एक कल्पनाशील मन के विचरण-मात्र हैं। स्वयं मौण्टेन ने अपने निबन्धों के विषय में कहा है कि 'अपने निबन्धों का विषय मैं ही हूं। ये निबन्ध अपनी आत्मा को दूसरों तक पहुंचाने का प्रयास-मात्र हैं। इनमें मेरे ही निजी विचार और कल्पनायें हैं, कोई नवीन खोज नहीं।' मौण्टेन की इसी विचार-धारा को लक्ष्य कर एडीसन ने उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ आत्म-वक्ता माना है। (The most emenent egoist that ever appeared in the world was Montaine) यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक डा० जानसन की परिभाषा में भी निबन्ध को असङ्गठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित मन का विचरण ही कहा गया है तथा इस प्रकार उनका विचार है कि निबन्ध मन की ऐसी विशृङ्खल विचार-तरङ्ग है जो अनियमित और अपच है।[8] स्मरण रहे लार्ड फ्रांसिस बेकन जिसे कि अंग्रेजी साहित्य में निबन्ध का जन्मदाता माना जाता है, निबन्ध को विशिष्ट अर्थ में लेता है और इस तरह वह उसे 'विकीर्ण चिन्तन' के रूप में ग्रहण

---

[7] Essay is a modley of reflection, quotation and anecdotes.

[8] A loose sally of mind and irregular undigested piece not a regular and orderly performance.

करता है ।[0] क्रेबल (Crabble) का विचार है कि निबन्ध लेखन कला का बहुत प्रिय साधन है । जिस लेखक में प्रतिभा और ज्ञान-वृद्धि की जिज्ञासा का अभाव है उसे भी वह अनुकूल प्रतीत होता है और वह उस पाठक को अधिक रुचिकर लगता है जो विविधता तथा हल्की रचना से आनन्द लेता है ।[1] यद्यपि मौण्टेन, बेकन और जानसन की परिभाषाओं में निबंध की पूरी परिभाषा या पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता, लेकिन इतना अवश्य है कि उसमें उसके प्रारम्भिक रूप का आभास अवश्य होता है परन्तु विद्वानों को ये परिभाषाएं दोष से मुक्त प्रतीत नहीं हुईं[2] और इस प्रकार उन्होंने उसकी कई अनेक परिभाषाएं भी निर्धारित कीं । इनसाइक्लोपीडिया—ब्रिटेनिका का विचार है कि 'निबन्ध एक सामान्य कलेवर की अधिकांशतः गद्य में लिखी वह रचना है जिसमें किसी विषय का सरल चलताऊ निरूपण होता है तथा जो विशेषतः केवल उसी विषय से सम्बद्ध

---

[0] 'To write just treeties, requireth. Leaiure in the wsiter, and leisure in the reader, and therefore are not so fit, neither in regard of your highness princely affairs, nor in regard of my continual service, which is the cause that hath made me choose to write certain brief notes set down rather significantly than curiously, which I have called *Essays*. The word is late, but the thing is ancient, for Senecas' epistles' to Lucilius, if you mark them well, are but essays, that is *dispersed meditations*, though conveyed in the form of epistles.

—Bacon to Prince Henry-Dictionary of the English Richardson, Vol. I, 709.

[1] The essay is a mast popular mode of writing. It suits the writer, who has neither talent nor inclination to persue his enquiries further and generally the readers who are amused with variety and superficiality.

[2] The Encyclopaedia } Britannica, 14th Edition; Vol. 8; p. 716.

है जिसका कि लेखक पर जैसा प्रभाव पड़ता हो।'[3] एक अन्य स्थान पर भी उसकी परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा गया कि 'निबंध वह रचना है, जिसमें किसी बात को सिद्ध करने का अथवा उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया जाता है और जो सामान्यतया एक प्रबन्ध की अपेक्षा संक्षिप्त और कम व्यवस्थित एवं पूर्ण होती है।[4] सुपरिचित अंग्रेजी समीक्षक हडसन और मिडिल्डन मरे ने तो निबंध के आकार और विवेचन संकोच पर बल देते हुए उसमें आनुपातिक संक्षिप्तता और पूर्णता के अभाव को आवश्यक कहा है। हडसन ने रचयिता के चिन्तन और चरित्र चित्रण को अधिक महत्व दिया है, अतः इससे 'निबंध में व्यक्तित्व' का आभास होता है। हडसन ने जो 'पूर्णता के अभाव की ओर संकेत किया है उसका अर्थ सहसा समाप्ति ही है जिससे कि पाठक के चिन्तन और राग को आकस्मिक आघात सा लगे। हडसन ने निबंध के वर्ण्य विषयों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि सभी विषय निबंध की अधिकार सीमा में है।[5] हर्बर्ट रीड का विचार है कि निबंध किसी का जीवनवृत्त या आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं होता, न ही वह इतिहास होता है और न ही एक प्रबन्ध। इसमें किसी विषय का व्यक्तिगत विश्लेषण तो होता है, परन्तु आत्मीयता

---

[3] The essay is a composition of moderate length, usually in prose, which deals in an easy, cursory way with a subject, and in strictness with that subject only, as it effects the writer.

—The Encyclopaedia Britannica, 14th Edition
Vol. 8., P. 716.

[4] Essay a composition which something is attempted to be proved or illustrated usually shorter and less methodical and finished than a systematic and formal treatise, so that it may be a short disquistition on a subject of taste, philosophy or common life.

—The New Gresham Encyclopaedia Vol. IV; p. 293.

[5] The essay then may be regarded roughly as a composition or any topic, the chief native feathers of which are comparative want of exhaustiveness.

के रूप में नहीं, यह विषयगत तो होता है परन्तु विवेचनात्मक नहीं होता।'[6] डब्ल्यू० ई० विलियम्स ने भी 'ए बुक ऑफ इङ्गलिश एसेज' की भूमिका में निबंध की परिभाषा निश्चित करते हुए कहा है— 'स्वल्पतम परिभाषा निबंध की यह है कि 'यह गद्य रचना की एक ऐसी विधा है जो आकार में बहुत ही लघु होती है और उसमें केवल वर्णन ही नहीं होते।' अपनी बात को प्रमाणित करने के हेतु कभी-कभी निबंधकार प्रसङ्गों का आश्रय ले सकता है; उपन्यासकार की भांति पात्र-सृष्टि भी कर सकता है, लेकिन उसका मूल उद्देश्य कथा कहना नहीं है, अपितु उसका मुख्य कार्य सामाजिक, दार्शनिक आलोचक या टिप्पणीकार जैसा होता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य साहित्य में निबंध सम्बंधी परिभाषाओं की अधिकता सी है और वास्तव में निबंध की कोई एक वैज्ञानिक परिभाषा देना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो 'आक्सफोर्ड डिक्शनरी' में दी गई निबंध की इस परिभाषा को उपयुक्त कहा जा सकता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उसमें निबंध के आधुनिक रूप का भी ध्यान रखा गया है; देखिये—'निबंध किसी विषय-विशेष अथवा किसी विषय के अंश पर लिखी गई साधारणतः विस्तार वाली रचना है, जिसमें आरम्भ में अपरिपूर्णता की भावना निहित रहती थी, लेकिन अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिए होता है जिसकी परिधि सीमित होने पर भी शैली प्रायः प्रौढ़ एवं परिमार्जित होती है।'[7]

स्मरण रहे पाश्चात्य जगत की भाँति भारतीय साहित्य में भी निबंध विषयक परिभाषाओं की विभिन्नता सी है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृत ग्रन्थों में निबंध की व्याख्या 'निबध्नातीति निबंधः'[8] अर्थात्

[6] '..........Essay gives not a biography nor a critical analysis nor a history nor a treatise. It is personal in its approach, but not intimate, objective rather than discursive.

[7] An essay is a composition of moderate length on any particular subject or branch of a subject, originally implying want of finish, but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range.'

—A New Oxford English Dictionary, Vol. III; p. 293.

[8] शब्द कल्पद्रुम : स्यार राजा राधाकान्तदेव बहादुरेण विरचित : द्वितीय काण्ड, सन् १८१४ ई०; पृ० ८८४

जो बाँधता है, वही निबंध है—नामक की गई है, परन्तु हमारे हिन्दी समीक्षकों ने निबंध की परिभाषा निर्धारित करने की ओर बहुत दिनों तक कोई ध्यान नहीं दिया और जहां कहीं ऐसा प्रयास किया है वहां अंग्रेजी शब्दावली का आधार ले निबंध की विशेषताओं का उल्लेखन मात्र किया है। इसीलिए स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी हर्बर्ट रीड के विचारों के अनुरूप ही निबंध की चर्चा रते हुए लिखा है—'संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले रहते हैं। तत्त्व-चिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरे में कहीं नहीं फँसता; पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता रहता है, यही उसकी अर्थ-सम्बंधी व्यक्तिगत विशेषता है।' साथ ही डा० श्यामसुन्दर दास ने भी अपने 'साहित्यालोचन' नामक ग्रंथ के 'निबंध' वाले प्रकरण में निबंध की परिभाषा देने का प्रयास नहीं किया और केवल मात्र यही लिखा है कि 'प्राचीन निबंध एक प्रकार से विज्ञान की विश्लेषणात्मक कोटि में रख दिये गये। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा। न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कार पूर्ण मुद्रा दिखाई दी और न उनमें भावनाप्रधान शैली का प्रवेश ही हो पाया।'[1] डा० सूर्यकान्त शास्त्री का विचार है कि 'निबंध एक प्रकार का स्वगत भाषण है। स्वगत भाषण में पाठक के ध्यान को वश में रखना नितान्त कठिन होता है। एक निबंधकार के पास ऐसे साधन बहुत ही न्यून होते हैं जिनके द्वारा वह पाठक के मन को अपनी रचना में बांध रखे। कहने के लिए उसके पास कहानी नहीं होती, जिसके द्वारा पाठक के मन में उत्सुकता बनाये रखे, गाने के लिए उसके पास स्वर, ताल तथा लय नहीं होते, जिनके द्वारा वह पाठक को मंत्रमुग्ध बनाये रखे।'[2] वस्तुतः इन सभी मतों, विचारों और उक्तियों में से यदि किसी को भी पृथक् रूप से लिया जाय तो निबंध की पूर्ण परिभाषा

---

[1] साहित्यलोचन— डा० श्यामसुन्दर दास (पृ० २३५)

[2] साहित्य मीमांसा— डा० सूर्यकान्त शास्त्री (पृ० २०७)

निश्चित करना सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि पृथक् रूप से इन सभी में अपूर्णता है अतः इन सबको मिला कर किसी निश्चित परिभाषा तक पहुँचना ही समीचीन होगा। इस प्रकार बाबू गुलाबराय ने इन सभी मतों का संग्रह अपनी परिभाषा में कर निबंध की परिभाषा देने का प्रयास किया है; देखिये—'निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।'[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य अनेक परिभाषाओं की अपेक्षा इसमें निबंध का बहुत कुछ स्वरूप सामने आता है। लेकिन श्री जयनाथ 'नलिन' इसे भी उपयुक्त परिभाषा नहीं मानते, क्योंकि उनका मत है कि इस परिभाषा से भी निबंध का पूर्ण रूप स्थिर नहीं हो पाता और इस प्रकार उन्होंने स्वयं उसकी यह परिभाषा निश्चित की है—'निबंध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरल, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।' इसे यों भी कह लें—'निबंध गद्यकाव्य की वह मर्यादित विधा है जिसमें लेखक के स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों की सरस, सजीव अभिव्यक्ति हो।'[3] परन्तु हमारी दृष्टि में तो डा० भगीरथ मिश्र की यह परिभाषा सब से अधिक उपयुक्त है; देखिये—'निबंध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दतापूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ, अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।'[4]

निबन्ध के तत्त्व

निबंध की परिभाषा के पश्चात् अब हमें उसके मूल तत्त्वों से भी परिचित हो जाना चाहिए और इस दिशा में विचार करते समय भी हमें पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न विचारों में समन्वय लाना आवश्यक हो जाता है, लेकिन हर्ष की बात है कि डा० दशरथ ओझा ने इस प्रकार का समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाकर निबंध के तत्त्व निर्धारित किए हैं, और इसलिए उद्धरण विशद होते हुए भी हम उसे यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे; देखिए—

---

[2] काव्य के रूप—श्री गुलाबराय (पृ० २३६)

[3] हिन्दी निबन्धकार—श्री जयनाथ 'नलिन' (पृ० १०)

[4] काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र (पृ० ७६)

'(१) निबंध के तत्वों में मुख्य है इसकी गद्य-रचना। सामान्यतः निबंध एक छोटी गद्य रचना के रूप में होता है किन्तु अपवाद स्वरूप एकाध स्थल पर यह पद्य में भी लिखा गया है।

(२) उसमें (निबंध में) लेखक के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। निबंधकार शास्त्रीय मत का प्रतिपादन नहीं करता है प्रत्युत वह विषय के सम्बंध में अपना मत व्यक्त करता है। निबंध में लेखक की अनुरक्ति-विरक्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। निर्बन्ध निबंध का लेखक व्यक्तित्व की ही व्यञ्जना करता है, जब कि परिबन्ध निबंध का लेखक विषय और व्यक्तित्व का सामञ्जस्य करते हुए चलता है।

(३) निबंध अपने में पूर्ण रचना है। यद्यपि निबंध का विषय-क्षेत्र सङ्कीर्ण होता है और वह केवल विषय के किसी एक पहलू पर ही विचार करता है, फिर भी वह एकबद्ध होता है। उसके प्रारम्भ, मध्य और उपसंहार में तारतम्य होता है।

(४) यह अत्यन्त रोचक रचना-प्रकार है। रोचकता निबंध की सफलता और लोकप्रियता का प्राण है। अंग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य में भी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही इस रचना-शैली का विकास हुआ है। अतः रंजकता सहज रूप से ही इसका अङ्ग बन गई है। निबंध में लेखक की प्रतिभा का समावेश होने के कारण सजीवता आ जाती है। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिए ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता का प्रयोग किया जाता है, जो लेखक की प्रतिभा का बल पाकर रोचक बन जाता है।'

(५) भावों का पुट—अच्छे निबंध में भावों का योग बराबर देखा जाता है क्योंकि निबन्धकार इस क्षेत्र में अपनी पूरी सत्ता—ज्ञानात्मक और भावात्मक—के साथ चलता है। निबंध में जब कि लेखक का व्यक्तित्व व्यञ्जित होता है, तब यह आवश्यक ही है कि इसमें उसके हृदय-पक्ष का भी योग हो। रामचन्द्र शुक्ल के कई विचार-प्रधान निबंधों में गहन विचार-वीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोतों का विधान मिलता है। उनके 'लोभ और प्रीति', 'श्रद्धाभक्ति', 'करुणा' जैसे निबन्धों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है।

(६) औपचारिकता का अभाव — अन्य रचना प्रकारों की अपेक्षा निबंध में औपचारिकता कम या नहीं ही होती है। इसके भीतर पाठक और लेखक का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वास्तव में उत्कृष्ट निबंध एक खुला पत्र है जो किसी व्यक्ति विशेष को तो सम्बोधित करके नहीं लिखा गया होता, पर जो भी सहृदय पाठक उसे पढ़ता है, वही समझता है कि यहाँ लेखक मुझे सम्बोधित कर रहा है।'[5]

निबन्धों के प्रकार

चूँकि विषय की दृष्टि से निबंध का क्षेत्र बहुत ही अधिक विस्तृत है, उसमें विश्व के सम्पूर्ण तत्वों, भावनाओं, वस्तुओं और क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का विवेचन हो सकता है, अतः यह कहना सहज नहीं है कि वे कितने प्रकार के हो सकते है ? स्मरण रहे कि हिन्दी साहित्य में उपलब्ध निबंधों की विषय-विविधता तथा वर्णन-शैली की भिन्नता को लक्ष कर निबंध को स्थूल रूप से परिबंध निबंध या विषय-निष्ठ (objective Essays) और निर्बन्ध निबन्ध या विषयी निष्ट (Subjective Essay) नामक दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है। यों भी निबंध रचना के दो प्रमुख तत्वों—विषय और शैली—को ध्यान में रख कर हम निबंधों को 'विषय-वस्तु-प्रधान' और 'शैली प्रधान' नामक दो भागों में बांट सकते है, जिनमें से प्रथम में निबन्धकार की दृष्टि विषय-वस्तु से ही अधिक सम्बद्ध रहती है तथा अभीष्ट विषय का वर्णन या प्रतिपादन ही उसका प्रमुख लक्ष्य रहता है; जब कि द्वितीय में भाषा एवं व्यक्तित्व के प्रकाशन को अधिक महत्व देकर प्रभावोत्पादन के हेतु भाषा को सुचारु रूप से सँवारना पड़ता है और उसमें रह-रह कर आत्म-प्रकाशन की भी झलक दीख पड़ती है। परन्तु इन प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार को अपनाने के लिए कोई निबंधकार बाध्य नहीं है और समीक्षकों ने भी निबंधों का वर्गीकरण करते समय इन्हें महत्व न देकर निबंधों के निम्नाङ्कित चार प्रकार ही माने हैं—

१. वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive Essays)

२. विवरणात्मक निबंध (Narrative Essays)

३. विचारात्मक या विवेचनात्मक निबंध (Reflective Essays)

5 समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा (पृ० १७३-१७७)

४. भावात्मक निबंध (Emotional Essays)

यद्यपि किसी-किसी विचारक ने निबन्ध के पांच प्रकार भी निश्चित किये है और वे निबन्ध का पांचवाँ रूप आत्म-परक या वैयक्तिक निबंधों (Personal) को मानते है, परन्तु विचारपूर्वक देखने पर तो निबंध के उक्त चार प्रकार ही स्वीकार करना अधिक युक्तिसङ्गत जान पड़ता है अन्यथा जैसा कि हम कह चुके है, निबंध के प्रकार अनन्त हो सकते है।

वर्णनात्मक निबंधों में वर्णन की ही प्रधानता रहती है और लेखक किसी प्राकृतिक वस्तु, किसी स्थान, प्रांत या किसी मनोहर आह्लादकारी दृश्य का वर्णन करता है। चूँकि इन निबंधों में लेखक प्रकाश्यतः बिलकुल तटस्थ ही रहता है, अतः वह अपनी कृतियों में विषय का तटस्थ एवं निर्लिप्त भाव से ही वर्णन करता है और विषय से सम्बन्धित विचारों तथा भावोद्गारों का प्रकाशन करने की ओर उसकी रुचि नहीं रहती है। निबंधकार की मनोवृत्ति जगत के बाह्य सौंदर्य एवं मनोरम प्राकृतिक दृश्यों तथा व्यापारों का वर्णन करने में ही अधिक रमती है और मस्तिष्क अथवा तर्क से अधिक काम न लेकर वह नेत्रेन्द्रिय तथा कल्पना का ही अधिक अवलम्ब ग्रहण करता है। इस कोटि के निबंधों में वर्णन भी स्थूल और सूक्ष्म नामक दो प्रकार का होता है तथा प्रथम में तो लेखक वर्ण्य वस्तु को जिस रूप में देखता है उसका उसी प्रकार वर्णन करता है तथा कल्पना का अधिक अवलम्बन ग्रहण कर यथातथ्य वर्णन की ओर ही अधिक रुचि दिखाता है। परन्तु द्वितीय में वह कल्पना के स्वर्णिम पङ्खों पर आसीन हो वर्ण्य-विषय का ऐसा आकर्षक एवं हृदयग्राही वर्णन करता है कि पाठक स्वयं भी उसी कल्पना-लोक में विचरण करने लगता है। यद्यपि स्थूल वर्णन में यथातथ्य वर्णन करने की ओर ही निबंधकार का ध्यान जाता है परन्तु वह प्रसङ्गानुसार पाठक के चित्त को अनुरञ्जित करने के हेतु वर्ण्य-विषय से सम्बंधित उपादानों एवं दृश्यों का सुचारुता के साथ चयन भी करता है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उसकी अपेक्षा सूक्ष्म-वर्णन में ही वह पाठक की कल्पना-शक्ति के विकास के साथ-साथ उसके हृदय को अभिभूत भी कर पाता है। साधारणतयः हिंदी निबंधकारों ने वर्णनात्मक निबंधों का आरम्भ स्थूल वर्णन से ही किया है, लेकिन ज्यों-ज्यों उन्होंने अभीष्ट विषय का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन करने की ओर ध्यान दिया

कल्पना का पुट भी उनमें अधिक होता गया। वर्णनात्मक निबंध का एक सुन्दर उद्धरण देखिए—

'हनुमान चट्टी से पाँच-छः मील की जो दुर्गम और विकट चढ़ाई आरम्भ हुई थी उसका अंत एक ओर नर और दूसरी ओर नारायण नाम के पर्वतों तथा उनकी असंख्य श्रेणियों से घिरी हुई समतल भूमि में हुआ। श्वेत कमल की पंखुरियों के समान लगने वाले पर्वतों के बीच में निरंतर कल-कल नादिनी अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई वह पुरी, हिमालय के हृदय में छिपी हुई इच्छा के समान जान पड़ी। वृक्ष, फल और पत्तों का कहीं चिह्न ही नहीं था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, निस्पन्द समाधि में मग्न तपस्विनी जैसी आडम्बर-हीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी और उतने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे मानो किसी शरद् पूर्णिमा की रात्रि में पहरा देते-देते चाँदनी समेत जम कर जड़ हो गये हों।'

—बदरीनाथ की यात्रा : महादेवी वर्मा

विवरणात्मक निबंधों में गतिशील वस्तुओं, काल एवं परिस्थितियों का वर्णन रहता है और आखेट, पर्वतारोहण दुर्गम प्रदेश की यात्रा, नदियों के उद्गम स्रोत की खोज इत्यादि साहसिक कृत्यों के वर्णन की ओर भी निबंधकारों का ध्यान जाता है। स्मरण रहे वर्णनात्मक निबंधों का मुख्य सम्बंध देश से रहता है, जब कि विवरणात्मक निबंधों का काल से सम्बन्ध रहता है। इन दोनों में सर्व-प्रधान अंतर यह है कि प्रथम में तो निबंध-लेखक साहित्यिक उपादानों के सहारे एक चित्र-मात्र खींचने का प्रयास करता है और इस प्रकार वह चित्रकार के अधिक समीप प्रतीत होता है, लेकिन द्वितीय में वह किसी घटनाचक्र को क्रमबद्ध रूप से पाठकों के सामने रखना चाहता है, अतः उसका चित्रण स्थिर न हो कर गतिशील ही होता है और इसीलिए विवरणात्मक निबंधों की सफलता का मापदण्ड पाठक के कौतूहल को जाग्रत करना मात्र है; जब कि वर्णनात्मक निबन्धों की सफलता की कसौटी पाठक की कल्पना-शक्ति को उत्तेजित कर वर्ण्य-वस्तु को उसके चित्त पर अङ्कित कर देने में है। स्मरण रहे विवरणात्मक निबंधों को भी स्थूल रूप में कथात्मक, जीवन-चरित्रात्मक तथा घटनात्मक नामक तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। साथ ही कथात्मक निबंधों के भी तीन उप-विभाग किये जा सकते हैं; (१) आत्म कथा (२) स्वप्न की कथा (३) रूपकात्मक कथा। आत्म कथा सम्बन्धी निबंधों में लेखक अपने

निजी भावों को ही अङ्कित करता है और अपने आत्म-चिन्तन का प्रदर्शन ही उसमें मूल लक्ष्य रहता है तथा इस प्रकार किसी भावना, वस्तु आदि के मानवीकरण द्वारा अथवा किसी व्यक्ति की आत्म-कथा का विवरण उसी पात्र द्वारा सुनाया जाता है। एक उदाहरण देखिए—

'मैं अपने दिल से बातें करता हुआ मकान पर आया। कैसा खुश-किस्मत आदमी है, कहता है 'मेरा कोई दोस्त नहीं।' ऐ खुशनसीब आदमी! यहीं तो तू मुझ से बढ़ गया। पर क्या उसका यह कहना सच भी है? अर्थात क्या वास्तव में उसका कोई दोस्त नहीं जो मेरे दोस्तों की तरह उसे दिन भर में पांच मिनट की भी फुरसत न दे। मैं अपने मकान पर एक लेख लिखने जा रहा हूं, पर खबर नहीं कि मुझे जरा सा भी वक्त ऐसा मिलेगा कि मैं एकान्त में अपने विचारों को इकट्ठा कर सकूं और निश्चिन्तता से उन्हें लिख सकूं।'... ..इत्यादि।

—मुझे मेरे मित्रों से बचाओ : पद्मसिंह शर्मा

स्वप्न की कथा के रूप में रचित कथात्मक निबन्धों को वास्तव में निबन्ध न कह कर कथा मानना ही अधिक युक्ति-संगत होगा। इन निबन्धों में लेखक किसी विषय पर वार्तालाप करते-करते विचार-मग्न हो सो जाता है और सोने के पश्चात् जो कुछ स्वप्न में देखता है उसका रोचक तथा सजीव वर्णन निबन्ध में उपस्थित करता है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद का 'राजा भोज का सपना', भारतेन्दु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', राधा-चरण गोस्वामी का 'यम-लोक-यात्रा' आदि निबन्ध इसी कोटि के हैं। कथात्मक निबन्धों के तीसरे उपविभाग के अन्तर्गत आने वाले निबन्धों में रूपकों की सहायता से लेखक कोई कहानी अङ्कित करता है और कभी-कभी उनमें वह विवरण-शक्ति का अधिक सहारा न लेकर वर्णन-शक्ति का ही अधिक अवलम्ब ले लेता है और इस प्रकार मानवीकरण तथा प्रतीकात्मकता के कारण उसकी कृति निबन्ध न रह कर बहुत कुछ अंशों में कहानी की कोटि में आ जाती है।

विवरणात्मक निबन्धों की दूसरी कोटि के अन्तर्गत आने वाले जीवन चरितात्मक निबन्धों में किसी भी व्यक्ति के बाह्य तथा आभ्यन्तरिक जीवन से सम्बन्धित सभी प्रमुख घटनाओं का विवरण रहता है और निबन्धकार सहानुभूति एवं निष्पक्षता के साथ चरितनायक के गुण-दोषों पर प्रकाश डालता हुआ निबन्ध को सुगठित तथा कलात्मक रूप देने का प्रयास करता है। इसी प्रकार घटनात्मक निबन्धों में किसी ऐतिहासिक, अलौकिक अथवा

सामान्य घटना का विवरण उपस्थित किया जाता है और विषय की दृष्टि से ये भी ऐतिहासिक, अलौकिक तथा सामान्य नामक तीन श्रेणियों में रखे जा सकते है। ऐतिहासिक घटनात्मक निबन्धों में किसी ऐतिहासिक घटना का विवरण रोचक तथा सजीव ढङ्ग से प्रस्तुत किया जाता है और लेखक उस घटना का समय, कारण तथा महत्व अङ्कित करता है जिसका कि विवरण देने की उसकी इच्छा रहती है। अलौकिक घटनात्मक निबन्धों में किसी आश्चर्यजनक तथा अद्भुत घटना का विवरण अङ्कित किया जाता है तथा सामान्य घटनात्मक निबन्धों में सामान्य घटनाओं के विवरण को ऐसे रोचक ढङ्ग से प्रस्तुत करता है कि पाठक जब तक निबन्ध की समाप्ति नहीं कर लेता तब तक उसका ध्यान अन्यत्र नहीं जाता। हिन्दी साहित्य में विवरणात्मक निबन्धों की अधिकता सी रही है, लेकिन आज उसकी ओर हमारे नवीन निबन्धकारों का ध्यान नहीं जा रहा। विवरणात्मक निबन्ध का एक सुन्दर उदाहरण देखिये---

'अब भी पंगी के सारे भगत ऋषिकुल से बागी नहीं हो गए हैं, विवेकी पुरुष हर जगह होते ही हैं। किन्तु ब्रह्मचारी का मन उचट गया है। आज ऋषिकुल सूना है। महीने भर के भीतर ही उन्होंने भैरवी को पितृ-कुल भेज दिया। ३०--३१ मई को वह मुझसे मिले। उसी समय तीर्थ आविष्कार की बात उन्होंने की थी। ११ जुलाई को फिर आये। कह रहे थे 'पाण्डव-तीर्थ' पर मन्दिर बनाने का प्रबन्ध कर आया हूं'। 'आजकल आदमी कहीं मिल रहे है। अब कैलाश की परिक्रमा करने जा रहा हूं'।' सच्चे कैलाश की नहीं, झूठे कैलाश की, जो मेरे कमरे की खिड़की से इस समय भी दिखाई दे रहा है।'

---घुमक्कड़ों का समागम : राहुल सांकृत्यायन

विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध में बौद्धिक विवेचना की प्रधानता रहती है और हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक महत्व दिया जाता है। वस्तुतः दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक विषयों की विवेचना ही इन निबन्धों में की जाती है और उनके लिए गम्भीर अध्ययन, मनन एवं जीवन में प्राप्त गम्भीर अनुभवों का होना आवश्यक है। स्मरण रहे जिस लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियां जितनी अधिक विस्तृत होंगी तथा उसके जीवन का अध्ययन जितना अधिक पूर्ण होगा, उतना ही अधिक उसके निबन्ध भी सफल हो सकेंगे। इन निबन्धों में लेखक के एक विचार से दूसरा विचार निःसृत होकर विचारों की श्रृङ्खला बनाता चलता

है और जैसा कि आचार्य शुक्ल का मत है— 'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पेराग्राफ में विचार दबा-दबा कर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हो। विचारात्मक निबन्धों के ही आलचोनात्मक, गवेषणात्मक या विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं और इनमें शैली के भी दो रूप — व्यास शैली तथा समास शैली—देख पड़ते हैं। व्यास शैली में वस्तु को उचित फैलाव के साथ समझा बुझाकर कहने की ओर झुकाव रहता है,[1] जब कि समास शैली में संक्षिप्तता को अधिक महत्व देकर 'गागर में सागर' अर्थात् थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति रहती है।[2]

---

[1] देखिए—

'भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहां धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों में एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन समाज में हुई है और तदनुसार हमारा दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है।'

—भारतीय साहित्य की विशेषताएं : श्यामसुन्दर दास

[2] देखिये—

'बिम्ब ग्रहण कराने के लिए चित्रण-काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सब से आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी ; पर जब रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है।'

—काव्य में प्राकृतिक दृश्य : रामचन्द्र शुक्ल

भावात्मक निबन्धों का सम्बन्ध हृदय से है और इनमें बुद्धितत्व की अपेक्षा भावतत्व की ही प्रधानता होती है, जिसके फलस्वरूप इनमें रागात्मकता की अधिकता रहती है तथा इसीलिए उन्हें कवित्वपूर्ण निबन्ध भी कहा जाता है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक को सर्वदा इस बात के लिए सतर्क रहना पड़ता है कि भावावेश में आकर भावोद्गारों की अभिव्यञ्जना वह विषयान्तर में इतना अधिक न चला जाय कि जिससे अभीष्ट विषय पीछे ही छूट जाय, अतः विषय से सम्बन्धित भावों को ही निबन्ध में विशेष रूप से स्थान मिलना चाहिए जिससे कि निबन्धों में अधिक स्वाभाविकता तथा कलात्मकता आ सके। स्मरण रहे भावात्मक निबन्धों की रचना प्रायः दो प्रकार की शैलियों में की जाती है—(१) धारा (२) विक्षेप। धारा शैली में भावों की अभिव्यक्ति प्रवाहपूर्ण होती है और इस प्रकार उसमें समान वाक्यों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें एक विशिष्ट तारतम्यता सी आ जाती है जो कि सम्पूर्ण वाक्यों को एक सूत्र में पिरोए रखती है।[3] परन्तु ठीक इसके विपरीत विक्षेप शैली में तारतम्यता और नियन्त्रण का ध्यान रखने पर भी भावों की गति उखड़ी हुई सी जान पड़ती है और इस प्रकार इस शैली में कहीं-कहीं कुछ दूर तक सम्बद्ध, बीच-बीच में उखड़े-उखड़े वाक्य, कहीं वाक्यों के कतिपय मर्मस्पर्शी अंशों की आवृत्ति, तो कहीं अधूरे छूटे हुए प्रसङ्ग देख पड़ते हैं।[4] कई हिन्दी निबन्धकारों ने तो अपने भावात्मक निबन्धों में इन

---

[3] देखिए—

'आचरण के आनन्द नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रगट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर जाता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर-घास, नर-नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

—आचरण की सभ्यता : पूर्णसिंह

[4] देखिए—

'अरी सखी! कानों में खुंसे हुए इन तमाल-दलों को तू चन्द्रमा के हिरन को क्यों नहीं खिला देती? खिला, खिला, उन्हें उनके आगे डाल

दोनों शैलियों का मिश्रण सा कर दिया है और इसीलिए कतिपय विचारक इन दो प्रणालियों के साथ-साथ तरङ्ग-शैली नामक एक अन्य पद्धति भी मानते हैं जो कि धारा-शैली और विक्षेप--शैली के मध्य की वस्तु है। [5]

हिन्दी साहित्य में निबन्ध

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि यद्यपि प्राचीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य में निबन्ध तथा प्रबन्ध शब्दों का प्रयोग चिरकाल से मिलता है तथापि जिस अर्थ में आजकल इन शब्दों का प्रयोग हो रहा है उस अर्थ में पहले कभी न था। अतः जिस प्रकार हिन्दी गद्य का विकास भारतेन्दु युग में हुआ है उसी प्रकार निबंध लेखन की परम्परा का आरम्भ भी भारतेन्दु बाबू के समय से ही माना जाता है। [6] स्मरण रहे अंग्रेजी साहित्य की भांति हिन्दी में भी समाचार पत्रों द्वारा ही निबंधों का सूत्रपात हुआ है और जैसा कि डा० रामविलास शर्मा का मत है--'भारतेन्दु-युग में पत्र-साहित्य ने जो उन्नति की उससे निबंध रचना को विशेष प्रोत्साहन मिला।' [7] चूंकि प्रारम्भिक निबंध अधिकांशतः मासिक या साप्ताहिक पत्रों

दे। यह नये-नये कोमल पत्ते खाकर वह हिरन यदि कुछ मोटा हो जाय और अपनी मुटाई से चन्द्रमा के कुछ अंश को ढक ले तो जरा देर के लिए मुझे दम लेने की फुरसत मिले। खेद तो इस बात का है कि समय पर बुद्धि काम नहीं देती। अवसर निकल जाने पर वह स्फुरित हो जाती है। अभी-अभी उस दिन, अमावस्या हस्तगत होकर निकल गई। याद ही न आई। नहीं तो मैं उसे बलवत् पकड़ रखती।'

—दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ : महावीर प्रसाद द्विवेदी

5 देखिए—

'मैं तुम्हारी एक तस्वीर खींचना चाहता हूँ, मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, कलम की जीभ को बोल लेने दो। किन्तु हृदय और मसि-पत्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम केवल श्याममात्र होगा। परन्तु ये काली बूंदें अमृत से अधिक मूल्यवान हैं, मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।'

—साहित्य देवता : माखनलाल चतुर्वेदी

6 हिन्दी साहित्य का इतिहास— डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (पृ० ७३०)

7 भारतेन्दु-युग— डा० रा विलास शर्मा (पृ० १५)

के ही लिए लिखे गए थे, अतः वे न केवल आकार में संक्षिप्त थे अपितु तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक समस्याएं ही उनमें अङ्कित की गई हैं। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विचारकों ने हिन्दी निबंध साहित्य के इतिहास को स्थूल रूप में भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग तथा आधुनिक-युग नामक तीन कालों में विभाजित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इस दिशा में यह कभी न विस्मरण करना चाहिए कि इस प्रकार का विभाजन केवल सुविधा की ही दृष्टि से किया गया है अन्यथा न तो सभी लेखक युग-निर्माताओं का अनुसरण करते और न एक प्रवृत्ति ही किसी निश्चित काल तक ही चलती है। हां, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि भारतेन्दु-युग निबन्ध के आविर्भाव का युग है ; द्विवेदी युग में उसका परिमार्जन हुआ और आधुनिक युग में उसमें प्रौढ़ता आ गई है तथा वह अपने चरम उत्कर्ष के निकट पहुंचने में सक्षम भी हो पा रहा है।

भारतेन्दु-युग गद्य का प्रारम्भिक काल था, अतः स्वाभाविक ही इस युग में प्रौढ़ता तथा गाँभीर्य की अपेक्षा निबंधकारों में जिन्दादिली, मनोरंजन और चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही विशेष रूप से है परन्तु इन निबन्धों में सारहीन कोरी तड़क-भड़क की अपेक्षा सजीवता पर ही अधिक ध्यान दिया गया तथा वैयक्तिक विशिष्टताओं, हास्य-विनोद तथा व्यङ्ग का समावेश भी कुशलता के साथ किया गया है। स्मरण रहे वैयक्तिकता का अर्थ केवल यही है कि उसमें लेखक के व्यक्तित्व की पूर्ण छाप थी लेकिन वे व्यक्ति सम्बन्धी न थे। निबन्ध-साहित्य के इस प्रारम्भिक युग के निबंधकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, पं० केशवराम भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी और बाबू बालमुकुन्द गुप्त इत्यादि की गणना की जाती है तथा जैसा कि डा० भगीरथ मिश्र का विचार है—'जहां तक निबंधों की रोचकता और काव्य-गुण सम्पन्नता का प्रश्न है वहां तक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युगीन निबंध साहित्य अति उत्तम है। कहा गया है कि गद्य कवियों की कसौटी है, यह सत्य है और इसी प्रकार यह भी सत्य है कि निबंध गद्य लेखकों की कसौटी है। एक अच्छे निबंध-लेखक की गद्य-शैली में कुछ विलक्षण और विशिष्ट गुण रहते हैं। भारतेन्दु-युग के निबंध-लेखकों में ऐसे गुण स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं।'[8]

---

[8] हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास— श्री रामबिहारी शुक्ल तथा डा० भगीरथ मिश्र (खण्ड २ पृ० २५१)

आधुनिक हिन्दी साहित्य के उन्नायक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रादुर्भाव के साथ ही हिन्दी गद्य का परिमार्जन प्रारम्भ हुआ और गद्य के विविध अङ्गों की समृद्धि के अनेक प्रयत्न किये जाने लगे। अतः स्वाभाविक ही इस युग में निबंध साहित्य का भी अत्यन्त व्यापक विस्तार हुआ तथा विचारात्मक, भावात्मक एवं वर्णनात्मक सभी प्रकार के निबंधों का प्रचलन हुआ। जैसा कि श्री गंगाबख्शसिंह ने लिखा है—'द्विवेदी-युग में हिन्दी निबंधों का क्रमिक विकास देखने को मिलता है; पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के साधारण पाठक के लिए लिखे गए निबंधों से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उच्चकोटि के विचारात्मक निबंध देखने को मिलते हैं। यदि द्विवेदी जी के निबंध बातों के संग्रह के रूप में देखने को मिलते हैं तो आचार्य शुक्ल के निबंधों में दार्शनिक की भाँति गूढ़ एवं सूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति मिलती है। पण्डित माधव प्रसाद मिश्र के सामान्य निबंधों की यदि एक ओर रचना हुई है तो दूसरी ओर वियोगी हरि, राय कृष्णदास के काव्यात्मक निबंधों के उदाहरण भी देखने को मिलते है।'[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि स्थायी और सामयिक तथा सामान्य और विशेष सभी प्रकार के विषयों पर निबंधों की रचनायें प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इस युग के निबंधकारों में मिलती है; क्योंकि द्विवेदी-युग के लेखकों ने जीवन और साहित्य के सभी क्षेत्रों से निबंधों के विषय चुने। अतएव यदि एक ओर राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक भावनाओं को निबंधों में प्रश्रय मिला तो दूसरी ओर विभिन्न साहित्यांगों की विवेचना करने के लिए भी निबंध लिखे गये और इस प्रकार लेखकों ने कभी तो मनोविज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म भावों पर निबंध प्रस्तुत किए तथा कभी भौतिक जगत के मूर्त पदार्थों को अपने निबंधों का विषय बनाया। द्विवेदी युग के उल्लेखनीय निबंध-लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, मिश्रबन्धु, सरदार पूर्णसिंह, गोपालराम गहमरी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बदरीनाथ भट्ट, कृष्णबिहारी मिश्र, बाबू श्यामसुन्दर दास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, रामदास गौड़, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, मन्नन द्विवेदी, वेंकटेशनारायण तिवारी, हरिऔध, रामचन्द्र शुक्ल, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, माधवराव सप्रे, पद्मसिंह शर्मा आदि।

[1] द्विवेदी-युगीन निबन्ध साहित्य—श्री गंगाबख्शसिंह (पृ० ३२-३३)

स्मरण रहे, द्विवेदी-युग के जिन उल्लेखनीय निबन्धकारों की तालिका हमने अभी-अभी दी है उनमें से कई ऐसे है जिन्होंने कि यद्यपि द्विवेदी-युग में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु वास्तव में वे द्विवेदी-युग और आधुनिक युग के मध्य एक कड़ी का कार्य करते है तथा उनकी प्रतिभा का परिष्कार इसी युग मे हुआ। आचार्य शुक्ल ऐसी महान प्रतिभाओं में से है जिनके कि हिन्दी निबन्ध-जगत में पदार्पण करने से निबन्ध साहित्य में एक प्रकार से नवजीवन सा आ गया और जो आधुनिक युग का निबन्ध साहित्य विषय तथा शैली की दृष्टि से अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गया है, उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हें ही है। वस्तुत. वर्तमान निबन्ध साहित्य विचार-प्रधान ही है और जिस प्रकार भारतेन्दु-युग के निबन्धों में एक उल्लास और भावात्मक विशेषता पाई जाती है तथा द्विवेदी-युगीन निबन्धों में सूचनात्मक ज्ञानवर्द्धकता एवं उपदेशात्मकता का पुट है। उसी प्रकार वर्तमान निबन्ध मुख्यतया आलोचनात्मक ही हैं और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समालोचना ही इन निबन्धों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य रूपों के निबन्ध नहीं देख पड़ते या उनका लिखना बन्द हो गया है, परन्तु बात यह है कि आजकल विचारात्मक और समालोचनात्मक निबन्धों की ही अधिकता है। जैसा कि डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है—'वर्तमान युग के प्रमुख निबन्ध-लेखकों के नाम ये है—राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, महाराज रघुवीरसिंह, सियारामशरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी ललिताप्रसाद सुकुल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, शिवपूजन सहाय, जैनेन्द्रकुमार, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, गुलाबराय, डा० भगवानदास, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, निराला, श्रीराम शर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी', डा० धीरेन्द्र वर्मा, रामविलास शर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, अज्ञेय, डा० नगेन्द्र, डा० देवराज, परशुराम चतुर्वेदी, विनयमोहन शर्मा, विद्यानिवास मिश्र, प्रभाकर माचवे, इलाचन्द्र जोशी, नामवरसिंह, डा० रघुवंश, धर्मवीर भारती, दुर्गाशंकर मिश्र, गंगाप्रसाद पांडेय आदि।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का निबन्ध साहित्य भी अन्य अङ्गों की भांति समृद्ध होता जा रहा है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि

---

[1] हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास— श्री रामबहोरी शुक्ल तथा डा० भगीरथ मिश्र (पृ० २५७)

उसकी सम्पन्नता के हेतु हमारे लेखकों को सामाजिक राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक विषयों की ओर भी अपनी प्रतिभा को गतिशील करना चाहिए।

प्रस्तुत सङ्कलन के सम्बन्ध में

जैसा कि अभी-अभी हम कह चुके है हमारे वर्तमान निबन्धकारों की रुचि सामाजिक और राजनीतिक विषयों की अपेक्षा आलोचनात्मक निबन्धों की ओर अधिक है और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे इस विषय में कुछ गहराई तक पहुंचे भी हैं। अतः इन पंक्तियों के लेखक को बहुत दिनों से एक ऐसे निबन्ध संग्रह की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी जिसमें कि शुक्लोत्तर निबन्धकारों के चुने हुए विचारात्मक निबंधों का सङ्कलन किया गया हो। यद्यपि हिन्दी में निबंध-संग्रहों की कोई कमी नहीं है और न केवल कई सुन्दर निबंध सङ्कलन प्रकाशित हो चुके हैं बल्कि आज दिन निबन्ध संग्रहों का प्रकाशन होता रहता है। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन संग्रहों का सम्पादन--प्रकाशन उनको पाठ्यपुस्तक बनाने के उद्देश्य से ही हुआ है। अतः वे सभी सङ्कीर्ण परिधि के अन्तर्गत ही आने योग्य हैं। मेरी अभिलाषा एक ऐसे निबन्ध सङ्कलन को प्रकाशित करवाने की थी जिसमें कि आचार्य शुक्ल के परवर्ती निबन्धकारों के विवेचनात्मक और अध्ययनपूर्ण निबन्ध सङ्कलित किये जाएं जिससे कि हम शुक्लोत्तर समीक्षा की प्रगति का आभास पा सकें। इसी उद्देश्य को सामने रख कर 'चिन्तनः मनन' को सम्पादित करने का प्रयास मैंने किया है। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि इस सङ्कलन में जिन लेखकों के निबंध संकलित है उन्हीं को केवल मैं शुक्लोत्तर समीक्षा के दीप-स्तम्भ नहीं मानता तथा मैं यह स्वीकार करता हूं कि अभी कुछ महत्वपूर्ण समीक्षकों के निबंध इस संकलन में जाने से रह गये हैं। परन्तु यह सब उनकी स्वीकृति विलम्ब से प्राप्त होने के कारण हुआ है अन्यथा उनका समावेश भी इस संग्रह में हो जाता। हाँ, इस संकलन के विषय में मैंने इतना ध्यान अवश्य रखा है कि निबंध वे ही चुने जायें जो कि लेखक के व्यापक अध्ययन और मनन के परिचायक हों तथा जिनका अनुशीलन कर हम किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक तथ्य या कृति के विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकें। साथ ही 'चिन्तनः मनन' में जो लेखकीय क्रम रखा गया है उसका अर्थ यह नहीं है कि सम्पादक किसी खास श्रेणी विभाजन की तुला पर उन्हें तोलना चाहता है अपितु वास्तविकता

यह है वह इन सभी निबंधकारों को वर्तमान निबंध साहित्य की एक सी उल्लेखनीय प्रतिभायें मानता है। इसके साथ-साथ यहां उनका परिचय देने की औपचारिकता भी जान-बूझ कर नहीं की गई, क्योंकि वे सभी विविध पत्र-पत्रिकाओं एवं स्वरचित कृतियों के माध्यम से हिंदी साहित्य में अपना स्थान बना चुके हैं, अतः उनका परिचय देना अनावश्यक सा समझा गया।

अंत में मैं प्रस्तुत पुस्तक में संकलित निबंधों के रचयिताओं के प्रति हृदय से आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझता हूं क्योंकि उन्होंने मुझे सहयोग देने के उद्देश्य से बिना किसी प्रकार का पारिश्रमिक लिए निबंध उद्धृत करने की अनुमति प्रदान करने की कृपा की है। यों भी सम्पादक को इन निबंधकारों का सर्वदा ही स्नेह प्राप्त होता रहा है और वह कभी भी उन्हें अपने से विलग नहीं समझ पाया। अतः अपने को ही पुनः पुनः धन्यवाद देना युक्ति संगत भी नहीं है। सम्पादक के प्रूफ न देखने के कारण पुस्तक में बहुत सी प्रूफ की अशुद्धियां रह गई हैं जिनके लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनों क्षमा-प्रार्थी हैं। विशेष रूप से डा० भगीरथ मिश्र तथा डा० ओमप्रकाश से तो हमें अधिक क्षमा मांगनी चाहिए क्यों कि प्रेस की अनुत्तरदायित्वता के कारण उनका नाम ही गलत छप गया। बंधुवर श्री राधाकृष्ण शुक्ल, कुमारी कुमुदबाला मिश्र, श्रीमती राजेश्वरी शर्मा, श्री शिवशंकर मिश्र तथा श्री ब्रह्मनारायण शर्मा 'विकल' को भी यहाँ धन्यवाद देना आवश्यक है, जिन्होंने कि विभिन्न रूपों में लेखक को अपना सहयोग दिया है। इसी प्रकार साहित्य सदन देहरादून के व्यवस्थापक श्री सुरेन्द्रनाथ का भी मैं आभारी हूँ क्योंकि यदि वे आत्मीय भाव से पुनः पुनः प्रेरित न करते तो सम्भवतः यह निबंध-संग्रह इतनी जल्दी प्रकाशित न हो पाता।

प्रिंसिपल; एन० कालेज
भारतीय विद्यापीठ
चौक, गढ़ा पीढ़ खाँ
लखनऊ

—दुर्गाशंकर मिश्र

अनुक्रम

साहित्य की प्रेरणा

कविता-पाठ समाप्त करके ज्यों ही कवि ने अपना स्थान ग्रहण किया, रस विमुग्ध सुन्दरी बोल उठी—'इन कविताओं की प्रेरणा तुमको कहाँ से मिलती है, कवि ?'

कवि ने सुन्दरी के आर्द्र-आयत नयनों की ओर एक बार दृष्टि उठाई। फिर चुप हो गया। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद सुन्दरी ने प्रश्न को फिर से दुहराया।

इस बार कवि सुन्दरी के नेत्रों में दृष्टि गड़ाये उनकी ओर तब तक देखता रहा जब तक कि उसकी आँखें पूर्णतः वाष्प-धूमिल न हो गईं, लेकिन मुँह से बोला कुछ भी नहीं।

सुन्दरी का कौतूहल और उत्कंठा अब और भी बढ़ गई। उसने तीसरी बार फिर उत्तर के लिए आग्रह किया। इस मधुर आग्रह को कवि अब और न टाल सका। बोला 'सुन्दरी, उत्तर तो तुम्हें मेरी इन आँखों ने दे ही दिया। लेकिन शायद तुम उसे समझीं नहीं। सो सुनो : अभी तुमने देखा कि तुम्हारी आँखों को देखते देखते मेरे मन के गहन स्तरों में सोई हुई वासना रूप पीड़ा एक साथ द्रवित होकर आँखों में आगई—मेरी कविता के स्फुरण की ठीक यही कहानी है। सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के संचित

अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात आनन्द और अभाव की पीड़ा, दोनों का संयोग अनिवार्य है—अभाव की पीड़ा में जब मुझे माधुर्य की अनुभूति होने लगती है तभी मेरे मानस से कविता की उद्‌भूति होती है—केवल आनन्द या केवल पीड़ा कविता की सृष्टि नहीं कर सकती। मैं बस इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक जानने की इच्छा हो तो (सामने बैठे श्वेतजटाश्मश्रु आचार्य की ओर संकेत करते हुए कहा) गुरुदेव की शरण लो।'

सुन्दरी की जिज्ञासा अभी पूर्णतः शान्त नहीं हो पाई थी, निदान उसने आचार्य की ओर जिज्ञासु दृष्टि से देखा।

आचार्य ने ईषत् हास्य के साथ कहना शुरू किया: 'कवि ने स्वयं अपनी प्रेरणा की जितनी सुन्दर व्याख्या की है उतनी मेरी शक्ति से बाहर है, परन्तु मैं समझता हूँ कि शायद कवि की कविता के बाद तुम्हें आचार्य के गद्य की भी आवश्यकता है। अच्छा सुनो, हमारे शास्त्र में काव्य की प्रेरणा का सीधा व्याख्यान नहीं मिलता। यह तो नहीं माना जा सकता कि भारतीय साहित्यकार उससे सर्वथा अपरिचित था। उदाहरण के लिए, कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध यह जन-श्रुति ही इसका अकाट्य-प्रमाण है:

'यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम्।'

इसमें काम-मोहित अवस्था में क्रौञ्च के वध से उत्पन्न करुणा की प्रेरणा स्वीकृत की गई है—साधारण वध से उत्पन्न करुणा की नहीं—अर्थात् इस करुणा में काम का अन्तर्सूत्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा साहित्य-कार यह जानता था कि करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म होता है। परन्तु फिर भी वैधानिक रूप से भारतीय साहित्य-शास्त्र में केवल काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु की ही चर्चा है। इन दोनों के विवेचन में से ही हमें प्रेरणा विषयक संकेत ढूंढने होंगे।

काव्य के मुख्य प्रयोजन दो हैं: श्रोता या पाठक के लिए प्रीति और कवि के लिए कीर्ति:

'प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबंधनम्।'

प्रीति का अर्थ आनन्द है, जीवन में रस, और श्रोता के लिए यही मुख्य है।

कवि के लिए यश और अर्थ और इसके साथ ही शिवेतर का क्षय भी काव्य प्रेरणा का कार्य करता है। इसमें शिवेतर का क्षय तो आज

के बेचारे कवि के लिए संभव नहीं है। यह सुनकर कि 'गंगालहरी' की रचना से संस्कृत के पंडितराज जगन्नाथ और हिंदी के पद्माकर का कोढ़ ठीक हो गया था, हमारे एक मित्र ने काफी मनोयोग से अपनी प्रेमिका को पाने के लिए काव्य रचना की, परन्तु आखिर उन्हें अदालत की कार्य-वाही काव्य-रचना की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ी। अर्थ और यश से प्रेरित होकर आज भी लोग लिखते ही हैं, परन्तु ये दोनों तो बड़े उथले साधन हैं। किसी कवि को लिखने की साधारण प्रेरणा तो ये दे भी सकते हैं, परन्तु रस-सृष्टि करने की प्रेरणा इनमें कहां? यह ठीक है कि बिहारी जैसे कवियों को एक दोहे के लिए एक मुद्रा का वचन मिला हो, परन्तु मुद्रा की प्रेरणा केवल, दोहे की रचना मात्र के लिए ही उसको उत्सा-हित कर सकी होगी? यही यश के लिए भी कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि यश की प्रेरणा अर्थ की प्रेरणा की अपेक्षा सूक्ष्म और आन्तरिक है, परन्तु फिर भी यश की लालसा और रससृजन की प्रवृत्ति दोनों का तादात्म्य कर देना सर्वथा असंगत होगा। काव्य-प्रयोजन के उपरान्त काव्य-हेतु में प्रेरणा की व्याख्या खोजने से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। काव्य के जो तीन हेतु सर्वमान्य हैं---शक्ति, निपुणता और अभ्यास---इनके व्याख्यान में भी संस्कृत के आचार्यों ने प्रेरणा का विवेचन लगभग नहीं के बराबर ही किया है। शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। भामह और भट्टतौत आदि इसे प्रतिभा कहते हैं—अभिनव गुप्त प्रज्ञा। इन तीनों में भी प्रतिभा मुख्य है। प्रतिभा को नवनवोन्मेष शालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा कहा गया है और स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा मन का वह जन्मान्तर्गत संस्कार विशेष है जिसके द्वारा कवि अपने वर्ण्य विषय में अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन करके सशक्त शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। निपुणता या व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिए कवि का अनुभव और ज्ञान आदि विस्तृत होना चाहिए—उसके लिए शास्त्र, कला, नीति काम, इतिहास, राजनीति आदि की अपेक्षा होती है। अभ्यास से तात्पर्य है रचना-अभ्यास का—अलंकार, छन्द, साहित्यशास्त्र के अनुशीलन और प्रयोग का। शास्त्रीय विवेचन से परिणाम वास्तव में यह निकलता है कि हमारे आचार्यों के अनुसार कवि एक व्युत्पन्न प्रतिभावान व्यक्ति है और उसका कर्म है जीवन के क्षेत्र में से रागात्मक तत्वों को संचित करके उनको इस प्रकार संघटित करना कि संघटित होते ही उनमें आप-से-आप रस का संचार हो जाए, जिस प्रकार भूतवादियों के मतानुसार जीव-सृष्टि में होता है। यह कवि-कर्म के बाह्य

रूप की व्याख्या है, क्रिया में संलग्न कवि के मानस का विश्लेषण नहीं है।

संस्कृत शास्त्र के तत्त्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रसग्राही पाठक की मनः स्थिति का विश्लेषण करने में किया है उसका एक सूक्ष्मांश भी रस-सर्जक के मनोविश्लेषण पर खर्च नहीं किया। उसने यह तो बड़ी सफाई से ढूंढ निकाला कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का अभिनय या मानसिक चित्र देखकर सहृदय के मन में स्थित वासना रूप रति उद्‌बुद्ध होकर रस में परिणत हो जाती है, परन्तु इसके आगे एक दूसरे महत्व-पूर्ण तथ्य का विश्लेषण उसने विशेष रूप से नहीं किया कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का इतना सशक्त और तीव्र चित्रण जो सहृदय की वासना को उद्‌बुद्ध करके रस-रूप में परिणत कर सके, कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है। यहां उसको काव्य-प्रेरणा का मौलिक विवेचन करने की आवश्यकता पड़ती और वह निश्चित ही कवि के व्यक्तित्व में उसे ढूंढ निकालता। उसके लिए इस परिणाम पर पहुँच जाना कठिन नहीं था कि ऐसा करने के लिए कवि को भी उसी मानसिक स्थिति में से गुजरना आवश्यक है—और वास्तव में भट्टतौत ने तो कहा भी था कि 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः', परन्तु विधान रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया गया। बस यहीं वह चूक गया और स्थूलतः प्रतिभा-निपुणता आदि में इस प्रश्न का अकाट्य समाधान पाकर अपने विवेचन को अधूरा छोड़ गया और इसका एक बहुत बड़ा कारण था—वह यह कि भारतीय परम्परा अखण्ड रूप से काव्य के केवल निर्वैयक्तिक रूप को ही मानती रही—यदि ऐसा न होता तो भट्ट नायक या अभिनव जैसे अतलदर्शी तत्त्वज्ञों के लिए यह समस्या विशेष जटिल नहीं थी।

पश्चिम में काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान, दोनों में साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति विषयक चर्चा मिलती है। पहले साहित्य-शास्त्र के पण्डितों के सिद्धांतों को लीजिए। वहां के आदि आचार्य अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा कहा है। उनका कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता आदि की भाषा, व्यवहार आदि का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करती है, वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य रचना की भी प्रेरणा देती है। यह बहुत ही आरम्भिक विचार था और आज इसको प्रायः कोई नहीं स्वीकार करता। साहित्य या कला अनुकरण मात्र नहीं है, आनन्द पूर्ण सृजन है।

दूसरा सिद्धान्त मानव के जन्मजात सौंदर्य-प्रेम को, उसकी आत्मप्रदर्शन

और अनुकरण प्रवृत्ति को साहित्य की मूल प्रेरणा मानता है। मानव-आत्मा ज्ञान के चिर-सौंदर्य से उद्भाषित है, उसी को वह विभिन्न रूप में व्यक्त करती रहती है, जिनमें सबसे प्रत्यक्ष और सहज रूप है—साहित्य एवं कला। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा में आनन्द का जो स्रोत आविर्भूत होता है उसी का उच्छलन कविता है। काव्य-प्रेरणा का यह रहस्यात्मक सिद्धान्त पूर्व और पश्चिम में अत्यन्त लोकप्रिय और मान्य रहा है। विदेश में हीगेल का नाम इसके साथ सम्बद्ध है।

तीसरा प्रमुख सिद्धान्त है क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, जिसके अनुसार काव्य शुद्ध सहजानुभूति है। संसार में आकर मानव अपने से बाहर जगत की सहजानुभूति प्राप्त करने के लिए अर्थात जगत के संसर्ग से मन में उत्पन्न होने वाली अरूप अंकुलियों को रूप देने के लिए जितने प्रयत्न करता है काव्य या कला उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उसके द्वारा ही मानव आत्मा को अनात्म की भव्यतम सहजानुभूति होती है। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है कि मानव मन में जगत के नाना पदार्थों के प्रतिक्रिया रूप अनेक छाया-चित्र घूमते रहते हैं, अनुभूति के कुछ विशेष क्षणों में उनको अभिव्यक्त करना उसके स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य हो जाता है। अभिव्यक्ति की यही अनिवार्यता काव्य या कला की जननी है। साहित्य को सृजन की आवश्यकता मानने वाला सिद्धान्त इसी मूल सिद्धान्त की एक शाखा मात्र है।

काव्यशास्त्रियों के ये सिद्धान्त बहुत कुछ संगत और सूक्ष्मान्वेषी होते हुए भी आत्यन्तिक नहीं हैं। वे एकदम मूल तक नहीं पहुँच पाते। यों कहिए कि वे सभी मूल से एक संस्थान आगे से चलते हैं। धुर-मूल तक पहुँचने के लिए हमें मनोवैज्ञानिकों की शरण लेनी होगी।

सबसे प्रथम सिद्धान्त फ्रायड का है। वह कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार काव्य और स्वप्न का एक ही मूल है: हमारा अन्तर्मन, हमारी अतृप्त काम वासना, जो स्वप्न के छायाचित्रों का सृजन करती है, वही काव्य के भी भाव-चित्रों की जननी है। सिद्धान्त इस प्रकार है कि हमारी वासना को यदि प्रत्यक्ष जीवन में तृप्ति नहीं मिलती तो वह अन्तर्मन में जाकर पड़ जाती है और फिर ऐसी अवस्था में जबकि हमारा चेतन मन जागरूक नहीं होता, वह अपने को परितृप्त करने का प्रयत्न करती है। यह अवस्था या तो स्वप्न की अचेतनावस्था है या काव्य-सृजन की अर्धचेतनावस्था—तन्मयता की अवस्था है।

काम के दमन से स्वभाव में जो ग्रन्थियाँ पड़ जाती है, उनमें सबसे मुख्य है मातृरति की ग्रन्थि, जो न केवल स्वप्न और काव्य के अनेक स्थायी प्रतीको की वरन् जीवन की अनेक प्रवृत्तियों की भी जननी है। प्रांटोरैंक का कथन है कि ससार के साहित्य में जो मूल कथाएं है उनका आधार-सम्बन्ध इसी ग्रन्थि के विभिन्न रूपों से है। पूर्व और पश्चिम के पुराणों में तो स्थान-स्थान पर इसकी स्पष्ट स्वीकृति है ही —जैसे, ब्रह्मा और उसकी कन्या की कहानी में। प्रसिद्ध कलाकार लियो नार्दो द विंची का मनोविश्लेषण करने में फ्रायड ने उसके शैशव की ऐसी ही एक फैण्टेसी को अधिक महत्व दिया है। विञ्ची ने अपने बचपन की एक विचित्र काल्पनिक धारणा का उल्लेख किया है। उसके मन में कुछ ऐसी धारणा बंध गई थी कि एक बार जब वह पालने में लेटा हुआ था कि एक गिद्ध आकर उसके पास बैठ गया और अपनी पूँछ को बार-बार उसके मुँह में डालने-निकालने लगा। इस कल्पना के आधार पर अपने प्रतीक सिद्धान्त के द्वारा फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला कि उसकी वासना समकामिकता में अभिव्यक्त हुई थी और उसका प्रेम प्रेरक नहीं प्रेरित था। इस प्रवृत्ति का मूल कारण यह था कि पिता के अभाव में उसकी मातृ-रति अत्यन्त जाग्रत हो गई थी जो उसे किसी भी स्त्री की ओर आकर्षित नहीं होने देती थी। 'मोनालीसा' के चित्र में वह इसी मातृ-रति की अभिव्यक्ति देखता है।

फ्रायड का यह सिद्धान्त उसके जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रखता है—वह तो काम को जीवन की ही मूल प्रेरणा मानता है। काम का अस्वस्थ दमन जीवन की विनाशात्मक क्रियाओं में और उनका स्वस्थ सस्कार जीवन की रचनात्मक संस्थाओं में अभिव्यक्त हो रहा है। मानव के सौन्दर्य-प्रेम का उसकी कामवृत्ति से और हमारी सौन्दर्य भावना का हमारी प्रीति से, सहज सम्बन्ध है।

स्वस्थ रूप में, काम का उपयोग न करके जब उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है; और अस्वस्थ रूप में, जैसा मैंने अभी कहा, काम अभुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती भाव-चित्रों की सृष्टि करता है। साहित्यशास्त्र का दूसरा सौन्दर्य प्रेम को काव्य की मूल प्रेरणा स्वीकार करने वाला सिद्धान्त बहुत कुछ इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आ जाता है।

फ्रायड का समसामयिक और शिष्य एडलर, जो मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानता है, साहित्य के

मूल कीटाणु क्षति-पूर्ति की कामना में खोजता है। उसके अनुसार समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है : जो हमें जीवन में अप्राप्त है, उसी को हम कल्पना में खोजते हैं। जीवन की क्षणिकता, जीवन के अशिव और उसकी कुरूपताओं से हार मानकर ही तो मान्त्र कवि ने सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना की थी। वास्तव में हमारा आदर्श हमारी हीनता का ही तो प्रतिक्रिया रूप है। जीवन में त्रिविध दु:ख की अनिवार्यता ही ब्रह्मानन्द कल्पना की जननी है। सामयिक जीवन में गो-ब्राह्मण का हनन करने वाले मुसलमानों के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने 'गो-ब्राह्मण-प्रति-पालक दुष्ट दलन' राम की कल्पना की थी। प्रत्यक्ष जीवन में सौन्दर्य-उपभोग से वंचित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौन्दर्य के चित्र आंके। पलायन का चिरपरिचित सिद्धान्त इसी का एक प्रस्फुटन है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को आंशिक सत्य मानते हुए तीसरे मनो-विज्ञानी युग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव के सम्पूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए ही होते हैं। पुत्र, वित्त और लोक की ऐषणाएं जीवनेच्छा की ही शाखाएं हैं। साहित्य भी इसी उद्देश्य पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक प्रयत्न है। जीवन अथवा अपने अस्तित्व-जीवन की गति को अक्षुण्ण रखने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहें। वैसे तो हमारी सभी क्रियाएं हमारी प्राण-चेतना की ही अभिव्यक्तियां है, परन्तु साहित्य उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आंतरिक इस प्रकार साहित्य-शास्त्र का अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त युग के सिद्धान्त में ही अंतर्भूत हो जाता है।'

इतना कहकर आचार्य मौन हो गए।

'पौरस्त्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन सुनकर मैं धन्य हो गई महाराज !' सुन्दरी ने अपनी सहज कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा।

'परन्तु तुम्हारी आंखों के प्रश्नवाचक संकेत तो अब भी कह रहे हैं कि जिज्ञासा अभी अशेष नहीं हुई और तुम अभी मेरा मन्तव्य सुनना चाहती हो।'

'गुरुदेव ने मेरा आशय ठीक ही समझा है।' सुन्दरी ने उत्तर दिया।

'अच्छा मेरा अपना मन्तव्य सुनो। बस तो मैं तुमसे पहले ही कह दूं कि मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धान्तों से पृथक उसका अस्तित्व नहीं है और न हो ही सकता है। मैं जीवन को

अहं का जगत से या आत्म का अनात्म से, संघर्ष मानता हूँ। इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानस रूप की अभिव्यक्ति है। मानस रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस रूप धारण करते-करते अपना दंशन खो देती है। मैंने भी कविता लिखी है—मैं जब स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने से पूछता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ, तो इसका उत्तर यही पाता हूँ कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है; और मेरा यह व्यक्तित्व मेरे राग-द्वेषों का, जिनमें से अधिकांश कामचेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। मेरे इन राग-द्वेषों में भी उन्हीं को अभिव्यक्त करने की उत्कट आवश्यकता होती है जिनका सम्बन्ध अभाव से है, क्योंकि अभाव में पुकारने की शक्ति होती है, पूर्ति में शान्त रहने की। इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूँ; और चूँकि आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।

'तो इसका अर्थ यह हुआ कि गुरुदेव, कि प्रत्येक व्यक्ति साहित्य की रचना करता है ?'

'हाँ' भी और 'नहीं' भी ! 'हाँ' इसलिए कि अपने जीवन के विशिष्ट क्षणों में प्रत्येक व्यक्ति अवश्य साहित्य की सृष्टि करता है, चाहे वह कोई स्थिर आकार धारण करके हमारे सामने न आय; और 'नहीं' इसलिए कि रूढ़ अर्थ में जिसे साहित्य कहते हैं वह साधारण व्यक्तित्व की साधारण अभिव्यक्ति नहीं है, विशेष व्यक्ति की विशिष्ट अभिव्यक्ति ही है। विशिष्ट व्यक्तित्व का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसके राग-द्वेष असाधारण रूप से तीव्र हों—इतने तीव्र हों कि उसके आत्मा और अनात्म के बीच होने वाला संघर्ष असाधारणतः प्रखर हो। ऐसा ही व्यक्ति प्रतिभावान् कहलाता है—जिस व्यक्ति के अहं और वातावरण में या प्रवृत्ति और कर्तव्य में अथवा फ्रायड की शब्दावली में अन्तश्चेतन और निरीक्षक चेतन के बीच जितना ही उत्कट संघर्ष होगा उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रखर होगी और उतनी ही प्रखर उसकी सृजन की प्रेरणा भी !'

इस प्रकार संक्षेप में मेरे निष्कर्ष यह हैं :—

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होने

वाले आत्मा और अनात्मा के संघर्ष से ही उद्‌भूत होती है। कहीं बाहर से जान-बूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूंकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है।'

अध्यक्ष : हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डा० नगेन्द्र

जीवन और साहित्य

साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन से है। साहित्यकार शून्य में रचना नहीं करता। जगत की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना वह रह नहीं सकता, इसीलिए कि वह स्वयं जगत का ही एक अंग है। लेखक के ऊपर निरन्तर परिस्थितियाँ अपना प्रभाव डालती रहती हैं। लेखक यदि उनसे बचने का प्रयत्न करे तो भी नहीं बच सकता और न वह यही कह सकता है कि मैं अपनी घड़ी के अनुसार इतने बजे से लेकर इतने बजे तक अपने चारों ओर की परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करूंगा और उसके बाद नहीं। लेखक चाहे या न चाहे परिस्थितियाँ उस पर प्रभाव डालेंगी ही। जीवन में जो प्रक्रियायें हो रही हैं, साहित्यकार में उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसीलिए मेरे मत में 'स्वांतः सुखाय' रचना असम्भव है। जब हम यह कहते हैं कि तुलसी का साहित्य 'स्वांतः सुखाय' रचा गया है तो वहां पर हमें तनिक रुककर विचार करना चाहिए कि वहाँ 'स्वांतः सुखाय' से हमारा क्या प्रयोजन है? तुलसी ने जिस समय यह घोषणा की कि मैं 'स्वांतः सुखाय' रचना कर रहा हूँ, उस समय हिन्दी के रीतिकालीन कवि किसी न किसी के राज्याश्रित होकर जीवन-यापन कर रहे थे। वे राज्याश्रित शृंगारी कवि अपनी जनता से विलग होकर थोड़े से व्यक्तियों के

मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करने में संलग्न थे। वे 'परांतः सुखाय' रचना कर रहे थे। उनका लक्ष्य अपने संरक्षक राजा को प्रसन्न करना होता था; उनकी प्रतिभा पर व्यक्ति की पसन्द का प्रतिबन्ध होता था। 'बिहारी सतसई' की भाँति फिरदौसी का 'शाहनामा' भी 'परांतः सुखाय' रचा गया है। भांडों या विदूषकों की भाँति ये रीतिकालीन कवि दिन रात इसी चिंता में रहते थे कि किन नानाविध प्रकारों से अपने संरक्षक को प्रसन्न करके उनका कृपाभाजन बना जाय। जिस समय साहित्य का वातावरण इतना दूषित हो रहा था, उस समय तुलसी ने उदात्त स्वर में घोषणा की कि मेरी रचना 'स्वांतः सुखाय' है। तुलसी के सामने समस्त हिंदू समाज था। समस्त हिंदू समाज के पुनर्जागरण और उसके दोषों के मार्जन तथा सुधार का लक्ष्य तुलसी के सामने था। इसीलिए समस्त हिन्दू समाज के लिए साहित्य-रचना ही उनका उद्देश्य था। वे किसी के राज्याश्रित नहीं थे, किसी का उन पर प्रतिबन्ध नहीं था; वे किसी को खुश करने या इनाम पाने के लिए रचना नहीं करते थे। इस भूमिका में रख कर देखने पर उनके 'स्वांतः सुखाय' का वास्तविक महत्व समझ में आता है। वह उनके स्वतन्त्र होने की, राज्याश्रय से मुक्त होने की, अपने विश्वास के अनुसार रचना करने की घोषणा है और इस रूप में उसे क्रान्तिकारी कहना भी अनुचित न होगा। उनका 'स्वांतः सुखाय' 'परांतः सुखाय' का निषेध करता है, 'परजन-हिताय' का नहीं। साहित्य-निर्माण के समय हमारे साहित्यिकों को भी यह बात स्मरण रखनी चाहिए।

समाज का प्रभाव साहित्यकार पर न पड़े, यह असम्भव है। हाँ, साहित्यकार पलायन अवश्य कर सकता है, आंख बन्द कर सकता है, जैसा कि दरबारी कवियों ने किया। दरबारी कविता में समाज के प्रभाव से बचने का, उसको दबाने का प्रयत्न स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। दरबारी कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से समाज के प्रभाव को दबाने की कोशिश की। परन्तु इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि उच्च वर्ग वालों को आसमान पर चढ़ाते समय दरबारी कवियों के मन में ग्लानि अवश्य होती रही होगी। यह बात दूसरी है कि उन्होंने नशा पीकर ग़म गलत किया हो।

आज की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं। आज हमारे सामने एक राजा या महाराजा को प्रसन्न करने का प्रश्न नहीं है। आज हमारे सामने लाखों आदमी हैं; जिन्हें हमको अपनी बात सुनानी है। मैं साहित्य का पण्डित नहीं हूँ, साहित्य मेरा विषय नहीं है, लेकिन तो भी आजकल में

देखता हूँ कि 'नित्य' साहित्य की रचना का ही प्रश्न मुख्य है। क्या प्रेम, करुणा, वीरता, आदि 'नित्य' साहित्य की रचना के लिए उपयुक्त विषय नहीं है ? यदि ये उपयुक्त विषय है, तो यह कैसे हो सकता है कि आप इनका जिक्र तो करें, लेकिन इनके पात्रों को छोड़ दें ? पात्रों और परिस्थिति का ख्याल रखना जरूरी है, क्योंकि इनका ख्याल रखे बिना रस का उद्रेक नहीं हो सकता। कोरा शब्दाडम्बर टिकाऊ नहीं। इसके लिए आलम्बन तथा उद्दीपन शब्दोपयोगी साहित्य की रचना करना चाहते है तो आपको सोचना चाहिए कि आपके देशवासी किन परिस्थितियो में जीवन के दिन काट रहे है। साहित्यकार तो सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सहृदय संवेदनशील प्राणी होता है। व्यक्ति के, समाज के, दुःख-सुख की सबसे गहरी और व्यापक प्रतिक्रिया उसी के अन्दर होती है। इसलिए साहित्यकार का यह स्वाभाविक धर्म होता है कि अपने देश और काल की ठीक-ठीक परिस्थितियों का निर्भीक चित्रण करे। आज यदि किसी देश में चारों ओर महामारी का ताण्डव हो रहा है, यदि लाखों करोड़ों आदमी भूख से मर रहे हैं, यदि देश के जन-जन को पग-पग पर विदेशी दासता की ठोकरें मिल रही हैं, यदि देश दुःखी है और भूख, गुलामी और शोषण का अधिकार है और साहित्यकार इन सब क्लेशों की उपेक्षा करके मौज का राग अलापता है तो वह राष्ट्रीय जीवन से कोसों दूर है। वह राष्ट्र के प्रति, साहित्य के प्रति विश्वासघात करता है। उसे साहित्यकार कहलाने का अधिकार नहीं है। वह आकाश कुसुम देख सकता है, पर वह आंख का अन्धा है और राष्ट्र के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। साहित्यकार यदि सच्चा होगा तो उसकी रचना पर जगत की छाया अवश्य पड़ेगी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्यकार फोटोग्राफर है। साहित्यकार फोटोग्राफर मात्र नहीं है। यदि वह केवल फोटोग्राफर होगा, तो वह चाहे मिस मियो की भांति नाली की सफाई के दरोगा की रिपोर्ट भले ही पेश कर दे, पर उसका साहित्य साहित्य न होगा। यह उचित है कि साहित्यकार समाज का दोष जाने, परन्तु केवल उसी के यथार्थचित्रण से साहित्यकार का कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। जिस प्रकार वैद्य शरीर के विकारों को जानने के साथ साथ स्वास्थ्य के लक्षणों को भी जानता है, उसी प्रकार साहित्यकार को भी समाज के शरीर के विकारों को जानने के साथ साथ समाज के स्वास्थ्य के लक्षणों को भी जानना चाहिए। उसे स्वास्थ्य और रोग दोनों को जानना चाहिए। एक बात यहां पर स्मरण रखने की यह है कि साहित्यकार केवल

प्रचारक नहीं होता। किसी 'वाद' से बंधने पर वह अपने लक्ष्य से गिर जायगा। पर साहित्यकार प्रचारक नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी रचना की सामाजिक उपादेयता नहीं होती। हमारे प्राचीन संस्कृत के साहित्याचार्यों ने साहित्य क उपादेयता की आधार भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। 'काव्य प्रकाश' में काव्य के लक्षण गिनाते समय काव्य-प्रकाशकार ने 'शिवेतरक्षतये' को भी प्रतिपादित किया है। अशिव की क्षति साहित्य का बड़ा पुनीत अनुष्ठान है। अशिव की क्षति करना साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए। जो साहित्यकार ऐसा नहीं करता, उसे सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। अशिव की क्षति करने के साथ-साथ हमें समाज के रूप पर भी विचार करना चाहिए, अर्थात इस प्रश्न पर दासता और शोषण की अशिव शक्तियों के विनाश के उपरान्त मनुष्य किस ओर जाय, समाज किस ओर जाय।

योगी की भांति सच्चे कलाकार की पहचान भी ऋत और सत्य है। जिस बात को विद्वान तर्क के द्वारा देर में पाता है उसको कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा अपनी अन्तश्चेतना (intution) द्वारा जल्दी पा जाता है। कोई साहित्यकार राष्ट्र के लिए उपयोगी साहित्य का सृजन कर रहा है, इस बात की अकेली पहचान यह है कि साहित्यकार सत्य तथा राष्ट्रीयता को अपनी श्रद्धानुसार जिस रूप में ग्रहण करे, उसी रुप में निर्भयतापूर्वक व्यक्त करे, भागे नहीं। यदि वह ऐसा करता है तो बिना किसी 'वाद' का प्रचारक हुये उसका साहित्य राष्ट्रीय कहलाने का अधिकारी होगा।

डा० सम्पूर्णानन्द

मुख्य मन्त्री,
उत्तप्रदेश शासन

साहित्य और संगीत

वेदों और उपनिषदों में 'उद्गीथ' नामक एक शब्द का उल्लेख किया गया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में तो 'उद्गीथ' के महत्व पर प्रकाश भी डाला गया। 'उद्गीयते ह्युद्गीथः'—अर्थात् जो उच्च स्वर से गाया जाए। इस 'उद्गीथ' को ही सब का रस माना जाता है :

'एषां भूतानां पृथ्वी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः सामरसः साम्न उद्गीथो रसः।'

अर्थात् सब भूतों का रस पृथ्वी; पृथ्वी का रस जल; जल का रस औषधियाँ; औषधियों का रस पुरुष; पुरुष का रस वाणी, वाणी का रस ऋग्वेद; ऋग्वेद का रस सामवेद और सामवेद का रस उद्गीथ है। यों तो उद्गीथ का उपनिषदों में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है पर हम एक ही मंत्र यहां प्रस्तुत कर रहे हैं :

'अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवः ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।'

अर्थात् जितना कुछ गेय काव्य-साहित्य या संगीत है सब प्रणव ओंकार है, और जो कुछ ओंकार है, वह सब गेय है—अर्थात् गाने की वस्तु है। सृष्टि के प्रारंभ में इस प्रणव ओंकार का ही गान किया गया। ओ-ओ-म—यही संगीत उस कवि ने गाया। कवि शब्द 'कु' धातु से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ गीत गाना ही है। ईश्वर को भी कवि कहते हैं, क्योंकि उसने वेदों के मन्त्र ऋषियों के मानस में गा-गा कर सुनाए। काव्य और संगीत की उत्पत्ति इस प्रकार से वैदिक काल के पूर्व ही हो चुकी थी तथा वैदिक ग्रन्थों में तो उनका विकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के उषः सूक्त में काव्यत्व विशेष रूप से है तथा सामवेद में तो भारतीय संगीत पर अत्यधिक प्रकाश डाला गया है।

प्रसिद्ध कवि आल्फ्रेड आस्टिन का कथन है कि—'No verse which is unmusical or obscure can be regarded as poetry, whatever other qualities it may possess.' अर्थात् कविता में और चाहे कितने भी गुण क्यों न हों पर यदि वह संगीत विहीन और अर्थ की रमणीयता से रहित हो तो फिर वह कविता नहीं कहला सकती। इसी प्रकार एक विद्वान ने कहा कि—'Poetry is music in Words and music is poetry in sound.' अर्थात् कविता शब्दों के रूप में संगीत है और संगीत स्वर के रूप में कविता है। कविता और संगीत का वांछनीय

सम्बन्ध है। महाकवि मिल्टन जो कि स्वयं भी संगीत के बहुत बड़े प्रेमी थे, काव्य-कला और संगीत-कला को एक दूसरे की बहिन मानते थे। रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्—नामक उक्ति द्वारा यह अवश्य विदित होता है कि रमणीय अर्थ प्रतिपादित करनेवाले शब्दों को काव्य कहते है। पर उन शब्दों में रमणीयता का प्रादुर्भाव तभी हो सकता है जब कि उनमें संगीत की सी ध्वनि हो। संगीत की सहायता से प्रायः साहित्य के आभ्यांतरिक और बाह्य दोनों प्रकारों के सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। हमारा पुरातन काव्य-साहित्य गेय ही है। आयुर्वेद आदि ग्रन्थों में भी संगीत का व्यापक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। गीतिकाव्य का तो अर्थ यही है कि वह काव्य जो गाया जा सके। यों तो हिन्दी काव्य प्रायः गेय ही माना जाता है और काव्य तथा संगीत का सहज सामंजस्य ही गीति-काव्य कहलाता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—'गीतिकाव्य का यह लक्षण है कि उसमें व्यक्तिगत विचार भावोन्माद, आशा-निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। कवि के अन्तर्जगत के सभी विचार-व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्‌गार उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त होते है।' गीति-काव्य में काव्य और संगीत को बिलग नहीं किया जा सकता।

गीत प्रधानतः दो प्रकार के होते है। काव्यगीत और ग्रामगीत या लोकगीत। इन दोनों प्रकार के गीतों पर संगीत का व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक ग्रामगीत देखिए :

'आज सोहाग की राति चन्दा तुम उइहउ।
चन्दा तुद उइहउ, सुरुज जिनि उइहउ।
मोर हिरदा बिरस जिनि किहेउ मुरुग जिनि बोलेउ।
मोर छतिया बिहरि जिनि जाइ तु पह जिनि फाटेउ।
आज करहु बड़ि राति चंदा तुम उइहउ।
धीरे धीरे चलि मोरु सुरुज बिलम्ब अइहउ।

[आज सोहाग की रात है चन्द्रमा, तुम उदय होना। परन्तु हे सूर्य ! तुम मत उदय होना।

हे मुर्गे ! तुल मत बोलना; बोलकर मेरा हृदय विरस मत करना। पौ तुम मत फटना, क्योंकि तुम्हारे फटने से कहीं मेरी छाती न फट जाय।

हे चन्द्र ! आज की रात लम्बी करना और तुम अवश्य उदय होना, परन्तु हे मेरे सूर्य ! तुम धीरे धीरे चलकर देर से आना।]

प्रस्तुत ग्रामगीत संगीत के स्वरताल पर गाया जा सकता है।

आधुनिक गीति काव्य के रूपों पर लोकगीतों का बहुत प्रभाव पड़ा है। उत्तर प्रदेश में लावनी का अत्यंत प्रचार रहा और कव्वाली, कजली बिरहा आदि भी वहाँ के भिन्न-भिन्न भागो में प्रचलित रहे। लावनी का प्रभाव आधुनिक हिन्दी गीति काव्य पर भी विशेष रूप से पड़ा। एक उदाहर देखिए—

'वह सभा चतुर जो बिगड़े काम सुधारै,
जब तलक बने तब तलक न हिम्मत हारै। (टेक)
जो राजा को औ रैयत को दुख होवै
वह मंत्र बिछारै दोनों सुख को होवै,
मंत्री वन् है जिसमें यह पौरुख होवै,
सम अंग पलै जस मुखिया मुख ज्यों होवै।
सिद्धान्त में साधे, विवेक मंत्र बिचारै,
जब तलक बनै तक तलक न हिम्मत हारै।,

लावनी में पाँच पंक्तियों के पश्चात एक चरण की पुनरावृत्ति हुआ करती है। लावनी की ही भाँति कजली, दादरा आदि अन्य लोक-गीतों भी एक एक पंक्ति की पुनरावृत्ति हुआ करती है। यह पुनरावृत्ति आधुनिक गीतिकाव्य में भी स्वीकार की गई। 'शंकर' जी ने अपनी 'पंचपुकार' नामक कविता में इसी पुनरावृत्ति का प्रयोग किया है—

'किसी से कभी न हारूं। (टेक)
उर्दू की बेनुक्त इबारत लिख दूं बाबिल-बीद,
'बीनी खुद बुरीद' को पढ़ के बेटी देय जदीद';
चुनिंदा नक्श मुजारूँगा,
किसी से कभी न हारूंगा।'

शनैः शनैः ज्यों ज्यों आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का विकास होता गया छन्दों में नूतनता आती गई और संगीत की रूप रेखा भी परिवर्तित होती गई। प्रसाद जी ने तो अपने गीतिकाव्य में संगीत का संस्कृत (क्लासिकल) रूप प्रस्तुत किया है।* उनके नाटकीय गीतों में तो राग-रागनियों की भी योजना है।

काव्य में संगीत छन्दों की लय से एक भिन्न वस्तु मानी जाती है और गवैयों के गीतों से भी उसमें विभन्नता देख पड़ती है। 'निराला' जी का 'बादल राग' देखिए:

'झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !

राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।
झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में रव-घोर-कठोर—
राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर !'

इस कविता का संगीत कवि का अपना खास संगीत है। निराला जी ने लिखा भी है : 'रागरागनियों में भी स्वतन्त्रता ली गई है। भाव प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर विशेष लगाए गए हैं—उनका शुद्ध रूप मिश्रित हो गया है। यह भावप्रकाशन वाला बोध पश्चिमी संगीत के अनुसार है।' अपने संगीत के विषय में भी वे लिखते हैं : 'जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ताल प्रायः सभी प्रचलित हैं, प्राचीन ढंग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रंग पैदा करेंगी।'

श्री सुमित्रानन्दन पन्त तो शब्दों का चयन ही इस प्रकार से करते हैं कि पदों का अर्थ शब्दों के नाद द्वारा ही प्रतिध्वनित हो जाता है। देखिए :

'जगत् की शत-कातर-चीत्कार
बेधतीं बधिर ! तुम्हारे कान !
अश्रु स्रोतों की अगणित-धार
सींचती उर-पाषाण !
अरे क्षण क्षण सौ सौ निश्वास
छा रहे जगती का आकाश !
चतुर्दिक घहर-घहर आक्रान्ति,
ग्रस्त करती सुख शान्ति !'

गीतिकाव्य के अतिरिक्त काव्य के अन्य रूपों तथा अन्य छन्दों पर भी संगीत का प्रभाव पड़ता है। मालिनी को पीलू राग और सुरफाक्ता ताल पर तथा शार्दूलविक्रीड़ित छन्द को 'मारवा' राग और 'झँपा' ताल पर सरलता से गा सकते हैं। मन्दाक्रान्ता स्रग्धरा, वियोगिनी, वसन्ततिलका और भुजंगप्रयात आदि भी किसी न किसी राग और ताल पर गाए जा सकते हैं। यहीं तक नहीं ब्रजभाषा के घनाक्षरी छन्द भी निस्संकोच रूप से 'गेय' माने जा सकते हैं। रत्नाकर जी का निम्नांकित कवित्त आसानी से गाया

जा सकता है :

'नन्द औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभा सों मढ़ी,
मंजु मृगनैननि के गुन-गन गावती ॥
जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की,
बिपिन-विहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की,
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती ॥'

इस प्रकार कविता और संगीत का तो सम्बन्ध है ही, परन्तु गद्य में भी संगीतात्मकता आवश्यकीय है। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुसार गद्य ही कवियों के लिए कसौटी है; अर्थात् किसी भी लेखक की कुशलता उसकी गद्य शैली द्वारा ही जानी जा सकती है। 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है। परन्तु गद्य में भी सरसता का होना परमावश्यक है। काव्य तो सरस होना ही चाहिए पर गद्य में कहीं नीरसता न झलक पड़े इसका ध्यान प्रत्येक लेखक को रखना चाहिए। संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट का नाम अमर है। उनके गद्य में संगीत की ध्वनि रसोत्कर्ष, भाव प्रकाशन और कोमलकान्त पदावली आदि गुणों की बहुलता है। 'कादम्बरी' में गद्य का निखरा हुआ रूप दीख पड़ता है और बाणभट्ट को जो संस्कृत साहित्य में गद्यकाव्य का जन्मदाता माना जाता है वह कुछ अनुचित नहीं है। हिन्दी साहित्य में भी कई ऐसे लेखक हैं जिनकी भाषा में संगीतात्मकता है। यहां हम प्रेमचन्द जी की 'मुक्तिमार्ग' नामक कहानी से एक अवतरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें भावव्यंजकता, स्पष्टता, मधुरता, सरलता और प्रवाह के साथ-साथ लय तथा संगीत भी है। देखिए:

'अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत्त होकर शस्त्र प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह 'बुद्धू' था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए अग्नि राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बच कर, निकल आता था। अन्त में मानव-दल की

विजय हुई किन्तु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती।'

संगीत का नाटकों के भी साथ अभिन्न सम्बन्ध है बल्कि यह भी कह सकते है कि वह नाटक का एक प्रमुख अंग है। अरस्तू ने अपने 'पोएटिक्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में नाट्य रचना के नियमों का उल्लेख करते हुए नाटक में निम्नलिखित तत्व आवश्यक माने है — Fable (कथा) Characters (पात्र), Diction (शैली) Thought (भावप्रकाशन) Decoration (अलंकार) और Music (संगीत)। इस प्रकार अरस्तू ने संगीत को भी नाटक का आवश्यक तत्व माना है। संस्कृत नाटकों में तो संभाषण के मध्य कवित्वमय वातावरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से पद्यों का प्रयोग हुआ करता था। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने भी नाटकीय सौन्दर्य की वृद्धि के हेतु संगीत की सहायता ली थी। हिन्दी नाटकों में भी गीतों का प्रयोग होता रहा, यद्यपि प्रारम्भ में उनमें कवित्व का अभाव ही रहा। पारसी नाटकों में तो गानों का विशेष रूप से प्रचार था और उनके नाटकों में तो 'शकुन्तला' जैसी नायिकाएं 'पतली कमर बल खाय' जैसे वासनामूलक और कुरुचि उत्पादक गीत ही गाया करती थीं। हमारे कुछ प्रारम्भिक नाटकों में भी यह प्रभाव दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अवश्य इस दिशा में कुछ नवीनता लानी चाही, पर वे भी प्राचीन परम्परा के ही पोषक रहे और डा० श्रीकृष्ण लाल के शब्दानुसार 'हरिश्चन्द्र स्कूल के नाटककार मुक्तक पद्यों के द्वारा रीतिकालीन कविता का वातावरण उपस्थित करते थे परन्तु कुछ नाटककारों ने पद, ठुमरी, दादरा इत्यादि गानों का भी प्रयोग किया।' आगे चलकर श्री जयशंकर 'प्रसाद' तथा उनके समकालीन नाटककारों ने इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की और पद दादरा, ठुमरी की अपेक्षा हिन्दी गीतिकाव्य की नवीन प्रवृत्तियों के विकसित स्वरूप को प्रस्तुत किया। प्रसाद जी के नाटकीय गीत तो हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि है तथा उनके द्वारा यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में संगीत द्वारा नाटकीय सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होते-होते ही यूरोप में आधुनिक नाटकों का सूत्रपात हो चुका था और इब्सनवाद का प्रभाव पूर्ण रूप से छाया हुआ था। इब्सन का प्रभाव यूरोप में ही नहीं बल्कि भारतीय नाटककारों पर भी पड़ा है। इब्सनवादी नाटकों में संगीत को कोई विशेष स्थान नहीं दिया जाता, बल्कि आधुनिक पाश्चात्य नाट्य-शास्त्री तो नाटक के केवल कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और संवाद नामक तीन तत्व ही आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार इधर अब

हिन्दी नाटकों में गीतों को प्रयुक्त नहीं किया जाता, परन्तु पात्रों के सम्भाषण में प्रयुक्त होने वाली भाषा तो संगीतपूर्ण ही रहती है। श्री लक्ष्मीनारायण जी मिश्र के 'सिन्दूर की होली', 'मुक्ति का रहस्य' और 'राजयोग' नामक नाटकों में यह विशेषता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि साहित्य के सभी विभिन्न अंगों से संगीत का किसी न किसी रूप में सम्बन्ध अवश्य है और संगीत का जो महत्त्व स्वीकार किया जाता रहा है वह कुछ अयुक्तिपूर्ण नहीं है। परन्तु संगीत द्वारा केवल रमणीयता का आविर्भाव ही करना चाहिए। और यदि कहीं संगीत की बहुलता हो गई या उसी का प्रभाव कृतियों पर विशेष रूप से पड़ने लगा, तो फिर पाठकों को अरुचि ही होती है। महामुनि भरत ने 'नाट्य शास्त्र' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि 'रूपकों में गीत, वाद्य और नृत्य की बहुलता होने से स्वयं नटों को ही नहीं बल्कि दर्शकों को भी अरुचि हो जाती है; फलस्वरूप रस परिपाक न होने से रूपकों में कुछ भी आनन्द नहीं आता।' इसी प्रकार कविता को भी यदि संगीत की अनुगामिनी बना दिया जाता है तो फिर कवित्व का ह्रास ही होता है। अंग्रेजी कवि स्विनबर्न ने अपनी कविताओं को संगीत की अनुगामिनी बना दिया है अतः उनमें भावों की वह सुघरता दृष्टिगोचर नहीं होती। संगीत के सहयोग के बिना साहित्य सौन्दर्य की वृद्धि को जो असंभव माना जाता है उसके लिए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शब्दों की सहायता से कोई भी साहित्यकार भावों को सुन्दरतम रूप में व्यक्त कर सकता है। यदि संगीत किसी भाव को संकेत मात्र द्वारा ही प्रदर्शित करता है और केवल बाह्य जगत के चित्रण में ही विशेष समर्थता दिखा सकता है तो साहित्य बाह्य और आभ्यान्तरिक दोनों प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण कर सकता है। साथ ही साहित्य क्षेत्र संगीत की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत है।

इतना होते हुए भी वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला, और काव्यकला, नामक पांचों कलाओं में अन्तिम दो ही श्रेष्ठतम मानी जाती हैं तथा संगीत को तो विशेष महत्व दिया जाता है। संगीत कला का एक बड़ा सुन्दर, पर सबसे सूक्ष्म और दार्शनिक रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य और संगीत दोनों का अपनी अपनी दृष्टि में विशेष महत्व है तथा जैसा कि राजर्षि भर्तृहरि ने लिखा है कि जो प्राणी साहित्य और संगीतकला से विहीन है—अर्थात् जिसे साहित्य और संगीतकला का ज्ञान

नहीं है—वह बिना सींग और पूंछ के पशु के समान है, यह उचित ही है। देखिए:

'साहित्य—संगीत –कला विहीन:
साक्षात्पशु: पुच्छविषाणहीन:
तृण न खादन्नपि जीवमान—
स्तद्भागधेयं परम पशूनाम् ॥'

दुर्गाशंकर मिश्र

काव्यशास्त्र की भूमिका

: १ :

मैं यहाँ जिस विषय के प्रतिपादन के लिए सम्प्रति प्रस्तुत हुआ हूँ, वह महाकाश को घट की सीमा में समेट लेने जैसी चेष्टा होने पर भी, चेष्टा मात्र होने के कारण, असाधारण अपराध नहीं हो सकता।

मैं ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम कर्म मानता हूँ, और कर्म को अपना धर्म अथवा अधिकार।

प्रस्तावित विराट् विषय की सूक्ष्म सत्ता अनादि तक हो सकती है और अभिव्यक्ति भी अनन्त; किन्तु मेरी मर्य्यादा वर्तमान विकास तक ही स्वेच्छया स्वीकृत है। यह जो वर्तमान प्रति क्षण अतीत की ओर सिमटता और भविष्य की ओर फैलता जाता है, उसे मैंने संकेत के लिए लक्ष्य किया है।

इस 'काव्यशास्त्र' नाम की कल्पना मेरी सर्वथा अपनी है। कभी यह 'नाट्यशास्त्र' कभी 'अलंकारशास्त्र' और कभी 'रीतिशास्त्र', 'साहित्य-शास्त्र' आदि नामों से अभिहित हुआ है। निश्चय ही 'काव्यशास्त्र' पूर्वोक्त सभी नामों से अधिक निर्दोष और प्रांजल है।

'नाट्य' काव्य के भूगोल का एक गोलार्द्ध है। 'अलंकार' उसका एक

देश है। रीति मध्ययुग की भावनात्मक सौन्दर्याभिव्यक्ति के सांचे के अर्थ में रूढ़-सी हो चली है—'रीतियुग' इतिहास में प्रमुखता प्राप्त कर चुका है। और, 'साहित्य' शब्द जब से 'लिटरेचर' के पर्याय के रूप में प्रचलित हुआ है, अपनी सीमाओं का सम्यक् निर्देश करने में अपने को तत्पर नहीं पाता। 'काव्यशास्त्र' नाम अनैतिहासिक होकर भी अपने 'भूगोल' की व्यापक प्रतिष्ठा में अक्षम नहीं है।

फिर सबसे बड़ी बात यह है कि 'काव्य-शास्त्र' नाम सबसे सीधा और सादा है। सीधा इसलिए कि उच्चारण के अव्यवहृत उत्तरकाल में वह अपना वक्तव्य विषय सुस्पष्ट कर देता है। और सादा इसलिए कि उसे ऋजु-प्रकृति होने के कारण लक्षणा अथवा व्यञ्जना की शक्ति से अपना अस्तित्व नहीं निर्धारित करना पड़ता। मैं इतनी सुविधा का अकारण परि-त्याग नहीं कर सका।

वैसे तो इस शास्त्र का चरम उद्देश्य कदाचित रस है और तदनुसार इसे 'रसशास्त्र' भी कहा जा सकता है; किन्तु शास्त्रीय परम्परा में यह 'रस' एक विशिष्ट वाद अथवा सिद्धान्त के रूप में उपस्थापित हुआ है और इसके समशीर्ष होने की स्पर्द्धा के साथ अन्यान्य वाद या मत आये हैं, अतः काव्यशास्त्र' इन सारी चुनौतियों को अधिक धीरज से सह सकने योग्य प्रतीत होता है।

मैं रुचि का तर्क अनावश्यक समझता हूँ। तटस्थ विचार-धारा में वैयक्तिक रुचि को बह जाने देना मुझे कायरपन जैसा नहीं अनुभूत होता।

एक बात और है। 'विश्वनाथ' ने रस को काव्य की आत्मा माना है। यहाँ आत्मा से पहले शरीर को भलीभाँति समझ लिए बिना नहीं चल सकता। यह शुद्ध आध्यात्मिक शास्त्र तो है नहीं। यहाँ शरीर गौण नहीं, आत्मा की अभिव्यक्ति समर्थतम साधन है। निर्गुण निराकार रस काव्य की सीमा से बाहर का—अद्वैत वेदान्त का—विषय है। यहाँ वह सगुण साकार हुए बिना अनुभूति का विषय नहीं बन पाता। अतएव रस 'मन-बानी को अगम-अगोचर' अनुभूति का विषय हो सकता है; किन्तु अभिव्यक्ति तो रूप का ही दूसरा नाम है। काव्य इसीलिए रूपो-पासना है।

काव्य अनुभूति की निर्मलता ही नहीं, उसकी अभिव्यक्ति की रंगीनी भी है; भावना की रसात्मक ऋजुता ही नहीं, प्रकाशन की अलंकृत वक्रता भी है।

मैं समझता हूँ, 'काव्यशास्त्र' इस गौरव को सहज ही वहन कर सकता है। यह काव्य के भीतर-बाहर के—सम्पूर्णता के विवेचन का पता बताता है न !

संस्कृत में 'काव्य-शास्त्र-विनोदेन' पर्य्याप्त प्रसिद्ध है। निश्चय ही, वहाँ उसका दूसरा अर्थ है। व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करूँ तो वहाँ द्वन्द्व समास है, तत्पुरुष नहीं। अर्थात् वहाँ काव्य और शास्त्र—दो तुल्यबल पृथक्-पृथक् विषय हैं। काव्य (सौन्दर्य्यात्मक अनुभूति) और शास्त्र (तात्त्विक चिन्तन), दो प्रकार के व्यक्तियों अधिकारियों) या एक ही व्यक्ति की (कालिक क्रम से दो प्रकार की मनःस्थितियों को अनुरंजित करते है, उस सूक्ति का यह अभिप्राय है। यहाँ की बात और है। यहाँ काव्य और शास्त्र—दो नहीं है, न काव्य ही शास्त्र है। यह तो काव्य का शास्त्र है,—कविता की शास्त्रीय विवेचना, यह (काव्य—शास्त्र) और है।

२

संस्कृत में इस विवेचन की सुदीर्घ परम्परा है। दो हज़ार वर्षों तक इस पर ऊहापोह होता रहा है; काट-छाँट होती रही है। अवश्य ही उसमें शक्ति का अपव्यय नहीं हुआ है।

एक की मान्यता को दूसरे ने दुहराने की कदाचित् ही भूल की हो। और तब मौलिक अनुसन्धानों का ताँता बंधता चला गया है। विभिन्न कसौटियों पर घिस-घिसाकर काव्य का असली सुनहला व्यक्तित्व निखर गया है। मैं इस प्रबन्ध में इस सम्बन्ध के उन सारे मतों का संग्रह मात्र ही न प्रस्तुत कर सकूँगा, प्रत्युत मेरे मनन-मुकुर पर उस सम्पूर्ण आलोचन-विवेचन की जैसी परछाईं पड़ी है; मेरे मन-प्राणों में वे तर्क-समाधान जहाँ तक संक्रान्त हो सके हैं—उस समष्टि की चर्वणा का उद्गार ही यहाँ प्रकट हो सकेगा।

मेरे मन की बात अन्तिम नहीं भी हो सकती है और वैज्ञानिक प्रणाली का अनुसरण भी आवश्यक प्रतीत होता है; अतः प्रत्येक विषय का विवेचन आदिम अवस्था से प्रारम्भ हो कर चढ़ाव-उतार, विकास-ह्रास का इतिहास बरसाता हुआ मुझ तक पहुँचता है। मुझे यह क्रम रोचक लगता है और तभी यह काव्य का शास्त्र, उसका निरा व्याकरण बनने से बच भी सकता है।

एक बात सब से अधिक लक्ष्य की है कि संस्कृत भाषा के माध्यम

से इस विषय पर अन्तिम विवेचन भले ही सत्रहवीं शताब्दी में समाप्त हो; पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगङ्गाधर' भले ही इस चिन्तन-मनन की चरम परिणति हो;—(ऐसा कह कर परवर्ती विवेचकों के साथ न्याय नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह क्रम अब भी सर्वथा भग्न नहीं हुआ है)—किन्तु लोक-भाषा में तो इसका नित्य-नित्य पल्लवन होता ही चला गया है। मेरी दृष्टि का जहाँ तक प्रसार संभव है, मैं उस चिन्तामणि की भी उपेक्षा के पक्ष में नहीं हूं।

विशेष कर उन्नीसवीं शताब्दी से भावसंक्रान्ति का प्रारम्भ हो जाता है। इस समय तक पूर्व-पश्चिम का आदान-प्रदान खुल कर होने लगता है और 'विशुद्ध' भारतीय उज्ज्वल दृष्टिकोण में पश्चिम की सुवर्ण-वर्ण आभा भी आ मिलती है। उस युग की साहित्यिक संक्रांति को केवल रवीन्द्रनाथ के माध्यम से भी पूर्णावस्था में ही प्राप्त किया जा सकता है। रवीन्द्र कवीन्द्र ही न थे, उन्होंने तो रूढ़ि की पाषाण-कारा तोड़ कर साहित्य की वह उन्मद, उच्छल भाव-धारा प्रवाहित की कि जो अपने रस-प्रवाह की प्रखरता से कालिदास-कालिक संजीवनी स्फूर्ति, मार्ग के अंचलों को डहाती हुई, जीवन के शुष्क समतल पर फिर से बहा लाई।

दो हजार वर्षों तक रूप-सृष्टि की एक-सी पुनरावृत्ति जैसे कुरूपता सिरजने लग गई थी। आलङ्कारिकों के मत-मतान्तर शास्त्रार्थ के कण्टक-वन को पुरवैया हवा की भांति झकझोर कर छोड़ देते थे। जीवन की नव-नव अनुभूतियां अपने आवेग को पथराए सांचे के सहारे प्रकट करने में असमर्थ हो चुकी थीं। निर्माताओं की मौलिकता; घड़ा देख कर हंडा या प्याला देख कर ढक्कन बनाने तक ही विकसित हो पाती थी। ऐसे समय रवीन्द्र पश्चिम के सजग जीवन से नवीन प्रेरणा प्राप्त कर एक ओर अतुल काव्य-निर्माण और दूसरी ओर सौन्दर्य-प्राण अभिनव विवेचन-प्रणाली द्वारा प्राचीन और नवीन काव्य का नये सिरे से रसास्वादन कराने में भी समर्थ हुए। उन्होंने रस को मनोविज्ञान और पाश्चात्य को पौरस्त्य संस्कृति से सम्पृक्त कर काव्य-कला एवं काव्यालोचन को एक नवीन ही ज्योति से जगमगा दिया—सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को अनुप्राणित करने वाली उनकी इस देन को छोड़ देने पर काव्य-शताब्दी अधूरा ही रह जायगा।

इसी प्रकार रीति-युग के फंदे से निकाल कर, बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी, तुलसी और सूर की आलोचनाओं, चिन्तामणि के निबन्धों तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास के द्वारा

हिन्दी में जो वैज्ञानिक काव्यालोचन-पद्धति प्रवर्त्तित की, जिसका विकास आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि में देखा जा सकता है, और जो अज्ञेय, माचवे, नलिन विलोचन शर्मा आदि पाश्चात्य-साहित्य-पारगतों की विवेचनाओं से, पश्चिम के प्रत्येक समाहृत, प्रतिनिधि मत-वाद के तुलनात्मक अनुशीलनों से, नित नई भंगिमाओं में, नई-नई उमंग से प्रवाहित होती जा रही है, 'काव्य-शास्त्र' उसमें अवगाहन किए बिना पिष्टपेषण करने वाली चक्की का चङ्क्रमित निनाद मात्र रह जायगा, ऐसा उसके स्रष्टा का विश्वास है; क्योंकि उसके विवेक के अनुसार काव्य-शास्त्र काव्य की जीवंत भावधारा को मर्य्यादित करने वाला वह उदार कूल-किनारा है, जो अपनी चौड़ाई बढ़ाता हुआ उसके जीवनानुकूल आवेग को, परम्परा की दूर-दूर तक फैली कुलांचल-माला को आत्मसात् कर आगे—और आगे बढ़ चलने की शक्ति देता है ।

काव्यशास्त्र एक ऐसी मर्य्यादा का नाम हो सकता है जो अकाव्य से काव्य को पृथक करती हुई, उसकी श्रेणियों को विभाजन-वर्गीकरण की वैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा बोधगम्य बनाती हुई—उसके प्रवाह की प्रखरता के लिए दशों दिशाओं से बह कर आती हुई भाव-धारा को अपने ढंग से आत्मसात् कर, अनन्तसिन्धु तक कल-कल, छल-छल कर प्रवाहित होते रहने की क्षमता प्रदान करती है ।

काव्यशास्त्र किसी जाति, धर्म सम्प्रदाय या समाज के भीतर से जन्म ग्रहण करनेवाली काव्यात्मक भाव-राशि को अन्तःसम्बन्ध-सूत्रों में गूंथ कर विश्व-मानवता के गले का शृङ्गार-हार बना देता है; राष्ट्रीय आवेश तक से सङ्कुलित अन्तश्चेतना को विश्वात्मा से सम्पृक्त कर देता है, क्योंकि काव्य अपनी प्रकृति से सार्वदेशिक और सार्वकालिक है, कोई शास्त्र देश-काल की सीमाओं से बंध कर, सम्पूर्ण तथा तटस्थ दृष्टि से, उसे नहीं देख सकता । जो अपने स्वरूप से विराट् एवं महत है, उसे सँकुचित नियमों से क्षुद्र बना कर रखना शास्त्र का अनुष्ठान नहीं हो सकता । ऐसी दशा में 'भारतीय काव्य-शास्त्र' का अर्थ विश्वजनीन काव्यानन्द के उपभोग की योग्यता उत्पन्न करने वाला भारतवर्ष का सांस्कृतिक दृष्टिकोण मात्र ही समझा जाना चाहिए । प्रक्रिया की आत्यन्तिक, दैशिक शुद्धि का आग्रह उपभोग के लिए अनावश्यक है । मैंने देखा, विशुद्ध भारतीय काव्यालोचन का आलोक रसबोध के लिए कालिदास की शब्द शुद्धि मात्र, को निरखते-परखते बुझ जाता है; किन्तु अपेक्षाकृत सङ्क्रान्त रवीन्द्रनाथ

की तीव्र किरणों से कालिदास के काव्य का सहस्त्रदल अपनी पंखड़ी-पंखड़ी खोलता हुआ नव-नव परिमल से अन्तर्लोक के दिशाकाश को भर देता है। इतना ही नहीं, गेटे जैसा विदेशी साहित्यि जो उनकी सम्पूर्णता को वाणी देता है, वह भारत से पण्डित-राज तक सभी आलोचकों से अनास्वादित तथा अनालोचित था। आनन्द-आनन्द है, वह किसी भी एक देश की वैयक्तिक अनुभूति, अभिव्यक्ति अथवा विवेक-विमर्श से परिच्छिन्न नहीं हो सकता।

काव्यशास्त्र अन्धे की लाठी हो सकता है, पर वह आँखवालों के अन्तःकरण का परिष्कार भी है। ज्ञानदुर्गम घाटियों में वह पथ-प्रदर्शक बन सकता है, पर समतल पर चलनेवालों को वह आनन्द क्षितिज का संकेत भी है। कहते हैं, भारतीय काव्य-शास्त्र विश्लेषणात्मक[1] अधिक है, संश्लेषणात्मक[2] कम। अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर वह सितनिशित दृष्टि-पात करता है; किन्तु समष्टिगत चेतना को नहीं छूता। बात सर्वथा विपरीत है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य की अन्तश्चेतना के मूल तत्त्वरस का विवेचन करते हुए जिस समष्टिगत सूक्ष्मता का परिचय दिया है, वह अपनी मौलिकता में अद्वितीय है। उसे भाषान्तर से उपस्थित करना भी अशक्य-सा है। मनःशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करने की प्रक्रिया कदाचित इसीलिए त्रुटिपूर्ण रह जाती है। इसे मैंने अपनी भाषा में यों कहा है कि कैसी भी बेकली संजोने, छटपटाहट दरसाने पर, वह रस-विज्ञान नहीं बन सकता—

'रज देख सत्त्व के दर्शन का,
जाने कैसे अनुमान हुआ?
फल मिला तभी तम आँखें भर,
मानस रस कब विज्ञान हुआ? —'राधा'

१—विश्लेषणात्मक से मेरा तात्पर्य है—दोष-गुण-परीक्षण के कुछ सिद्धान्त बनाकर, तदनुसार किसी मुक्तक या प्रबन्धगत काव्य-खण्ड को लक्ष्य रूप में उपस्थित करना और उसी की बारीक छान-बीन करना।

२—संश्लेषणात्मक से मेरा अभिप्राय है, आधुनिक काव्य-समीक्षा के दो विशिष्ट लक्ष्यों, महत् तत्त्वों का सन्धान करना। वह हैं (क) किसी काव्य-कृति में उसके कलाकार की इतर-व्यावर्त्त की निजी विशेषताओं की खोजढूँढ और (ख) उसकी अभिव्यक्तियों के अन्तराल में निहित वृत्तियों या 'आन्तर प्रकृति' की गहरी छानबीन।

किन्तु इस 'मानस रस' को हमारा प्राच्य काव्यशास्त्र हृदयंगम कराने का बीड़ा बड़े उत्साह से उठाता रहा है।

कुछेक विद्वानों का विचार है कि संस्कृत का काव्यशास्त्र हिन्दी के आधुनिक आलोचनाशास्त्र से सर्वथा विभिन्न है। मैं इसे नहीं मानता, मैं ऋग्वेद की ऋचाओं में मार्क्सवाद नहीं ढूंढा करता। मेरा विश्वास है कि वह उसी बीजांकुर का पल्लव-ताम्र तारुण्य-तरु है। सातों सुर अनन्त राग-रागिनियां रही हैं, किन्तु अब तक आठवां स्वर नहीं सिरजा जा सका। वैज्ञानिक चमत्कार से बबूल की कटीली डालों में 'लंगड़ा' लटक सकता है; किन्तु स्वयं 'लंगड़ा' वैज्ञानिक आविष्कार नहीं है।'[1]

काव्य के विकास के साथ-साथ आलोचना की पद्धति में भी घुमाव या चढ़ाव-उतार आता गया है। मानवीय मनोभावों के विकास के साथ-साथ, काव्य का विकास होता आया है। ज्यों-ज्यों विज्ञान नित नूतन आविष्कारों से मानवमन का परिष्कार करता गया है, त्यों-त्यों ज्ञान की लब्धि या आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए नए-नए चमत्कारपूर्ण प्रयोग होते गए हैं। कभी बीज में वट और कभी वट में बीज वाली बात रही है। सूत्रों के बाद भाष्य का युग आता ही है। ऐसे ही स्थूल और सूक्ष्म का संघर्ष भी कालकृत होता है, स्वयं आनन्द कालातीत है और उसकी अभिव्यक्ति का अध्यवसाय भी अनादि है। मैं उसी देश-कालातीत को व्यष्टि एवं समष्टि के अन्तःकरण में उतार देने में काव्यशास्त्र को सहायक होते देखता हूं। इस विषय का विस्तृत विवेचन मैं यथास्थान करूंगा।

*'जान गिलक्राइस्ट' के प्रयत्नों से जब हिन्दी में गद्य का प्रवेश तथा प्रसार हुआ और वह क्रम-क्रम से प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म भाव को वहन एवं व्यक्त करने लगा तो स्वभावतः रीति युग के लक्षण-लक्ष्य की पद्धति विशद समीक्षा में बदल गई। इस युग के पौरस्त्य विवेचक पाश्चात्य शैली को अपना कर ही परम्परित विषयों के विशकलन में कृतकार्य्य हुए। किन्तु स्वयं शैली कोई तात्त्विक चिन्तन नहीं। तत्त्व-चिन्ता में भी तुलनात्मक

१—अथवा आधुनिक साहित्यालोचन को मौलिक पाश्चात्य उदभावना मान लेने पर भी भारतीय काव्य-धारा के विवेचन में हिन्दी-साहित्य में उसकी जैसी अवतारणा हुई है, उससे उसके तात्त्विक तथा शैली सम्बन्धी भेद तो स्पष्ट लक्षित होते ही हैं; पर ऐसा कुछ नहीं प्रतीत होता कि इससे मिलती-जुलती और कदाचित् इससे अधिक सूक्ष्म और गम्भीर

अनुसन्धान के अनन्तर क्रान्ति हुई; विकास किंवा विस्तार-प्रस्तार हुआ; किन्तु मैं 'मूल' को डाल-पात कह भी तो नहीं रहा।

'कामायनी' और 'तुलसीदास' 'पल्लविनी' और 'दीपशिखा' में नई नई अभिव्यञ्जनाओं का मेला-सा लगा हुआ है, और मम्मट भट्ट को सामने बैठा कर उन्हें यथारूप गले के नीचे उतार लेना दुष्कर भी अवश्य है। पर इसका कारण और कुछ नहीं, काल का व्यवधान मात्र है। मानवीय भावना-धारा का प्रवाह उपर्युक्त काव्यों में हजार वर्ष आगे की क्षिप्रता एवं तीव्रता से हर-हर करता हुआ बहता दीख पड़ता है और मम्मट भट्ट हजार वर्ष पीछे की साङ्केतिक भाषा में उसे प्राणों में बाँध लेने का मन्त्र भर बताते रहते हैं, जो आत्मसंयम के कारण शिथिल, निष्प्राण एवं अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण धुंधला या अस्पष्ट-सा लगता है। आचार्य शुक्ल जैसा समीक्षक जब उसे इस बहाव की बोली में बदल देता है, पश्चिमी समीर से आन्दोलित कर नए वातावरण में प्रसारित कर देता है, तो उसकी प्रेषणीयता बढ़ जाती है। उतने से भी अग्राह्य होने पर एक के बाद एक, नए-नए

विवेचन पद्धति संस्कृत के अलङ्कार शास्त्र की नहीं रही है। और केवल अर्थ, राजनीति, विज्ञान (भले ही वह मनोविज्ञान हो) आदि को लक्ष्य में रख कर किया हुआ काव्यार्थ-विवेचन गणेश की गजाकृति की व्याख्या के समान होगा, क्योंकि ये सारे दृष्टिकोण एकाङ्गी तो हैं ही जीवन की सम्पूर्णता की अनुभूति को संभवतः ग्राह्य भी नहीं समझते। पर वास्तविक विवेक को 'सम्पूर्णता' की उपलब्धि के लिये—

'पट लाख पड़ा रहे, तो भी अभेद के भेद को खोलना ही पड़ता है!' क्योंकि—one-sided and selfcomplacent specialists dull to all the serious phenomena of life —शास्त्री

२—वैसे तो श्री रामप्रसाद 'निरंजनी' और दौलतराम ने क्रमशः 'योगवाशिष्ठ' तथा 'जैन पद्म-पुराण' का अपेक्षाकृत अनुवद्ध गद्य में भाषानुवाद पचासेक वर्ष पहले ही प्रस्तुत कर दिया था और मुंशी सदासुख एवं इंशा अल्ला खां ने भी दो-एक वर्ष पूर्व ही—अंगरेजों की प्रेरणा प्राप्त किए बिना ही, अपनी-अपनी कृतियां खड़ी बोली तात्कालिक प्रशस्तर शैली में उपस्थित की थीं; किन्तु मैं यहां केवल व्यापक व्यवहार-प्रचार की दिशा में व्यवस्थित गद्य-साहित्य के निर्माण के लिए, सक्रिय योजना बनाने के कारण ही 'जान' का नाम ले रहा हूं। —शास्त्री

महारथी अपने-अपने युग के अनुरूप स्वरूप-विस्तार कर उस शाश्वत काव्य रस को पुनः पुनः उपभोग-योग्य बनाते जाते हैं। यह जो अतीत और भविष्य से वर्त्तमान की कड़ियां जोड़ते रहते हैं, वह परम्परा से टूटते नहीं, उसे लम्बा कर दीर्घायु ही बनाते हैं; किन्तु जो विश्वामित्री आग्रह से उल्टी गङ्गा बहाने को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं, मैं समझता हूं, एकाङ्गिता की कृशता उस धारा को रास्ते में ही सुखा देती है। हमारा अतीत प्राकृतिक लचीलेपन के कारण ही वर्त्तमान की ओर झुका हुआ और भविष्य से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उत्सुक है। तभी हम वर्त्तमान विस्तार का आदिम उद्गम जानने के लिए आज भी उद्ग्रीव हैं। हमने चोला नहीं बदला, बस, शैशव तारुण्य में और तारुण्य प्रौढ़ि में विवर्त्तित होता चला आ रहा है। कविवर बच्चन के शब्दों में—'जग बदलेगा किन्तु न जीवन !'

मानवता जीवित है, क्योंकि वह शैशव के सरल दिनों को नहीं भूली यौवन की रंगीनियां उसे अब भी गुदगुदाती रहती हैं और वह अपनी प्रौढ़ि की चिन्ताओं से जर्जर ही नहीं रहा करती। काव्य अमर है, क्योंकि मानवता की शिराओं में चिर-स्फूर्ति भर देने वाली बिजली, वह मस्तिष्क और हृदय के बादलों को टकरा टकरा कर पैदा करता रहता है।

यों मानवता के विकास में काव्य का कितना योग रहा है, यह स्वयं बतलाना 'काव्य शास्त्र' के लिए अनावश्यक भी हो सकता है।

चतुर्भुजस्थान,
मुजफ्फरपुर (बिहार)

जानकी वल्लभ शास्त्री

भारतीय साहित्यशास्त्र की रूप-रेखा

पाश्चात्य साहित्यालोचन की ही भांति भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा बड़ी पुरानी है; परन्तु वह अपने पश्चिमी प्रतियोगी की सी सुनिश्चित नहीं है। पश्चिमी समीक्षा प्रायः पच्चीस सौ वर्षों से निरन्तर विकसित होती आई है। यद्यपि उसका आरम्भ यूरोप के एक छोटे से प्रदेश में हुआ था। परन्तु क्रमशः उसका विस्तार समस्त योरोप और पश्चिमी संसार में हो गया। पाश्चात्य सभ्यता के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन भी विकसित होता गया है और उसकी अपनी एक इकाई बन गई है। आज जब हम पाश्चात्य साहित्यालोचन का नाम लेते हैं, तब वह सारी इकाई हमारे सामने आ जाती है, जो पश्चिम में निर्मित हुई थी। यह साहित्यालोचन यूरोप की राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर गया है और समस्त पश्चिमी संसार तथा अमरीका की वस्तु बन गया है। जिस तरह पश्चिमी देश क्रिश्चियन सभ्यता के नाम पर अपने को एक मानते हैं, उसी प्रकार पश्चिमी साहित्यालोचन भी, उक्त क्रिश्चियन सभ्यता की ही भांति सारे पश्चिमी राष्ट्रों की सम्पत्ति बन गया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसकी परम्परा अटूट मानी जाती है और विकासमूलक सिद्धान्त की दृष्टि से वह

चिर-विकासमान वस्तु के रूप में उपस्थित किया जाता है। पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षकों ने उक्त परम्परा का इतना सुन्दर और क्रमबद्ध विवरण दिया है कि आज जब हम उसे देखते है तब सचमुच वह पश्चिमी चेतना के विकास का इतिवृत्त-सा जान पड़ता है। भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा का आधुनिक विद्वानों ने इतना सुन्दर विवेचन नहीं किया है जिसके कि फलस्वरूप भारतीय-समीक्षा भी अपनी सुदृढ़ विकास मूलक भूमिका पर प्रतिष्ठित की जा सके। आज हमारे साहित्य की एक बड़ी आवश्यकता यह है कि हम भारतीय साहित्यालोचन के क्रम विकास को उसी वैज्ञानिक और विकासमूलक भित्ति पर स्थापित करें जिस पर पश्चात्य साहित्यालोचन स्थापित हो चुका है।

किसी भी देश की ज्ञान-राशि का सुव्यवस्थित विवरण भविष्य की सन्तान के लिए कितना उपयोगी होता है--यह हम पाश्चात्य साहित्यालोचन के उदाहरण से समझ सकते है। समीक्षा के विभिन्न सैद्धांतिक पक्षों को लेकर जो विवेचन आज तक पश्चिमी देशों में हो चुका है वह पश्चिम के प्रत्येक साहित्यिक अध्येता के लिए एक खुली पुस्तक है। उसे यह जानने में अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ता कि वहाँ की सैद्धांतिक समीक्षा किन दिशाओं में कितना विकास कर चुकी है और उसकी उपलब्धियाँ क्या है? नये शोधकों को भी इससे बड़ी सुविधा हो गई है। वे आज तक की स्थिति से पूर्णतः परिचित होकर आगामी अनुशीलन में सुगमता के साथ प्रवृत्त हो सकते है। उन्हें अंधेरे में भटकने की आवश्यकता नहीं, पड़ती। भारतवर्ष में अब तक यह स्थिति नहीं आ सकी है। यद्यपि हमारे देश में साहित्य-संबन्धी अनेकानेक सैद्धांतिक उद्भावनाएं हुई है, परन्तु आज के विद्यार्थी के सामने वे बिखरी हुई वस्तुओं के रूप में पड़ी हुई है। उनका सुव्यवस्थित और सापेक्ष अनुशीलन नहीं किया जा सका है। इसलिए जब हम आज भारतीय साहित्यालोचन की चर्चा करते हैं, तब हमारे सामने कोई ऐसा सम्पूर्ण चित्र नहीं आता जैसा पाश्चात्य समीक्षा के अध्येताओं के समक्ष आता है। इसका कारण यही है कि हमारी साहित्यिक परम्परा समृद्ध होती हुई भी सुगठित नहीं है। उसका सम्पूर्ण मूल्य हमारी वर्तमान सभ्यता नहीं उठा पाती। वस्तु का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संचय नहीं किया जा सका है।

किसी साहित्यिक या सांस्कृतिक परम्परा के सुसम्बद्ध होने का एक और भी लाभ होता है। हमारी ज्ञान-राशि जितनी दूर तक

बढ़ चुकी है उससे पीछे लौटने का भय नहीं रहता । पश्चिम के साहित्य शास्त्र का कोई विद्यार्थी जब तक इस सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को आत्मसात् नहीं कर लेता तब तक उसे नई दिशा में लेखनी उठाने का साहस नहीं होगा । इस प्रकार क्रमशः नये युगों और नई संतति को पूर्ववर्ती समस्त साहित्यिक चेतना उत्तराधिकार के रूप में मिल जाती है । ऐसी प्रौढ़ परम्परा ही भविष्य में नये ज्ञान और नवीन चिंतन के द्वार खोल सकती है और उस समृद्ध परम्परा का पूरा मूल्य उठाया जा सकता है । यूरोप में तथा पाश्चात्य देशों में यही हो रहा है । वहां साहित्य सम्बन्धी सम्पूर्ण नया चिन्तन प्राचीन पीठिका को साथ लेकर चलता है । इसीलिए वहां की साहित्य-सम्बन्धी नवीन उद्भावनाएं महत्वपूर्ण होती है और वे संसार के ज्ञान को आगे बढ़ाने में योग देती है। आज भारतीय विद्यार्थी के समक्ष इस प्रकार की सुविधा नहीं है अथवा नहीं के बराबर है । फलतः यहाँ हमें पश्चिम से आई हुई नवीन साहित्यिक निष्पत्तियों से काम लेना पड़ता है और हम अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति का पूरा उपयोग नहीं कर पाते । पिछले पचास वर्षों में भारतीय साहित्यालोचन को अपनी परम्परा से कितना मिला और पश्चिम के वादों और सिद्धान्तों का उस पर कितना प्रभाव पड़ा—इसकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि पश्चिम हमारे ऊपर कितनी तेजी से छा रहा है और हमारी अपनी ज्ञान-राशि किस हद तक उपेक्षित हो रही है ।

आये दिन हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी समीक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत जो शब्दावली प्रचलित हो रही है—क्या वह अधिकांश पश्चिमी नहीं है ? जो नये वाद और जो नई शैलियां हमारे साहित्य में स्थान पाती जा रही हैं, क्या वे वस्तुतः हमारी परम्परा के स्वाभाविक-विकास-क्रम में गृहीत हो सकी हैं ? यही नहीं, यूरोपीय अनुकरण के नाम पर जो सामग्रियाँ हमारे साहित्य में आ रही है क्या वे सब की सब हमारे समाज के अनुकूल हैं ? आज हमारे देश को क्या उन्हीं विचारों और जीवन दृष्टियों की आवश्यकता है जो नवीनता के नाम पर यूरोप में फैली हुई हैं । क्या हमारे नये साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियां भारतीय जनता के गले के नीचे उतर सकी हैं और क्या वह सम्पूर्ण द्रव्य हमारे लिए उपादेय बन सका है ? ये सब प्रश्न हैं जिनके प्रकाश में हमें अपनी साहित्यिक गतिविधि को देखना होगा । यहां जिस बात की चर्चा की जा रही है, वह यह है कि पाश्चात्य-साहित्यालोचन की परम्परा इतनी बलवती है कि वह पश्चिम में

तो अपना उत्तरोत्तर विकास कर ही रही है, पूर्वी देशों में भी उसका प्रसार होने लगा है और कदाचित बड़े कृत्रिम रूप में होने लगा है। यों तो ज्ञान देश और काल की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता, और वह सर्वत्र अखण्ड रूप में रहता है; परन्तु प्रत्येक देश और भू भाग की अपनी विशेषताएँ भी होती हैं जो उसकी इयत्ता को सूचित करती हैं और जिनका परित्याग वांछनीय नहीं होता।

पाश्चात्य साहित्यालोचन ठीक उसी मार्ग पर नहीं चला जिस मार्ग पर भारतीय समीक्षा चली है। अतएव आज जब हम दोनों को अपने समक्ष पाते हैं, तब सहसा यह निर्णय नहीं कर पाते कि इन दोनों शास्त्रीय पद्धतियों में कितनी समानता अथवा क्या अन्तर है? इसके लिए हमें पश्चिमी और भारतीय साहित्य-शास्त्र के सम्पूर्ण क्रम-विकास को देखना आवश्यक होगा तभी हम उनके सम्पूर्ण स्वरूप से अवगत हो सकेंगे और तभी भारतीय साहित्यालोचन के साथ पश्चिमी सिद्धान्तों की समानता और असमानता का भी परिचय प्राप्त कर सकेंगे। आज के साहित्यिक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि भारत और पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का सर्वांग स्वरूप उसके समक्ष रहे तभी वह तुलनात्मक दृष्टि से अपने देश की समीक्षा सम्बन्धी प्रगति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर सकेगा और तभी वह पूर्वी तथा पश्चिमी सैद्धान्तिक विकास को उचित भूमिका पर रख कर दोनों की परीक्षा कर सकेगा। इस समय जब हम ऐसे कार्य में प्रवृत्त होते हैं तथा पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक विकास-क्रम पर तो हमें अनेकानेक ग्रन्थ पढ़ने को मिल जाते हैं, पर भारतीय साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम को दिखाने वाली दो-चार पुस्तकें भी नहीं मिलतीं। सच पूछिए तो अब तक रीति, रस, अलंकार आदि विविध भारतीय मतों की रूपरेखा भी स्पष्ट नहीं की जा सकी; उनका पारस्परिक सम्बन्ध, उनका ऐतिहासिक क्रम-विकास तथा उनकी तुलनात्मक वस्तु-सम्पत्ति का निरूपण तो आगे की साधनाएँ हैं।

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में कार्यारंभ कर दिया है। अब वे केवल हमारी बराबरी कौन कर सकता है के भ्रामक वाक्य और अर्थहीन उपपत्ति तक सीमित न रहकर वास्तविक तथ्यों की खोज और संग्रह भी करने लगे हैं। निश्चय ही यह कार्य अतिशय परिश्रम-साध्य है और इसमें हमारी प्रगति धीरे-धीरे ही हो सकती है। वास्तव में यह सारा कार्य सम्पूर्ण भारतीय-शास्त्र को विकास-मूलक वैज्ञानिक भूमिका पर पहुँचा देने का है। इसे यदि हम एक पूरी पीढ़ी का

समय लेकर भी पूरा कर सकें तो कम नहीं है।

काव्य-शास्त्र का नव-निर्माण

बड़े ही गभीर रूप में यह बात कही जाती है कि भारत और पूर्व के देशों में सुव्यवस्थित कला-दर्शन का अभाव है और पूर्व की सौंदर्य-चेतना अभी भी अविकसित दशा में पड़ी है।[1] 'सौंदर्य-दर्शन' के अभाव के प्रमुख कारणों में से एक यह बतलाया गया है कि पूर्व पश्चिम की 'प्रगतिशील जातियों के जीवन' से अलग रहा है। पश्चिम के इतिहासकारों ने केवल साहित्य के ही नहीं, किन्तु काव्य-शास्त्र और सौंदर्य-शास्त्र के इतिहासों में भी पूर्वी देशों के सृजनात्मक और समीक्षात्मक साहित्यों का नगण्य विवरण दिया है।[2] तथाकथित विश्व-साहित्य और विश्व-कला-दर्शन की रूपरेखाओं में भी भारत और पूर्व की देन को या तो अत्यन्त स्वल्प स्थान मिला है या उसकी सम्पूर्ण उपेक्षा की गई है।[3] जिस समय से यूरोप ने राजनीतिक क्षेत्र में पूर्व पर आधिपत्य प्राप्त किया, तभी से ऐसी स्थिति चली आ रही है; और यद्यपि राजनीतिक आधिपत्य अब समाप्त हो चुका है या तेजी से होता जा रहा है, तथापि सांस्कृतिक और साहित्यिक धरातलों पर अब भी वही मनोवृत्ति बनी हुई है। 'विश्व व्यवस्था' की उपलब्धि के मार्ग में यह मनोवृत्ति अनेक रूपों में बाधक है। सर्वप्रथम, वह सत्य की प्राप्ति के प्रतिकूल और ज्ञान की विरोधक है। दूसरे, वह वस्तु-स्थिति का गलत चित्र प्रस्तुत करती है और सम्यक बोध का पथ रोक देती है, दृष्टि धुंधली और विकृत बनी रहती है, तथा मूल्यांकन पक्षपात पूर्ण और असंतुलित हो जाता है। तीसरे; उन देशों पर इसका प्रभाव घातक होता है जो इस प्रकार आक्रमित या तिरस्कृत होते है। उससे एक मूलभूत हीनता की भावना उत्पन्न होती है, और अनेक अस्वस्थ परिणाम होते हैं; आघातों का उत्तर प्रत्याघातों से और आरोपों का प्रत्यारोपों से दिया जाता है; इस प्रकार एक अंतहीन विवाद-चक्र की सृष्टि होती है, और निष्पक्ष दृष्टि से कुछ देख सकना प्रायः असंभव हो जाता है; राष्ट्रों और उनकी राष्ट्रीय संस्कृतियों के संगठित विकास एवं वस्तु के समन्वित ग्रहण के लिए कोई उपयुक्त मार्ग नहीं मिलता; तथा देश

१ देखिए, बर्नार्ड बोसांके की 'हिस्ट्री आफ इस्थेटिक' की भूमिका।

२ देखिए एलार्डिस निकॉल्स की 'वर्ल्ड ड्रामा' की भूमिका।

३ देखिए बर्नार्ड बोसांके की 'हिस्ट्री आफ इस्थेटिक' की भूमिका।

और देश एवं राष्ट्र की आध्यात्मिक दूरी बनी ही रहती है।

अपने पक्ष में हमें भी अपनी कमियाँ स्वीकार करनी चाहिएँ। अपने काव्यशास्त्र और उसके ऐतिहासिक विकास का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करने में हम अभी तक सफल नहीं हुए हैं। भिन्न ही परिस्थितियों में लिखे गए पुराने ग्रन्थ आधुनिक पाठक के लिये पूर्णतया अनुकूल नहीं रह गए हैं। उदाहरणार्थ भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के इतने संस्करण हुए हैं कि अपने वर्तमान स्वरूप में वह नाट्य-विज्ञान की अपेक्षा नाट्य-कला और रंग-मञ्च की कला के विषय में एक विधी-निर्देशक ग्रन्थ ही अधिक रह गया है। अन्यत्र हमें दार्शनिक और तत्त्वचिंतन की वस्तु विशुद्ध मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ मिश्रित रूप में प्राप्त होती है। बड़े धैर्य और परिश्रम से इन दोनों का पृथक्करण करना होगा। कुछ अत्यन्त सामान्य कोटि के तत्त्वों पर अंतहीन विवाद मिलता है और कुछ आधारभूत तत्त्वों के विषय में केवल सामान्य संकेत करके ही छोड़ दिया गया है। फलतः उन ग्रन्थों का स्वरूप बेडौल हो गया है। और यह आवश्यक है कि सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार पर उनकी पुनः रूप रचना की जाय। काव्य-शास्त्र के प्रायः समस्त प्रचलित ग्रन्थों में सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों का सम्मिश्रण है, परिणामस्वरूप विशुद्ध काव्य-सिद्धांत और रीति तथा व्याकरण के नियम पास-पास मिलते हैं। उनकी विभाजक रेखा इतनी लुप्त हो गई है और सम्पूर्ण चित्र ऐसा उलट-पलट गया है कि आधुनिक पाठक उसे पूर्णतया अगम्य, और यहाँ तक कि, निरर्थक भी पाता है। अंत में हमें यह भी याद रखना है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय, जैसे कि रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि अपने आरंभिक और मूल रूप में केवल काव्य-सिद्धान्त के विभिन्न पक्ष ही थे, न कि सम्पूर्ण काव्य-दर्शन के स्थानापन्न। परवर्ती काल में उनमें से प्रत्येक एक सम्पूर्ण सिद्धांत के रूप में विकसित हो गया और काव्य के समस्त विस्तार को घेरने का प्रयत्न करते हुए स्वयं उसकी 'आत्मा' बन गया। अंतिम परिणति के रूप में, एक ही पूर्ण के अन्तर्गत उनकी सामंजस्य स्थापना हुई और इस पुनर्निमित प्रासाद में उन्हें एक सुनिश्चित आकृति और रूप की प्राप्ति हुई। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय विकास और परिणति की इन अनेक स्थितियों से पार हुआ है और हमें सही पृष्ठ भूमि पर इन समस्त विकास-दशाओं के सूक्ष्मतम और सर्वांगीण तत्त्वों का अध्ययन करना है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की रूप-रचना को सुस्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिये। उसके विवेचन की विधि और शैली को भलीभांति समझ लेना आवश्यक है। इस निबन्ध में हम अधिक-से-अधिक एक आरंभिक रूपरेखा की प्रस्तावना ही कर सकते हैं। एक सीमान्त पर काव्य की प्रकृति और कार्य, जीवन और समाज में उसके स्थान और अन्य अनेक विषयों पर अनेक दार्शनिक व्याख्याएं प्राप्त होती हैं। ये एक प्रकार से काव्य शास्त्र की प्रस्तावनाएं हैं और इसी रूप में इन्हें समझना चाहिए। आगे चलकर हम 'रस' के ऊपर, जो कि भारतीय काव्य-शास्त्र का अन्तरंग 'सत्व' है, महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक और काव्य-तत्वीय विवेचन पाते हैं। इन विवेचनों में, सृष्टा कलाकार की अनुभूतियों और भावों, कल्पना के धरातल पर इन अनुभूतियों और भावों के उन्नयन और विकास और भाव विनियोग की शक्ति से व्युत्पन्न काव्य की सार्वजनीनता पर भी विचार किया गया है। वास्तव में रस के मनीषियों द्वारा काव्य के भाव विनियोग या आनन्द पक्ष पर इतने विस्तार पूर्वक ध्यान दिया गया है कि उसके अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में अन्य पक्ष उपेक्षित से हो गए हैं। कदाचित् इस प्रकार दोष के निराकरण के लिए अन्य सिद्धान्तों की अवतारणा हुई। उदाहरणार्थ अलंकार मत के प्रणेताओं के द्वारा काव्य के 'सौन्दर्य' पक्ष पर सुविस्तर रूप से विचार किया गया। अलंकार सामान्य रूप में वह काव्य-कल्पना है जो एक ओर कविता की सम्पूर्ण रूप योजना को समाविष्ट करती है और दूसरी ओर वह अलंकरण के कुछ विशिष्ट रूपों का निर्देश करती है। भामह ने अपनी अलंकार की परिभाषा में अलंकार को 'सौन्दर्य' का समानार्थी बना दिया है और इस प्रकार उसके व्यापक अर्थ की उत्कृष्ट व्यंजना की है। यह परम्परा मम्मट जैसे परवर्ती समीक्षकों तक चली आई है, जिन्होंने काव्य की परिभाषा करते हुए अलंकार के अधिक व्यापक मंतव्य को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखा है। यद्यपि अलंकार शीर्षक के अंतर्गत काव्य के कल्पना-पक्ष पर एकांत रूप से विचार नहीं किया गया है, फिर भी अलंकार सिद्धांत को काव्य समस्या की इस स्थिति के समकक्ष मान लेने में हानि नहीं दीखती।

इस रूपरेखा के साथ और आगे बढ़ते हुए हम काव्य के एक अन्य पक्ष या स्थिति तक पहुंचते हैं, जिसे 'अभिव्यंजना की स्थिति' कहा जा सकता है। इस पक्ष का विस्तृत विवेचन रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धांतों में किया गया है। जिस प्रकार काव्य में 'अभिव्यंजना' का एक व्यापक

और दूसरा सीमित अर्थ है, उसी प्रकार 'रीति' का भी है। अपने व्यापक अर्थ में रीति सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यंजना का द्योतक शब्द है और उसकी व्याप्ति लगभग उतनी ही है जितनी क्रोचे के इस सूत्र की कि 'अभिव्यंजना ही कला है।' यह एक रूप में काव्यशैली के सम्बन्ध में वाल्टर पेटर की व्यापक धारणा के समीप भी पहुंचता है, जिसमें वे यहाँ तक कह गये है कि 'शैली ही कला है।' संकीर्ण प्रयोगों में 'रीति' का अर्थ 'अभिव्यंजना का प्रकार' होता है, और विशेष अभिव्यक्ति के अन्तःवर्ती प्रमुख रस के अनुसार एवं कविता के बाह्य-रूप या शब्द शैली के आधार पर भी उसका वर्ग विभाजन किया जाता है। 'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि' सिद्धांतों में भी काव्य के अभिव्यंजना और—विनियोग पक्ष पर विचार किया गया है और—दोनों में इस समस्या के अध्ययन के लिए मूल्यवान सामग्री प्राप्त होती है।

इसके पश्चात् हम काव्य-सिद्धान्त के कुछ व्यावहारिक पक्षों की ओर आते है। इनमें काव्य के बहुसंख्यक गुणों और दोषों की व्याख्या का प्रसार है। विषय की इस स्थिति में कविता की प्रकृति-विशेष का निरूपण करने वाले तत्त्वों अर्थात् भाषा, शब्द, शैली और (अपने संकीर्ण अर्थ में) रीति से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न उठाए गए है। कठिनाई यह है कि समस्या के इन व्यावहारिक और विशिष्ट पक्षों को उपयुक्त धरातल पर स्थिर नहीं रखा गया है। प्रत्युत उन्हें रचना, छंद-शास्त्र और व्याकरण के क्षेत्र में लय कर दिया गया है। शब्द-शक्ति के विषय में लम्बे और रूढ़ विचार और वितर्क उपयोग में लाए गए हैं, जो वस्तुतः भाषा की समस्या से सम्बन्ध रखते हैं और जिनका सम्यक विनियोग काव्य-शास्त्र की समस्या के साथ नहीं हो पाया। काव्य-शास्त्र और भाषा-रचना की सीमा निर्धारित करने वाली रेखा का सम्यक् ज्ञान और स्थिरीकरण दोनों ही प्रयोजन-सिद्धि के लिए आवश्यक हैं।

अन्त में हम काव्य की 'रीति' या 'विधान पक्ष' पर पहुंचते हैं, जिसमें काव्य के बाह्य स्वरूप के विषय में अनेक विश्लिष्ट तत्त्वों की चर्चा प्राप्त होती है। नाटक और महाकाव्य के संगठन और अवयव, कथावस्तु का बहुसंख्यक संधियों, अर्थ-प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं में विभाजन, चरित्र के भेदों से सम्बन्ध रखने वाले नियम, संवाद के कला-पक्ष और साहित्य के विभिन्न रूपों इत्यादि के विषय में अतिशयिक मनोयोग और सूक्ष्मता के साथ चर्चा की गई है। भारतीय मस्तिष्क, विशेष रूप से जीवन की अपेक्षा

तर गतिहीन स्थितियों में विभाजन और वर्गीकरण की कला में अतुलनीय रहा है। किन्तु हमें यह जानना चाहिए कि इन वस्तुओं को काव्य-शास्त्र में क्या स्थान दिया जाय और किस प्रकार उन्हें सचमुच सार्थक बनाया जाय। यहीं हम प्रस्तावित रूप-रेखा की समाप्ति पर पहुँच जाते हैं।

किन्तु यहां एक दूसरी ही समस्या हमारे समक्ष उठ खड़ी होती है, जो कि अधिक गम्भीर है और जिसका समाधान और भी कठिन है। नव-निर्माण के इस कार्य में हमारा प्रयोजन कुछ आधारभूत तत्त्वों, सिद्धान्तों, काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायों से ही नहीं, प्रत्युत इतिहास के समस्त विकास-क्रम से है जिसने विभिन्न स्थितियों में विभिन्न तत्त्वों, सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का रूप-निर्णय, निर्माण और पुनर्निर्माण किया है, एवं उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई 'वस्तु' प्रदान की है। अतएव समस्या यह है कि काव्य-शास्त्र के सैद्धांतिक और ऐतिहासिक पक्षों की समानान्तर प्रगति का आकलन एक साथ कैसे किया जाय। यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक-विकास-क्रम के अनुरूप एक गतिमान पृष्ठभूमि पर ही यह चित्र खींचा जा सकता है। इतिहास की प्रगति के साथ महत्वपूर्ण और मूल्यवान विचारों के योग से काव्य-शास्त्र की अभिवृद्धि हुई है और बहुत सी प्राचीन विचारधाराओं के स्थान पर नए सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई है। पण्डित-मण्डली के अतीत अभिमत के द्वारा कुछ अत्यंत बहुमूल्य दृष्टिकोण स्वीकार हुए हैं और कुछ अन्य परित्यक्त। इतिहास के इन वस्तु पुंजों का हमें स्वतंत्र और वस्तुमूलक दृष्टिकोण से अध्ययन करना है। यह सच बात है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के अधिकांश व्याख्याकार परम्परागत दृष्टिकोण से ही चिपके हुए हैं और अपनी कृतियों में किसी प्रकार की मौलिकता लाने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है। कितने ही लेखकों ने 'मक्षिका-स्थाने-मक्षिका' के अनुसार चलना ही श्रेयस्कर समझा है और नवीन क्षेत्रों पर ध्यान देने—यहाँ तक कि विषय विवेचन की अधिक अच्छी विधि अपनाने—की चेष्टा भी नहीं की है।

काव्य-शास्त्र के आधुनिक इतिहासकारों के द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली दो प्रणालियां ध्यान देने योग्य हैं। प्रथमतः वे पृष्ठभूमि के रूप में सम्बन्धित युग विशेष की प्रमुख सामाजिक और सांस्कृतिक धाराओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं और दूसरे मुख्य विषय के साथ वे कला और साहित्य के क्षेत्र में होने वाले तत्कालीन सृजन-कार्यों का भी संक्षिप्त परिचय देते हैं। विवेचन को अधिक सजीव बनाने के अतिरिक्त ये पद्धतियाँ विवेचित वस्तु को यथार्थता भी प्रदान करती हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र

का नव-निर्मित इतिहास प्रस्तुत करने के लिए इस नवीन विधि का उपयोग सरलता से किया जा सकता है और उससे लाभ भी बहुत होगा।

अपने कार्य-क्षेत्र के विस्तार का केवल आभास देने के लिए हम अब कुछ प्रमुख साहित्यिक सिद्धान्तों के ऐतिहासिक विकास का एक प्रारम्भिक रेखा-चित्र निर्मित करने का प्रयास करेंगे। इन सिद्धान्तों की मुख्य प्रवृत्तियों में से केवल कुछ को ही स्वतंत्र रूप से लेंगे और उन प्रति-धाराओं को दिखाकर, जो ऐतिहासिक विकास-क्रम में उनके साथ अन्तर्गुम्फित हो गई है, उन प्रवृत्तियों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न हम नहीं करेंगे। इस कार्य में लगभग ढाई हजार वर्षों का समय तय करना है जो अनेक युगों में विभाजित है। प्रत्येक युग स्वयं अपने विशेषक सूचक तत्वों से समन्वित है। उदाहरण के लिए अपने उद्भव-काल से लेकर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के रूप में विकसित होने तक भारतीय काव्य-शास्त्र अपनी प्रारंभिक या निर्माण की स्थिति में था। इस युग में काव्य से सम्बद्ध वस्तुओं का व्यवस्थित नामकरण हुआ और काव्य के प्रधान तत्त्व खोज लिए गए। धर्म और अनुश्रुतियों के वेश में ही सही, काव्य और नाटक की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया। काव्य का सबसे अधिक मुग्ध करने वाला, और प्रमुख तत्त्व—अर्थात्-आनन्ददायी—'रस' खोज लिया गया और चिंतन का विषय बन गया। नाट्यशास्त्र में एक बड़ी संख्या में ऐसे विषयों और प्रसंगों का भी समावेश है जिन्हें बहुत बाद के समय का मानना चाहिए। विकास की दूसरी स्थिति भरतमुनि से अभिनवगुप्त तक के समय को घेरती है। उसे अन्वेषण और विदग्ध विवेचन का युग कहा जा सकता है। इस युग में केवल रस या काव्य-तत्व के समस्त पक्षों पर ही विभिन्न दृष्टिकोणों से गवेषणा नहीं की गई, प्रत्युत इन चेष्टाओं के फलस्वरूप एक काव्य दर्शन का सम्मुख आविर्भाव हुआ। तृतीय युग वह है जिसमें अनेक काव्य सम्बन्धी मत प्रवर्तित और प्रतिष्ठित हुए तथा उनके आधार पर अनेक काव्य सम्प्रदायों की स्थापना हुई। यह काव्य-तत्त्व चिन्तन का वास्तविक युग कहा जा सकता है। तिथियों की दृष्टि से यह युग एक सीमा तक उक्त द्वितीय युग के साथ-साथ चलता है और उसके पर्याप्त समय पश्चात् तक चलता रहता है। इसके बाद चतुर्थ युग की अवतारणा होती है, जिसे समन्वय का युग कह सकते है। यह कार्य लगभग दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के आस-पास मम्मट के द्वारा आरम्भ किया गया और सत्रहवीं शताब्दी में शाहजहाँ के समकालीन पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक बराबर

चलता रहा। वस्तु का व्यवस्थित निरुपण करने के अतिरिक्त इन पण्डितों ने वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन में भी बड़ी रुचि दिखाई, यह स्पष्ट है कि इन द्वितीय प्रकार के तत्त्वों को मुख्य स्थान नहीं दिया जा सकता। इन सबके बाद विघटन और विकलन का युग आता है जिसमें यत्र-तत्र नवीनता की कुछ किरणें छिटकती दिखाई देती है, किन्तु जिस शास्त्र का इतिहास, इतना लम्बा और परिणतियों से भरा हुआ है उसके लिए यह स्वाभाविक ही है। सबसे अन्त में आधुनिक युग आता है, जो मुख्य रूप से पुनरुत्थान और नव-जागरण के प्रकाश में प्रत्येक वस्तु का मूल्य पुनः अंकित करने का युग है।

रस सिद्धांत—इस प्रकार के किसी भी रेखा चित्र में हम रस-सिद्धान्त से ही आरम्भ कर सकते हैं। यह कहा गया है कि आरम्भ में रस या काव्यानन्द का सम्बन्ध विशुद्ध रूप से नाटक के ही साथ था, किन्तु भरत ने जिस रूप में उसका प्रतिपादन किया है उसे देखते हुए उसका मंतव्य कहीं अधिक व्यापक प्रतीत होता है। भरत मुनि ने रस के जिन उपकरणों का उल्लेख किया है वे विभाव अनुभाव और संचारी भाव है। ये शब्द प्रक्रिया और उनके साथ ही काव्य की भावाश्रयता को भी अभिहित करते हैं और उन्हें केवल नाट्य दर्शन से उद्भूत आनन्द तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। किन्तु परवर्ती सिद्धान्तकारों ने उनके अधिक व्यापक मंतव्य को सीमित बना दिया और रस को एक अधिक सुनिश्चित अर्थ प्रदान करने का प्रयत्न किया। कम से कम कुछ समय के लिए सृजन-प्रक्रिया की उपेक्षा की गई और सम्पूर्ण ध्यान केवल पुनर्सृष्टि की प्रक्रिया या दर्शक के भावना-व्यापार पर ही केन्द्रित हो गया। गम्भीर तत्व-चिंतन के लिए भूमिका निर्मित की गई, किन्तु उसके परिणामस्वरूप विशालतर दृष्टिकोण का आंशिक रूप से लोप भी हुआ। जीवन के साथ कवि का घनिष्ठ और प्रत्यक्ष सम्बन्ध, जिसके द्वारा ही उसे ऐसी सृष्टि करने की प्रेरणा मिलती है—जो आनन्द प्रदान करे, इन परवर्ती सिद्धान्तकारों के लिए रुचि का विषय नहीं रह गया। फलस्वरूप काव्य ने जीवन में अपना आधार खो दिया और रस केवल 'कावयात्मक' और 'कृत्रिम' बन गया। सम्भवतः यही वह समय है, जब काव्य के उच्चतर और अधिक बौद्धिक भावग्रहण के लिए किसी नए सिद्धान्त की आवश्यकता का अनुभव हुआ और इस प्रकार अलंकार, रीति, गुण तथा अन्य काव्य सिद्धांत प्रणीत हुए। साथ ही एक नवीन 'ध्वनि' सिद्धान्त का प्रणयन करके रस के प्रतिपादकों ने अपने कार्य-

क्षेत्र का विस्तार बढ़ाने का प्रयत्न किया। अलंकार, रीति, गुण और वक्रोक्ति-सिद्धान्त बहुत समय तक रस और ध्वनि-सिद्धान्तों की विरुद्ध दिशा में चलते रहे हैं, परन्तु आंतरिक असंगतियों के कारण एक ओर ध्वनि और रस तथा दूसरी ओर अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति के मत-समुच्चय अपना पृथक अस्तित्व स्थिर न रख सके और एक बृहत्तर समन्वय की लालसा में एक व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत पर्यवसित हो गए। यहाँ पहुँच कर प्रत्येक मत उक्त समन्वित सिद्धान्त का अंग बन गया और सबकी समाहित सत्ता एक सुचारु आकृति में परिणत हो गई। यह विशद समन्वय प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य मम्मट को प्राप्त है।

अलंकार मत—दण्डी और भामह दोनों ही अलंकार मत के अनुयायी थे। रस के स्वरूप और उपयोग से वे भलीभांति परिचित थे। किन्तु सम्भवतः वे रस को काव्य की आत्मा मानने को तैयार न थे। महा-काव्य के लक्षण निरूपित करते हुए भामह ने यह निर्देश अवश्य किया है कि महाकाव्य में विभिन्न रसों का प्रयोग किया जाना चाहिए, परन्तु रसों का इससे अधिक महत्व कदाचित उन्हें मान्य न था। काव्य की आत्मा वे अलकार या रचना के कल्पना-सौंदर्य को ही मानते थे। उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौंदर्य के अर्थ में किया है। स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति शब्दों द्वारा उन्होंने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका मत था कि अलंकार के मूल में वक्रोक्ति रहा करती है। वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य काव्यात्मक अभिव्यंजना से था। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन आचार्यों ने काव्य में अभिव्यंजना के सौंदर्य को ही प्रमुखता दी थी। उनके मतानुसार काव्य का सौंदर्य इतिवृत्त या साधारण वस्तु-कथन में नहीं होता। दंडी का मत है कि वक्रोक्ति ही किसी रचना को काव्य के गुणों से अलंकृत करने में समर्थ है। केवल साधारण कथन स्वभावोक्ति) तथा विवरण ही काव्य नहीं है। इन आचार्यों ने अलंकार की सीमा के अंतर्गत रसों को भी सन्निहित करने का प्रयत्न किया है। दोनों आचार्यों ने कुछ अलंकारों की उद्भावना की है, जिनके अंतर्गत रस की सत्ता भी सन्निहित हो गई। रसवत् एवं प्रेयस अलंकारों की उद्भावना रस को अलंकार के अंतर्गत लाने के लिए ही की गई जान पड़ती है।

अलंकार शब्द का दूसरा अर्थ कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ सम्बन्धी चमत्कार है। भामह के मतानुसार ऐसे अलंकारों की संख्या प्रायः चालीस थी। इन स्फुट अलंकारों का वर्गीकरण किसी स्पष्ट प्रणाली से

से नहीं किया गया है। समयानुक्रम से इनकी संख्या किस प्रकार बढ़ती गई, इसका कुछ आभास हमें भामह के विवरणों से प्राप्त होता है। परन्तु अलंकारों के विभाजन का कोई वैज्ञानिक प्रयास इन आचार्यों ने नहीं किया। इसका कारण कदाचित् यह था कि वे कल्पना-व्यापार से समुत्पन्न रूप-सृष्टि को ही अलंकार मानते थे।

'काव्यालंकार' नामक काव्य-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ में भामह ने अलंकार को काव्य की आत्मा कहा है। उनके अनुसार अलंकार वह है जिससे काव्य में सौन्दर्य की सत्ता प्रतिष्ठित होती है। 'सौंदर्य अलकारः' द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह ने अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौंदर्य के व्यापक अर्थ में किया है। उस समय तक गुण और अलंकार का भेद प्रस्फुटित नहीं हुआ था और भामह के अनुसार गुणों का समावेश भी अलंकारों के ही अन्तर्गत होता था। आगे आने वाले आचार्यों ने गुण और अलंकारों का पृथक्करण किया और उनकी विभाजक-रेखा इस प्रकार प्रस्थापित की कि 'गुण काव्य को काव्यत्व प्रदान करते है और अलंकार काव्यत्व की शोभावृद्धि के साधन हैं। दूसरे शब्दों में गुण को उन्होंने काव्य का अन्तरंग उपादान एवं अलंकार को बहिरंग उपादान माना, परन्तु भामह ने इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया। उसकी अलंकार-व्याख्या के अन्तर्गत काव्यत्व के प्रतिष्ठापक तथा शोभावर्द्धक दोनों ही उपकरण अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'सौंदर्यमलंकारः' की पूरी व्यापकता उनके निर्देशों में पाई जाती है।

भामह ने काव्य को अभिव्यक्ति की प्रणाली भी माना है। उसकी दृष्टि में समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति या विलक्षणता का तत्व रहता है। काव्य में अलंकार को सौंदर्य स्थानिक मानना अलंकारों का निर्माण करने वाली कल्पना की सत्ता की ही प्रतिष्ठा करना कहा जायगा। यह काव्य का अन्तरंग या निर्माण पक्ष है। उसका बहिरंग स्वरूप भामह के वक्रोक्ति निरूपण में दिखाई देता है। वक्रोक्ति में ही काव्यत्व है और वक्रोक्ति ही अलंकार के मूल में है—भामह का यह विचार था। वक्रोक्ति से भिन्न काव्य-शैली को स्वभावोक्ति कहा गया है; किन्तु भामह ने स्वभावोक्ति में काव्यत्व नहीं माना। आगे चलकर समयानुसार वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन हुए और वक्रोक्ति एक अलंकार मात्र रह गया, उसकी व्यापकता समाप्त हो गई। स्वभावोक्ति भी एक अलंकार के अतिरिक्त और कुछ न रहा। अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह

ने कथन की प्रणाली अथवा अभिव्यंजना-प्रकार का वक्रोक्ति नामकरण करके एवं समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति का निर्देश करके काव्य के रूप-पक्ष की विशेषता पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था । आचार्य दण्डी ने भी उसका कई रूपों में अनुमोदन किया है । भामह के विपरीत दण्डी अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल मानते थे, किन्तु इस संबंध में दोनों आचार्यों के सिद्धान्त अधिक भिन्न नहीं हैं । गुण-सम्प्रदाय की पृथकता आगे चलकर आचार्य वामन ने निरूपित की इस दृष्टि से गुण के आधार पर प्रतिष्ठित रीति-सम्प्रदाय भी अलंकार-सम्प्रदाय का ही एक अंग माना जा सकता है ।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक आचार्यों ने अलकार की व्यापक व्याख्या की थी और उसके अन्तर्गत वक्रोक्ति, रीति और गुण नामक तत्वों को समाहित कर लिया था । यही नहीं आचार्य भामह ने रस को भी पृथक तत्व न मानकर उसे भी अलंकार के अंतर्गत ग्रहण किया था । रसवत, प्रेयस, ऊर्जस्वित अलंकारों के अंतर्गत सभी प्रमुख रस सन्निविष्ट हो गये थे । आचार्य दण्डी ने कान्ति नामक गुण को सभी रसों को समाहित सत्ता का स्वरूप दे दिया था और स्वयं गुण की सत्ता अलंकारों से अभिन्न होने के कारण आचार्य दण्डी का यह उपक्रम अलंकार सम्प्रदाय को विशद बनाने में ही सहायक हुआ ।

यदि अलंकार मत का विकास और परिपोषण भामह द्वारा स्थिर की गई प्रणाली पर होता रहता तो यह असंभव न था कि अलंकार सिद्धान्त की गणना एक स्वतंत्र सिद्धान्त के रूप में होती; किन्तु संस्कृत-साहित्य के सैद्धांतिक विकास का क्रम इसके विपरीत मार्ग पर चला । समय के परिवर्तन के साथ गुण की सत्ता अलकार से पृथक कर दी गई, एवं रीति का भी एक स्वतंत्र सम्प्रदाय बना । वक्रोक्ति की स्थिति भी अपने मौलिक रूप में स्थिर न बनी रह सकी । कहीं तो वह केवल-मात्र अलंकार ही बना रहा और कहीं 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कह कर उसे काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया । रस भी बहुत समय तक अलंकार की शाखा बनकर न रह सका । एक स्थिति ऐसी आई जब उसे काव्य की आत्मा का गौरवशाली पद प्राप्त हुआ । ध्वनि-सम्प्रदाय के आविर्भाव से रस के प्रसार को पूरी सहायता मिली । अलंकार सम्प्रदाय का उत्कर्ष स्थिर न रह सका और उसके समस्त उपकरण उसके अन्तर्गत बने न सके । जिसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि स्वतः अलंकार, सम्प्रदाय

अपनी स्वतंत्रता एवं आत्म-निर्भरता छोड़कर कभी रीति, कभी रस और कभी वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का अंग मात्र बनता गया।

रीति मत :—रीति-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम विज्ञापन करने वाले वामन नामक आचार्य हुए जिन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की उद्घोषणा की। रीति से वामन का अभिप्राय पद-रचना की विशेषता से था। उन्होंने गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी, इन तीनों रीतियों को प्रतिष्ठित किया। इन नामों के विशेष प्रांत सूचक होने पर भी इनका स्वरूप स्वतन्त्र रीति से निर्धारित किया गया, जिनमें प्रांतों का कोई महत्व नहीं है। सम्भव है उक्त प्रान्तों की सामान्य प्रकृति इन रीतियों के अनुसार काव्य-रचना करने की हो, परन्तु साहित्यिक मत के रूप में ये रीतियां प्रान्तीय सीमा में बद्ध नहीं है।

गौड़ी रीति से वामन का प्रयोजन ऐसी समास-बहुला पदावली से है—जिसमें ओजगुण की व्यंजना स्वभावत होती है। ऐसी पदावली में स्वभावतः कृत्रिमता रहेगी एवं उसमें शब्दालंकारों का बाहुल्य होगा। फिर भी काव्य की एक स्वतन्त्र परिपाटी के रूप में गौड़ी रीति का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है।

वैदर्भी रीति में गौड़ी रीति की भांति लम्बी-लम्बी सामासिक पदावली नहीं रहती फिर भी समासों का नितान्त अभाव नहीं रहता है। प्रसाद गुण की इसमें प्रधानता रहती है। कालिदास की रचना वैदर्भी रीति का सुन्दर उदाहरण है।

क्रमशः रीतियों की संख्या भी बढ़ती गई और परवर्ती लेखकों ने दस रीतियों तक का नामोल्लेख किया है, किन्तु आचार्य मम्मट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' में जिसका निर्माण दसवीं शताब्दी के पश्चात् हुआ था, उपर्युक्त तीन ही रीतियों का उल्लेख है। ऐसा ज्ञात होता है कि रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन ने संस्कृत-काव्य-साहित्य की शैलियों को नये-नये नामों से अभिहित करना चाहा था। यही कारण है कि रीतियों की संख्या बढ़ने लगी, पर पीछे के आचार्यों ने रीति का सम्बन्ध गुणनामक तत्व से जोड़कर रीति की संख्या कम करने का उद्योग किया और रीति तथा गुणों को संयुक्त कर दिया।

रीति का प्रारम्भिक अर्थ था पद-रचना। इसी पद-रचना के गुणों पर रीति सम्प्रदाय का विवेचन अवलम्बित है। आगे चलकर काव्य-गुणों का पर्यवसान रीति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया जाने लगा और काव्य दोष सम्बन्धी-सम्प्रदाय का रीति-सम्प्रदाय में ही पर्यवसान हो गया। आरम्भ में

दोष के अभाव को ही गुण मानने की प्रवृत्ति थी, किन्तु क्रमशः गुणों की स्वतंत्र सत्ता स्थिर हो गई। केवल दोषों का अभाव ही गुण नहीं है। वरन् गुण काव्य-रचना का आधार-तत्त्व है। यह नवीन प्रतिष्ठा रीति-सम्प्रदाय के अंतर्गत हुई। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने गुण और दोषों के तत्त्वों का विशद विवेचन किया। गुणों की संख्या आरंभ में दस थी, क्रमशः बढ़कर वह बीस हो गई किन्तु आगे चलकर गुणों की यह संख्या स्थिर न रह सकी आचार्यों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण स्वीकार किए। इसी प्रकार दोषों की संख्या भी भिन्न-भिन्न पण्डितों द्वारा भिन्न-भिन्न निर्धारित की गई। इस समय तक रस-सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रचलन हो चुका था, अतएव रीति-सिद्धान्तों के संस्थापकों ने रस को भी गुणों के अन्तर्गत स्थान दे दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकार और रीति-सम्प्रदाय के बीच किसी समय बड़ी स्पर्धा रही होगी। यही कारण है कि कुछ आचार्यों ने अलंकारों के अन्तर्गत गुणों को सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया। गुण और अलंकार के पारस्परिक महत्त्व पर उस समय काफी विवाद हो रहे थे। यह कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् ६०० से ७०० तक सौ वर्षों के अन्तर्गत, रीति-सम्प्रदाय भारतीय-साहित्य-समीक्षा का प्रमुख आधार बना हुआ था। गुण और दोष की व्यापक प्रतिष्ठा हो जाने से रीति-सम्प्रदाय को बड़ा बल मिला और गुण-सहित तथा दोष-रहित रचना की आदर्श-पदावली ही रीति-मत के अनुसार काव्य की आत्मा बन गई। किन्तु रीति की यह सत्ता अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। कालान्तर में काव्य-समीक्षकों को यह अनुभव होने लगा कि रीति या पद-रचना अन्ततः काव्य का बहिरंग ही है और केवल उसे ही कसौटी बना लेने से काव्यात्मा की पूरी परख नहीं हो सकेगी। क्रमशः गुण, दोष और अलंकारों की विवेचना रीति से स्वतंत्र आधार पर होने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि रीति सम्प्रदाय की व्यापकता घट चली और अन्त में उसे रस-सिद्धान्त की एक शाखा के रूप में परिणत होना पड़ा। केवल रीति मत की ही यह अन्तिम परिणति नहीं हुई, वरन् अन्य साहित्यिक मत भी रससिद्धांत के अंतर्गत विलीन होने लगे। आचार्य मम्मट के समय में रस-सिद्धान्त की मान्यता सर्वव्याप्त हो गई। आचार्य मम्मट ने रस और ध्वनि का ऐसा सुन्दर पुटपाक तैयार किया कि वह बाद के समस्त काव्य समीक्षकों को मान्य सिद्ध हुआ।

ध्वनि और रस-सम्प्रदाय के संबंध-विकास को समझने के लिए हमें आनंद वर्धन से लेकर अभिनवगुप्त और मम्मट तक के काव्य-चिंतन का अनुशीलन करना होगा।

गुण मत—रीति सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध गुण-सम्प्रदाय का आविर्भाव भी संस्कृत साहित्य-समीक्षा में हुआ था। प्रत्येक रीति कुछ गुणों से संयुक्त हुआ करती है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने रीति तथा गुण का पृथक्-पृथक् ढंग से उल्लेख किया है, किन्तु गुण का काव्य-रीति से सम्बन्ध सभी ने स्वीकार किया है।

आगे चलकर इस धारणा में भी परिवर्तन हुआ और गुण का सम्बन्ध रीति से न रहकर काव्य की आत्मा रस से जोड़ा गया। मम्मट ने इस बात का उल्लेख किया कि गुण काव्य की आत्मा-रस से सम्बन्ध रखते हैं और उसी के सहायक व परिपोषक होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में गुण-सम्प्रदाय रीति-सम्प्रदाय से आविर्भूत हुआ था। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों ने ही रीति और गुणों का सम्बन्ध निर्धारित किया था, परन्तु क्रमशः रीति की प्रमुखता कम होने से गुणों का सम्बन्ध रीति से घटकर रसों से जुड़ गया। और उस अवस्था में गुणों के साथ ही काव्य-दोषों का भी निरूपण किया गया। इस प्रकार गुण और दोष एक पृथक् सम्प्रदाय बनकर रस-सम्प्रदाय के अंग रूप में प्रतिष्ठित हुए। गुणों तथा दोषों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी क्रमशः परिवर्तन होते गए। दोषों का क्षेत्र पद, वाक्य, अर्थ, अलंकार और रस तक व्यापक हो गया। पद-दोष, अर्थदोष, रसदोष, आदि की चर्चा साहित्यिक ग्रन्थों में विस्तार के साथ की जाने लगी।

गुणों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मानी है। ओज, माधुर्य और प्रसाद तीन मुख्य गुण हैं। ओज गुण गौड़ी के साथ, माधुर्य पांचाली के साथ और प्रसाद वैदर्भी रीति के साथ संयुक्त किया गया। कति-पय आचार्यों ने गुणों की संख्या दस भी मानी है।

गुण-सम्प्रदाय की आरम्भिक अवस्था में गुण और अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट नहीं हो पाया था और उन दोनों की सत्ता एक दूसरे से मिली हुई थी। आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गुण और अलंकारों का पृथक्करण किया और उन दोनों का स्वरूप निर्धारित किया। जिस प्रकार आरम्भ में गुणों के अभाव से ही दोष मानने की प्रवृत्ति थी, उसी प्रकार दोष के अभाव में गुण मानने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। समय व्यतीत होने पर

गुण व दोष स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित हुए। काव्य-साहित्य का अध्ययन करने वाले आचार्यों की एक श्रेणी काव्य-गुण व काव्य-दोषों को लेकर प्रतिष्ठित हुई। सम्भवतः इस सम्प्रदाय के मूल में कोई सैद्धांतिक प्रक्रिया उतनी नहीं थी, जितनी वास्तविक काव्य के अनुशीलन की प्रक्रिया की। भिन्न-भिन्न रचनाकारों के ग्रन्थों को लक्ष्य बनाकर गुण व दोषों का निरूपण किया जाता था। जैसा कहा जा चुका है, आरम्भ में ओज, प्रसाद, और माधुर्य केवल तीन ही गुण थे। किन्तु क्रमशः उनकी संख्या दस हो गई। आरम्भ में गुणों के अभाव को ही दोष मानने की प्रवृत्ति थी, किन्तु क्रमशः दोषदर्शन एक स्वतंत्र साहित्यिक मत बन गया। दोषों की संख्या बढ़ते बढ़ते सैकड़ों तक पहुंच गई। कतिपय आचार्यों ने गुण व दोष को ही काव्य का मूल तत्त्व मान लिया। इन आचार्यों की मान्यता एकदम निर्बल नहीं है, क्योंकि वास्तविक रचना का अनुशीलन करते हुए जिन गुणों व दोषों का निरूपण किया गया, उन्हें आधार रहित कैसे कहा जा सकता है? गुण व दोष मत का रीति तथा अलंकार सम्प्रदायों से कब कैसा सम्पर्क स्थापित हुआ और पारस्परिक आदान-प्रदान के सिद्धांत के अनुसार ये विभिन्न सम्प्रदाय किस क्रम से समन्वित होते गए, यह भारतीय साहित्य का एक शोधनीय विषय है।

वक्रोक्ति मत—वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा या मुख्य स्वरूप मानने का उपक्रम कई पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया था। किन्तु पृथक् सम्प्रदाय के रूप में उसका उदय दसवीं शताब्दी के पश्चात हुआ। इसके उद्‌भावक कुन्तक नामक आचार्य थे, जिनका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवितम्' है। प्रत्येक अलंकार के मूल में वक्रोक्ति रहा करती है। यह वक्रोक्ति की व्यापक व्याख्या थी। परन्तु आचार्य कुन्तक ने इससे भी आगे बढ़कर निर्देश किया कि वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है; वक्रोक्ति की परिभाषा उन्होंने 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' अर्थात् चतुर अथवा चमत्कार पूर्ण रचना कहकर की है। विदग्धता में रमणीयता का भाव निहित रहता है। इस प्रकार रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के पश्चात् आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुए किया है। वर्ण-विन्यास वक्रता से लेकर रस-वक्रता और महाकाव्य-वक्रता तक वक्रोक्ति की सीमा उन्होंने निर्धारित की है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिव्यंजना की रोचकता को ही कुन्तक ने वक्रोक्ति की संज्ञा दी है और रस को भी वक्रोक्ति का ही एक स्वरूप माना है। उन्होंने वक्रोक्ति के क्रमशः चार भेद

किए—वर्ण-विन्यास, पद और प्रकरण अथवा प्रबंध-वक्रता। इनके अंतर्गत अलंकार तथा रस-वक्रता भी सम्मिलित है।

ध्वनि मत—भारतीय साहित्य-समीक्षा में ध्वनि-सम्प्रदाय का विशेष महत्व है। नाटकों में रस तत्त्व तो स्वीकार कर लिया गया था पर काव्य के अन्य अंगों के लिए रस की स्वीकृति नहीं हो पाई थी। यह कार्य व्यंजना अथवा ध्वनि-सम्प्रदाय द्वारा सम्पन्न हुआ। ध्वनि के सिद्धांतानुसार काव्य में जो कुछ शाब्दिक रूप से उल्लेख किया जाता है, वही उसका अन्तिम प्रयोजन नहीं है; वरन् काव्य का ध्वन्यार्थ अथवा व्यंजित अर्थ ही काव्य का मुख्य प्रयोजन होता है। केवल शब्दार्थ द्वारा विषय का ज्ञान कराना काव्य का इष्ट नहीं है। काव्य का लक्ष्य है भावों और रसों की व्यंजना करना।

उपर्युक्त सिद्धान्तों और मतों के अतिरिक्त कुछ फुटकर पद और सम्प्रदाय भी भारतीय साहित्य-मीमांसा में दिखाई देते हैं, किन्तु उनमें इतनी मौलिकता नहीं थी कि वे स्वतंत्र काव्य-सिद्धान्त का पद ग्रहण कर सकते। फलतः इनकी चर्चा कुछ आचार्यों और उनकी पुस्तकों तक ही सीमित रही। इन्हीं में से कुछ मत ऐसे भी हैं जो रस अलंकार आदि प्रमुख सिद्धान्तों का विरोध न करते हुए भी उनमें समन्वय लाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे मतों को स्वतंत्र मत की पदवी नहीं दी जा सकती—उदाहरण के लिए क्षेमेन्द्र का औचित्य नामक मत, जिसमें विभिन्न काव्य तत्त्वों के समन्वय की योजना है। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने रस के कतिपय अंगों पर ही पुस्तकें लिखनी आरम्भ कर दीं। विभाव के अंतर्गत नायक और नायिका का पक्ष आता है, बस उन आचार्यों ने विभाव का विवरण देते हुए नायिका-भेद के बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले। इसी प्रकार उद्दीपन के अंतर्गत प्राकृतिक दृश्य और वस्तुएँ आती हैं, बस कुछ लेखकों ने ऋतुवर्णन में ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा व्यय कर दी। नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करते हुए नख-शिख ग्रन्थ लिखे गए; किन्तु ऐसी रचनाओं को काव्य-समीक्षा की स्वतंत्र कृति किसी अर्थ में नहीं कहा जा सकता।

अध्यक्ष; हिन्दी विभाग,
सागर विश्व विद्यालय—सागर, म० प्र०

नन्द दुलारे वाजपेयी

नई तुला पर हिन्दी-साहित्य

देखकर आश्चर्य होता है कि भारतीय भाषाओं का अनुशीलन करने वाले ग्रियर्सन जैसे विद्वान भी जाने या अनजाने में भाषा और बोली का पारस्परिक भेद और सम्बन्ध शायद न समझ पाए। अपनी एक पुस्तक-ome Bhojpuri folk Songs (भोजपुरी के कुछ लोक गीत) में वे लिख गए हैं कि 'This is a great pity for Hindi is only understood by the educated classes an even among—st them it is a foreign tongue which they have to learn in addition to their native language' आगे चलकर वे कहते हैं कि 'no where is it (Hindi) a vernacular and it is radically different from the language of Bihar.' इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाविद् भी आए दिन कहते सुने जाते हैं कि हिन्दी तो कोई भाषा ही नहीं या यदि हो सकती है, तो बहुत थोड़े से व्यक्तियों की ही है जो उत्तर प्रदेश के उत्तर पश्चिम कोनों के जिलों में निवास करते हैं। इनका यह भी कहना है, कि ब्रजभाषा और अवधी इत्यादि का भाषा की दृष्टि से बिलकुल अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और इनकी निगाह में इन्हें हिन्दी के अंतर्गत रखना उचित नहीं। यदि भाषा और बोली का

दोनों के द्वारा जन-हित के लिए करे। इसी को लक्ष्य में रखकर इतिहास की परिभाषा में शर्त जोड़ दी गई थी, 'उपदेश समन्वितम्' की।

यहाँ विचारणीय विषय है हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा हमें देखना यह है कि अब तक के प्रस्तुत इतिहासों में हिन्दी की अपार साहित्य राशि का वर्गीकरण, उसका मूल्यांकन तथा समस्त सामग्री का क्रमिक विश्लेषण किस रूप में हुआ है। इसकी जाँच सुव्यवस्थित ढग से करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्यिक-इतिहास से संबधित कुछ थोड़े से प्रश्नों पर विचार कर लिया जाय। यों तो साहित्य शब्द अति व्यापक है। मानव की समस्त संचित ज्ञान राशि ही साहित्य के अन्तर्गत आ जाती है किन्तु अपने सीमित-अर्थ में साहित्य भी पग-पग पर मानव जीवन से सम्बन्धित होने के कारण मनुष्य के ज्ञान क्षेत्रों से भी अविकल रूप से जुड़ा रहता है। कलाकार कवि हो, उपन्यास लेखक हो, निबंधकार हो या नाटककार-सौन्दर्य प्रेमी होने के साथ ही साथ सौन्दर्य—साधक भी होता है। उसकी भावनाएं उसकी कल्पनाएं अपनी निजी होती हैं, आत्माभिव्यक्ति का रूप वह स्वयं अपने लिए चुनता है। भाषा भी कलाकार की अपनी अलग होती है। एरिस्टाटल के शब्दों में पग-पग पर उसको शिक्षा वह 'प्रकृति से प्राप्त करता है।' किन्तु सामाजिक प्राणी होने के नाते उसकी प्रेरणा का स्त्रोत हुआ करता है उसके आस पास का संसार। भूगोल और इतिहास उसके मार्ग के सम्बल होते है। विविध क्षेत्रों का निर्धारित विस्तृत ज्ञान और विज्ञान उसका बल होता है। अतः यों कहना पड़ेगा कि एक सच्चा साहित्यकार चाहे वह कवि हो या उपन्यास गद्य, निबंध, नाटक इत्यादि का लेखक हो वही व्यक्ति हो सकता है जो सामयिक ज्ञान और विज्ञान की प्रायः सभी ज्ञातव्य शाखाओं से परिचित हो। उदाहरणस्वरूप यदि इस तथ्य की परख की जाय तो भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास का आदर्श लेकर देखा जा सकता है। आदि में ही उनकी घोषणा थी, 'नाना पुराणनिगमागम सम्मतं यद्' इत्यादि अर्थात् उस समय तक का जो कुछ भी ज्ञान और विज्ञान मानव के पल्ले पड़ चुका था, उस समस्त की थाती से समृद्ध होकर उनकी लेखनी उठी थी, किन्तु फिर वे यह भी कह देते हैं कि केवल उतना ही नहीं है वरन् कहते हैं 'क्वचिदन्यतोऽपि' अर्थात् कुछ और भी है। जिस प्रकार किसी कुल का भूषण सपूत पूर्वजों द्वारा छोड़ी गई निधि को लेकर जीवन में उतरता है, केवल उतने को ही सुरक्षित रखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ले तो सपूत शब्द की सार्थकता नहीं होती।

पारस्परिक सम्बन्ध समझ लिया जाता, तो संभव है, इस प्रकार के निरर्थक द्वन्द्व न खड़े हो पाते।

अपनी पुस्तक साहित्य-जिज्ञासा' में एक स्थल पर हमने कहा है कि 'किसी भी भाषा का संगठन समान रूपवाली बोलियों तथा उपबोलियों को लेकर ही होता है। समानरूपता के प्रधानतः तीन आधार होते हैं--१-शब्द भंडार २-शब्द ग्रन्थ ३· शब्दोच्चारण। जिन बोलियों में इन तीनों अंगों की पर्याप्त एवं उचित समानता दीख पड़ती है, वे एक समूह के रूप में संगठित हो जाती है। इसी समूह को भाषा की संज्ञा दी जाती है, परन्तु भाषा की परिधि में प्रविष्ट होने से बोलियों की निजी विशेषताएं लुप्त नहीं हो जातीं और न उनका महत्व ही घट जाता है।' संसार की कोई भी भाषा उपर्युक्त सिद्धान्त का अपवाद नहीं।

विविध बोलियाँ अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से वि सित हुआ करती हैं, जीवन में व्यवहृत हुआ करती है। अपने बोलने वालों के साधारण विचार और जीवनानुभूतियों के आदान-प्रदान का माध्यम हुआ करती है। जहां तक मानव की निजी घनिष्ठ रसात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, विविध बोलियाँ गद्यात्मक सूक्तियों, कहावतों और लोक गीतों के सहारे साहित्य का अंग भी बन जाती हैं, किन्तु गम्भीर चिन्तन अथवा विस्तृत ज्ञान प्रसार के निमित्त उच्चस्तरीय साहित्यिक अभिव्यक्ति में जब किसी भी बोली के प्रयोग करने की बारी आती है, तब उसका आमूल 'संस्कार' आवश्यक हो जाता है। इस प्रणाली के द्वारा जहां किसी भी बोली में भाषागत सौष्ठव और अभिव्यंजन-शक्ति की वृद्धि की संभावना होती है वहीं उसकी प्रकृति और नैसर्गिकता में आवश्यक कृत्रिमता का आ जाना भी अनिवार्य होता है।

अतीत काल से अमूल्य साहित्य-रत्न-राशि को अपने क ष में सुरक्षित रखने वाली हमारे देश की देववाणी संस्कृत, अंग्रेजी, जर्मन इत्यादि संसार की कोई भी भाषा उपर्युक्त सिद्धान्त से अलग नहीं ठहरेगी। और प्रत्येक प्रसिद्ध भाषा अपने अन्तर्गत क्षेत्रों की किसी न किसी एक बोली के आधार पर ही अपने सुसंस्कृत रूप के अस्तित्व को लिये हुए खड़ी है। निरन्तर विकसित ह ने का क्रम बो यों का अजस्र और नैसर्गिक धर्म है। मानव-विचार-प्रणाली भी परिवर्तन के गर्त में पड़ी हुई सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ करती है, अपनी अभिव्यक्ति के नवीन भाषा-रूपों को अपने अनुरूप ढाला करती है, और उसी क्रम के अनुसार संसार

के प्रत्येक साहित्य का कलेवर नित्य-प्रति अधिक विस्तार और नूतनता ग्रहण किया करता है।

बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उन्नीस सौ पैंतीस-छत्तीस के अधिवेशन में स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने सभापति पद से दिये गए अपने भाषण में सिद्ध कर दिया था कि प्राकृत और अपभ्रंशकाल के उपरान्त हिन्दी भाषा ने लगभग आठवीं शताब्दी में ही अपना रूप ग्रहण कर लिया था। इस मत के समर्थन मे विविध सिद्धों की कई उक्तियां उन्होंने अधिकृत रूप से प्रस्तुत की थीं। इसके उपरान्त यह मानने में किसी भी विद्वान को शंका नहीं-सी रह गई थी कि हिन्दी का स्वतंत्र भाषा-रूप आठवीं शताब्दी के आसपास ही विकसित हो चुका था। यद्यपि वे कतिपय उदाहरण हिन्दी क्षेत्र के कुछ स्थल विशेष के ही थे, किन्तु उनके आधार पर निर्विवाद रूप से अनुमान किया जा सकता है कि अन्यत्र भी हिन्दी के अन्तर्गत विविधि बोलियों के आदि रूप उसी समय के आस पास निश्चित रूप से प्रस्फुटित होने लगे होंगे।

तब, कहना पड़ेगा कि हिन्दी भाषा की उत्पत्ति अपनी विविध बोलियों के माध्यम से आठवीं शताब्दी के लगभग ही हो चुकी थी। यह संभव भी है क्योंकि हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहास लेखक—अपनी सामग्री का संचयन १८०० ई० या उसके आस-पास से करना प्रारंभ करते हैं। कोई भी साहित्य अपनी सृष्टि के लिए भाषा की पुष्टता का आश्रित तो होता ही है। और, यह पुष्टता सहसा प्राप्त नहीं हो जाया करती। इसमें दो या अधिक शताब्दियां लग जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं। विशेषकर हमारे देश की परिस्थिति तो और भी अधिक कठिन थी, यहाँ की सभ्यता-संस्कृति और साहित्य-सृष्टि अपनी परम्पराओं में अति प्राचीन है। हिन्दी अथवा अन्य किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा के जन्म ग्रहण करने के युगों पहले से संस्कृत और प्राकृत के माध्यम से विशाल साहित्य-जगत् यहां सृष्ट हो चुका था। ज्ञान और विज्ञान का व्यसन भारतीयों के जीवन में न जाने कब से चला आ रहा है। निश्चय ही आधुनिक भाषाओं के जन्म काल तक हमारे पहले भाषा माध्यम पुष्टता की सीमा को पहुंच चुके थे। ऐसी परिस्थिति में देश की कोई भी भाषा सहसा अपनी अपरिपक्वावस्था में साहित्य-सृष्टि का माध्यम नहीं बन सकती। पग-पग पर साहित्य-सृष्टा उसकी नाप-तौल और भाषा-विषयक योग्यता की परख के लिए बाध्य थे। जैसा कि इतिहास साक्षी है लगभग चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी तक यद्यपि हिन्दी

भाषा काफी प्रौढ़ और समुन्नत हो चुकी थी, फिर भी पंडितवर्ग के व्यक्ति अपनी साहित्य-रचना के लिए संस्कृत का ही सहारा लेते थे। स्वयं तुलसीदास ने सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दी में अपना संदेश देते हुए भी जगह-जगह पर संस्कृत का आश्रय ढूंढा ही है। वल्लभाचार्य और रामानन्द अपने उपदेशों का वितरण लोक कल्याण के लिए अवश्य ही हिन्दी में करते थे, किन्तु उनके द्वारा रचा गया साहित्य संस्कृत में ही है। अतः यह स्पष्ट है कि हमारे देश के साहित्य-सृष्टाओं के सामने भाषा का माध्यम चुनने की समस्या कम जटिल नहीं थी।

प्राचीन साहित्य का दावा करने वाले संसार के अन्य देश भारत की तुलना में बहुत छोटे हैं। यदि समस्त भारतवर्ष की बात छोड़ भी दी जाय तो भी केवल हिन्दी के क्षेत्र के विस्तार के सम्मुख भी वे काफी छोटे ठहरेंगे। साथ ही सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की परम्पराओं में भी अन्य सभ्य देशों की कड़ियाँ इतनी गुंथी हुई नहीं रहीं जितनी उत्तरभारत के हिन्दी अंचलों की रही है। ये विविध कारण भी हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के सामने अन्य साहित्य के विद्यार्थी की अपेक्षा अधिक जटिलताएं उपस्थित करने वाले हैं। क्रमबद्ध अध्ययन करने में सबसे बड़ी कठिनाई इसलिए भी हमारे यहाँ उपस्थित हो जाती है कि आंतरिक और बाह्य, अस्थिर और विषम परिस्थितियों के गर्त में हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक निधियाँ कुछ इस तरह से टूट फूटकर भिन्न-भिन्न हो गईं कि आज शृंखला की कड़ियाँ ढूंढ निकालना भी कठिन हो गया है।

इसी परिस्थिति का परिणाम है कि हिन्दीसाहित्य के इतिहास की जो कुछ सामग्री आजतक हमें प्राप्त हो सकी है और जितने भी इतिहास अब तक प्रस्तुत किये गए हैं उन पर एक दृष्टि डालने से कुछ ऐसा ज्ञात होने लगता है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में साहित्य की सृष्टि केवल शायद राजस्थान के अंचल में ही हुई थी। मध्यकाल में प्रवेश करते ही कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मानो साहित्य-सृजन का केन्द्र केवल उत्तरप्रदेश ही रह गया था और आधुनिक काल भी प्रधान रूप से उत्तरप्रदेश की सीमाओं में ही बँधा हुआ सा दीख पड़ता है यदि यह इसी रूप में ग्रहण कर लिया जाय तो अनेक समस्याएँ अनायास ही उठ खड़ी होती है। इसे स्वीकार करते ही धारणा कुछ ऐसी बँध जाती है कि हिन्दी के आदिकाल में शायद राजस्थान को छोड़ कर साहित्य-सृजन का कार्य अन्यत्र कुछ हो ही नहीं रहा था। यह ठीक है कि हमारे साहित्य का आदिकाल

भारतीय इतिहास की दृष्टि से सामन्तशाही का युग था, और उस समय सामन्ती केन्द्र ही कला, संस्कृति और काव्य के भी प्रधान केन्द्र थे। इस नाते यदि अधिक साहित्यिक सामग्री की सृष्टि नहीं हुई तो कोई विशेष आपत्ति की बात नहीं, किन्तु यहीं यह भी विचारणीय है कि सामन्तशाही का विस्तार-क्षेत्र केवल राजस्थान ही तो नहीं था, भले ही उस युग के राजस्थानी सामंत कुछ अंशों में अधिक प्रभावशाली रहे हों, किन्तु बुन्देलखंड, बघेलखंड तथा उत्तरप्रदेश एवं अन्य अंचलों में भी सामन्त थे और निश्चय ही उन अंचलों के कवि और कलाकारों को उनके यहाँ भी आश्रय मिलता ही था। यहीं साहित्य की एक और उलझी हुई गुत्थी सामने आजाती है। डा० ग्रियर्सन तथा अन्य प्रसिद्ध साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने यहाँ तक कह डाला है कि हिन्दी के रासो-साहित्य की उत्पत्ति विदेशी आक्रमणकर्त्ताओं के युद्धों के कारण हुई थी। यह मान्यता भी कम भ्रामक नहीं, उसका आधार कदाचित् पृथ्वीराजरासो ही हो सकता है, क्योंकि उसमें हमें अवश्य ही पग-पग पर हिन्दू नरेशों और यवन आक्रमणकारियों के संघर्ष के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु यदि अन्य प्रसिद्ध रासो देखे जायें तो उनमें इस प्रकार के कोई प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होते। 'बीसलदेवरासो' या 'हम्मीररासो' जो आज प्राप्त हैं वे उपर्युक्त विचार के समर्थन में पेश किये जा सकते हैं। साथ ही आल्हाखण्ड की गणना भी रासो-साहित्य के अन्तर्गत ही होती है और इसके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि वह जिस काल में बुन्देलखण्ड में रचा गया होगा उस काल तक यवन विजेता यहाँ तक पहुंचे भी नहीं थे इसलिये, यह कहना कि रासो-साहित्य की रचना विदेशियों के आक्रमण के फलस्वरूप ही हुई थी, विशेष प्रामाणिक नहीं। और यहीं यह भी सिद्ध हो जाता है कि रासो वर्ग की रचनाएं भी केवल राजस्थान तक ही सीमित नहीं थी।

कुछ काल पहले तक रासो शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर थे किन्तु बीसलदेवरासो में उसके कवि के द्वारा स्थल-स्थल पर 'रसायण' शब्द का प्रयोग अब समुचित रूप से प्रमाणित करता है कि रासो की उत्पत्ति 'रसायण' शब्द से ही हुई है। काव्य-प्रकाशकार ने काव्यरस के विषय में तथा उसी पर निर्धारित कवि की सफलता और सिद्धि के विषय में यहां तक कह डाला है कि—

'नव-रस-रुचिरा-निर्मितमादधती भारती कवेर्जयति।' (काव्य-प्रकाश) 'रसायण' शब्द का अर्थ है (रस+अयन) रस का भण्डार। और, रासो

लिखने वाले कवियों ने अपनी कृतियों में रस का भण्डार भरने की ही चेष्टा की है। उनके काव्य का माध्यम भले ही उन का आश्रयदाता रहा हो किन्तु प्रत्येक कलाकार को विशेषकर इतिवृत्तात्मक काव्य की सृष्टि करने के लिये काल्पनिक अथवा वास्तविक नायक का आधार लेना ही पड़ता है। पूर्व साहित्यिक परम्पराओं के अनुसार सदा से ही मान्यता कुछ ऐसी रही थी कि किसी काव्य का नायक ऐसा उच्च होना चाहिए कि जिसका जीवन बहुमुखी हो। समाज में उसका स्थान उच्च हो और वह अपने युग का नायकत्व करने वाला हो। ये शर्तें जैसा प्रायः समझ लिया जाता है, इसलिए नहीं लगाई गई थीं कि किसी वर्ग विशेष की उपेक्षा की जाय या केवल मात्र किसी वर्ग-विशेष की प्रशस्तियाँ गाई जायँ। इन शर्तों का विशुद्ध-साहित्यिक-दृष्टिकोण इतना ही था कि ऐसे नायक के माध्यम से कवि को जीवन की विविधता एवं सजीवता चित्रित करने में अधिक सुविधा होगी। उसका काव्य कोरी कल्पना पर आधारित न हो कर वास्तविकता से युक्त होता हुआ जीवन के अधिक सन्निकट होगा। पाठकों के हृदय में ऐसे चरित्रों के माध्यम से कोरी भावुकता के स्थान पर अपेक्षित उदात्त-गुणों का सन्निवेश हो सकेगा। यदि काव्य का नायक इतिहास का प्रसिद्ध पुरुष होगा तो निश्चय ही उसके जीवन के विविध संघर्ष भी वास्तविक ही होंगे। नायक का नायकत्व तभी सम्भव हो सकता है जब उसने उन संघर्षों में विजय प्राप्त की होगी। उसके चरित्र चित्रण से साधारण जन भी जीवन के संघर्षों में विजयी होने की वास्तविक प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे।

सामन्तशाही-युग का कवि किसी सामन्त का दरबारी-कवि होता हुआ भी केवल इसीलिए उपेक्षणीय नहीं हो सकता कि अपने काव्य के लिए उसने अपने आश्रयदाता को नायक चुना था। यह तो साधारण समझदारी की बात है कि वह सामन्त भी सामन्त होने के नाते ही अपनी सीमा और अपने काल में अवश्य ही स्थानीय-प्रतिनिधित्व तो औरों की अपेक्षा अधिक ही करता रहा होगा। अतः यदि उसके आश्रय-कवि ने उसे ही अपना नायक मान लिया तो काव्य की दृष्टि से उसमें अनौचित्य की शंका करना उचित नहीं जान पड़ता। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय हो जाती है कि यदि इतिहास के उस सामन्तकाल की समस्त प्राप्त काव्य-सामग्री पर दृष्टि डाली जाय तो ऐसा भी नहीं बोध पड़ता कि प्रत्येक सामन्त कवियों की रचनाओं के नायकत्व का वरदान पा सका हो। कई रासो-काव्य तो यह सिद्ध करते हैं कि कवि ने अपने आश्रयदाता सामन्त को न लेकर उसके

किसी विशिष्ट और अधिक प्रसिद्ध पूर्वज को अपने काव्य का नायक बनाया है। जैसे 'हम्मीर रासो' के लिए ही प्रसिद्ध है कि उसका लेखक हम्मीर के प्रपौत्र के काल का कवि था और कुछ इसी प्रकार की मान्यता 'बीसलदेव रासो' के सम्बन्ध में भी अनेक इतिहासकारों ने की है कि यह रचना बीसल देव के राज्यकाल के बाद 'नाल्ह' कवि के द्वारा की गई थी। ऐसी परिस्थिति में उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो जाते है।

रासो-साहित्य के संबन्ध मे इस शब्द की व्युत्पत्ति की अब तक की अनस्थिरता के कारण और भी कई भ्रामक धारणाएं बन गई हैं। हमारे इतिहास-लेखकों ने हिन्दी के इस आदि काल को रासो-काल और वीरगाथा-काल भी कहा है। मान्यता कुछ ऐसी ठहर गई है कि इस समय का सारा हिन्दी साहित्य वीर-रस-प्रधान है, किन्तु, विचारपूर्ण अध्ययन के बाद निष्कर्ष कुछ भिन्न ही ठहरेगा। 'पृथ्वीराज रासो' जो अपेक्षाकृत सबसे अधिक प्रसिद्ध और अधीत है उसी में यदि देखा जाय तो कहना कठिन हो जायगा कि उस महाकाव्य को वीररस-प्रधान कहा जाय या शृंगाररस-प्रधान। और यों तो, उसमें रस-परिपाक की दृष्टि से अन्य विविध रस भी स्थल-स्थल पर खूब निखरे हुए मिलते हैं क्योंकि वह ठहरा सांगोपांग सफल एवं सिद्ध महाकाव्य। उसके विविध अंगों की पूर्णता उसमें होनी ही चाहिए। इसी प्रकार 'बीसलदेव रासो' के अध्ययन के पश्चात् निश्चित रूप से मानना ही पड़ेगा कि उसमें आदि से अंत तक शृंगार-रस की ही प्रधानता है। 'खुमान रासो' भी आमूल वीर-रस-प्रधान नहीं जान पड़ता। आल्हखंड यद्यपि अपने मूल-रूप में अब तक नहीं प्राप्त हो सका है तथापि उसका वर्तमान प्रचलित-रूप यदि मूल पर किसी अंश तक आधारित है तो उसमें जरूर वीर-रस का प्राधान्य दीख पड़ता है। तब इस कोटि के साहित्य को वीरगाथाकाल कहने की सार्थकता केवल इतनी ही ठहरती है कि इस प्रकार के काव्य में गाथाएं अपने समय के विशिष्ट वीरों की ही है इससे अधिक कुछ नहीं। अब यदि 'रासो' शब्द को हम 'रसायण' शब्द से सिद्ध मानें तो समस्या का हल हो जाता है। रासो का अर्थ तब ठहरेगा 'रस का अयन' अर्थात वह काव्य जिसमें विविध प्रधान रसों की निष्पत्ति हुई हो, किसी रस विशेष की शर्त लगाना आवश्यक नहीं। इस दृष्टि से ऐसी काव्य सामग्री अपने नाम की सार्थकता भरपूर सिद्ध कर देती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि साहित्य और कला की सृष्टि को किन्हीं विशेष अंचलों में किसी काल विशेष में केन्द्रित करके उसका अध्ययन

भी बहुत सार्थक नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऐसा मानकर चलने के बाद धारणा कुछ ऐसी बन जाती है, कि उन केन्द्र-विशेषों को छोड़कर अन्यत्र कदाचित् साहित्य-सृष्टि हो ही रही थी। तब एक दूसरी कठिन समस्या के उठ खड़े होने का भय है। उपर्युक्त मान्यता के अनुसार ही हमारे प्रसिद्ध इतिहास लेखकों ने प्रायः समान रूप से यह कहा है कि सामन्त-युग की समाप्ति के बाद ही यवन-राज्य उत्तरभारत में स्थापित हुआ। और तब उनके भय और त्रास के कारण देश में धार्मिक चेतना की लहर उमड़ पड़ी और इसी के साथ साहित्य-सृष्टि के विविध केन्द्र राजस्थान से हटकर राम और कृष्ण की जन्मभूमि उत्तरप्रदेश में स्थिर हो गये। यवनों के आतंकस्वरूप भक्ति की लहर का उद्रेक मानना स्वयं ही एक बहुत बड़ा भ्रम है जिसके विषय में स्वयं मेरे द्वारा तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा अन्यत्र काफी लिखा जा चुका है। किन्तु, साहित्य-सृष्टि को उपर्युक्त रूप में एक स्थल से दूसरे स्थल पर केन्द्रीभूत करने की परिपाटी में एक कठिनाई यह उपस्थित होगी कि रासो-काल में यदि साहित्य-सृष्टि केवल राजस्थान तक ही सीमित मान ली जाय और समझ लिया जाय कि अन्यत्र कहीं कुछ नहीं हो रहा था तब समझना कठिन हो जायगा कि बिना किन्हीं पूर्व भाषा एवं साहित्यगत पुष्ट परम्पराओं के उत्तरभारत में सहसा और अनायास ही इतनी सम्पन्न और विशाल साहित्य-सृष्टि कैसे सम्भव हो गई। अत्यंत मार्मिक एवं सुविचिन्तित काव्यांगों से युक्त विविध-संतों की रचनाएं काव्यसौष्ठव से ओतप्रोत प्रेममार्गी सूफियों की साहित्यिक देन क्यों कर प्राप्त कर सकीं? भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसी-दास की प्रभावशालिनी लेखनी विविध अंचलों की बोलियों के माध्यम से कैसे मुखरित हो उठी?

मध्ययुग की प्रथम दो शताब्दियों का हिन्दी-साहित्य अपनी समस्त धार्मिक-प्रेरणाओं को लिए हुए भी आदि से अंत तक विशिष्ट काव्यांगों की विविधता से भरपूर है। क्या भाषा-चमत्कार और क्या मानसिक-विकास दोनों ही दृष्टियों से अनुपम है। इस कोटि का साहित्य किसी देश, किसी भाषा और किसी काल में बिना अति पुष्ट परम्पराओं के सम्भव नहीं हो सकता। तब यह मानना ही होगा कि रासोकालीन युग में जहाँ सामन्ती अंचलों में उस प्रकार के साहित्य की सृष्टि हो रही थी अन्य अंचलों में भी उन्हीं क्षणों में अन्य प्रकार के साहित्य की रचना भी अवश्य ही हो रही होगी। किन्हीं कारण विशेषों से हो सकता है किसी समय कोई अंचल

विशेष अधिक प्रसिद्ध रहा है और उसी के महत्त्व के अनुपात में वहाँ की साहित्यिक कृतियाँ महत्व पागईं। अन्य कालों में किन्हीं कारणों से अन्य स्थलों का महत्व अधिक प्रबल हो उठा हो और वहाँ का साहित्य अधिक प्रकाश पा गया हो, इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो हिन्दी भाषा के उसकी शताब्दियों के विस्तार महत्व एवं सम्मिलित-कौटुम्बिक समृद्धि पर किसी प्रकार की विग्रहात्मक आशंका करना व्यर्थ की विडम्बना है।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन की ठेकेदारी का दावा करने वाली पाश्चात्य विद्वन्मंडली ने एक नहीं अनेक अवसरों पर यह भी घोषणा की थी कि भारतीय उनकी राय में इतिहास-जैसी चीज से ही अपरचित थे इतिहास लिखने की उपयोगी परम्परा भी उनके अनुसार आधुनिक भारत को पाश्चात्यों की कृपा से ही प्राप्त हुई थी। उन्हीं के सुर में सुर मिलाकर आधुनिक भारत के अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने भी उनके इस दावे को स्वीकार किया था। कदाचित् इन्हें यह पता नहीं था कि भारतीय अनादिकाल से केवल इतिहास शब्द से ही परिचित नहीं थे वरन् वे इसकी सार्थकता के कायल थे और अपने इतिहासों को एक नहीं अनेक प्रकार से प्रस्तुत कर के छोड़ गये हैं। अन्धकार के उन क्षणों में जब नवीन कलात्मक साहित्य-रचना नहीं भी हो रही थी उनमें भी इतिहास तो लिखे ही गए थे। भारतीय केवल इतिहास शब्द को ही नहीं जानते थे वरन् इसे परिभाषित भी कर चुके थे। किन्तु पाश्चात्यों के शब्दकोषों में आज तक यह शब्द अपरिभाषित ही है। संस्कृतकोषकार इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति मानता है इति + ह + आस; अर्थात् इतिहास वह रचना है जो केवल विगत घटनाओं का ही उल्लेख न करे वरन् उन्हीं के आधार पर भावी घटनाओं की रूप रेखा का संकेत भी वे दे। इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्त तथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

इसका स्पष्ट निर्देश यह है कि ऐसे व्यक्तियों का वृत, जो धर्म, अर्थ काम और मोक्ष—जो सफल जीवन के सिद्ध चार फल माने गए हैं—की साधना कर चुके हों; उनका उल्लेख इस ढंग से किया जाय कि मानव-संतति केवल उन सिद्ध व्यक्तियों से परिचित ही न हो वरन् उनके आचरणों से उपदेश भी ग्रहण करें और अपने जीवन को सफल बनावे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भारतीय जीवन-द्रष्टाओं के द्वारा किसी रूप में सफलता के बीजमंत्र माने गए थे इसकी विस्तृत व्याख्या 'साहित्य-जिज्ञासा'

में संगृहीत 'हिन्दी में गत्यवरोध' शीर्षक लेख में की जा चुकी है। यहाँ इस परिभाषा की सार्थकता की समीक्षा करते हुए केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सफल साधना करने वाला व्यक्ति निश्चय ही विशिष्ट और महान् होगा। उसकी यह विशिष्टता और महानता जीवन संघर्षों पर विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप ही मिली होगी। उसके जीवन के संघर्ष भी उसकी महानता के अनुपात में साधारण जन के जीवन संघर्षों की अपेक्षा अधिक कठिन ही रहे होंगे। ऐसे इतिहास के माध्यम से साधारण जन का उपदेश ग्रहण कर लेना, जीवन संघर्षों पर विजय प्राप्त कर लेने के कौशल को जान लेना कल्याणकर ही होगा।

अब यहीं यदि पाश्चात्यों के प्रसिद्ध 'हिस्ट्री' शब्द के अर्थ पर विचार कर लिया जाय तो भारतीयों और पाश्चात्यों की परम्पराओं की पुष्टता, व्यापकता और संकीर्णता अपने आप स्पष्ट हो जायगी। पाश्चात्य कोषकारों ने इतिहास को किसी जाति के मूल एवं उसकी प्रगति का क्रमबद्ध वृत्तांत माना है। इससे यह स्पष्ट है कि पश्चिम के इतिहास लेखक का कार्य केवल इतना ही है कि वह किसी देश अथवा जाति के विशिष्ट व्यक्तियों अथवा जीवन की विशिष्ट घटनाओं का समय के क्रम से उल्लेख कर दे। पाश्चात्य विद्वान इतिहास लेखन-कला की चरम सिद्धि लेखक की परम 'पर संवेद्यता' (jodectivtiy) में मानते हैं और स्वसंवेद्यता 'Subjectivity) के पुट को इतिहास लेखक का दोष मानते हैं। किन्तु पाश्चात्यों की अब तक की संचित की गई अपार ऐतिहासिक सामग्री ने आज के विचारकों से मनवा लिया कि अपेक्षित एकान्त पर संवेद्यता केवल सिद्धान्त में ही संभव हो सकती है व्यवहार में नहीं। क्योंकि इतिहास लेखक चाहे जिस देश और चाहे जिस जाति का हो, होता है हाड़ माँस का पुतला ही, यंत्र नहीं। घटनाओं और व्यक्तियों के परिचय के साथ ही उनसे प्रभावित हो उठना मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है। दर्शनोपरान्त निदर्शन (Interpretation) की क्रिया में ही स्वसंवेद्यता का समावेश अनिवार्य है। मानव-सभ्यता का उपर्युक्त व्यवहार जो पाश्चात्यों ने युगों के अनुभव के बाद अब समझा है, भारतीय विचारक पहले से ही जानते थे, और, इसीलिए उन्होंने अपनी इतिहास की परिभाषा में स्पष्ट कह दिया था 'पूर्व वृत्त कथायुक्तम्'। इतिहासकार के सम्बन्ध में वे मान चुके थे कि वह घटनाओं और व्यक्तियों का केवल दर्शनमात्र ही नहीं है, वरन् निदर्शन भी है। निदर्शन उसे किस प्रकार करना चाहिए इसके विषय में निर्धारित कर दिया गया था कि वह अपने कर्तव्यदर्शन और निदर्शन

दोनों के द्वारा जन-हित के लिए करे। इसी को लक्ष्य में रखकर इतिहास की परिभाषा में शर्त जोड़ दी गई थी, 'उपदेश समन्वितम्' की।

यहाँ विचारणीय विषय है हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा हमें देखना यह है कि अब तक के प्रस्तुत इतिहासों में हिन्दी की अपार साहित्य राशि का वर्गीकरण, उसका मूल्यांकन तथा समस्त सामग्री का क्रमिक विश्लेषण किस रूप में हुआ है। इसकी जाँच सुव्यवस्थित ढग से करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्यक-इतिहास से संबंधित कुछ थोड़े से प्रश्नों पर विचार कर लिया जाय। यों तो साहित्य शब्द अति व्यापक है। मानव की समस्त संचित ज्ञान राशि ही साहित्य के अन्तर्गत आ जाती है किन्तु अपने सीमित-अर्थ में साहित्य भी पग-पग पर मानव जीवन से सम्बन्धित होने के कारण मनुष्य के ज्ञान क्षेत्रों से भी अविकल रूप से जुड़ा रहता है। कलाकार कवि हो, उपन्यास लेखक हो, निबंधकार हो या नाटककार-सौन्दर्य प्रेमी होने के साथ ही साथ सौन्दर्य-साधक भी होता है। उसकी भावनाएं उसकी कल्पनाएं अपनी निजी होती हैं, आत्माभिव्यक्ति का रूप वह स्वयं अपने लिए चुनता है। भाषा भी कलाकार की अपनी अलग होती है। एरिस्टाटल के शब्दों में पग-पग पर उसकी शिक्षा वह 'प्रकृति से प्राप्त करता है।' किन्तु समाजिक प्राणी होने के नाते उसकी प्रेरणा का स्त्रोत हुआ करता है उसके आस पास का संसार। भूगोल और इतिहास उसके मार्ग के सम्बल होते है। विविध क्षेत्रों का निर्धारित विस्तृत ज्ञान और विज्ञान उसका बल होता है। अतः यों कहना पड़ेगा कि एक सच्चा साहित्यकार चाहे वह कवि हो या उपन्यास गद्य, निबंध, नाटक इत्यादि का लेखक हो वही व्यक्ति हो सकता है जो सामयिक ज्ञान और विज्ञान की प्रायः सभी ज्ञातव्य शाखाओं से परिचित हो। उदाहरणस्वरूप यदि इस तथ्य की परख की जाय तो भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास का आदर्श लेकर देखा जा सकता है। आदि में ही उनकी घोषणा थी, 'नाना पुराणनिगमागम सम्मतं यद्' इत्यादि अर्थात् उस समय तक का जो कुछ भी ज्ञान और विज्ञान मानव के पल्ले पड़ चुका था, उस समस्त की थाती से समृद्ध होकर उनकी लेखनी उठी थी, किन्तु फिर वे यह भी कह देते हैं कि केवल उतना ही नहीं है वरन् कहते हैं 'क्वचिदन्यतोऽपि' अर्थात् कुछ और भी है। जिस प्रकार किसी कुल का भूषण सपूत पूर्वजों द्वारा छोड़ी गई निधि को लेकर जीवन में उतरता है, केवल उतने को ही सुरक्षित रखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ले तो सपूत शब्द की सार्थकता नहीं होती।

उस निधि में स्वार्जित कुछ जोड़ देना भी सपूत का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार सरस्वती के वरदायी पुत्रों की भी पुनीत परिपाटी रही है कि वे प्राप्त ज्ञान राशी के सफल अधिकारी तभी माने गये जब उन्होंने अपने तप के बल पर नव-ज्ञान का वरदान प्राप्त करके उसे भी वाग्देवी के चरणों में अर्पित कर दिया। सरस्वती के साधकों में भी कला-साधक का उत्तर-दायित्व और भी अधिक गुरुतर रहा है। उसकी साधना का पथ भी अन्य क्षेत्रों के साधकों की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। अन्य क्षेत्रों के साधकों की विषय के अनुरूप अपनी-अपनी सीमाएं हुआ करती है। किन्तु, कला-साधक का क्षेत्र असीम है। सौंदर्य-साधक होने के नाते ही उसे संसार की विभीषिका और कुरूपता को भी सौंदर्य प्रदान करना पड़ता है। कलात्मक साहित्य की पावन सरिता सभ्य और सुसंस्कृत मानव की आदिकाल से ही अनंत वाहिनी है। उसका विस्तार अपरिमित है। उसकी गति अबाध है। उसका न कहीं अर्थ है और न कहीं इति। महाभारत में धर्मराज युधिष्ठर को उपदेश दिया गया था, यह कह कर कि—

आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था:
सत्यहृद शील तटादयोर्मि।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डु पुत्र
न वारिणाशुद्धयति चातन्तरात्मा॥

यद्यपि उपर्युक्त वाक्य विशेष रूप से आध्यात्म मार्ग की ओर संकेत करते हैं तथापि गंभीरता-पूर्वक यदि विचार किया जाय तो सत्साहित्य के प्रणेता एवं उसके अध्यन करने वाले दोनों ही के लिए उपर्युक्त वाक्य एक ही से लागू होते हैं। सत्साहित्य की सृष्टि भी अपने वास्तविक अर्थ में तभी प्रगतिशीलता का दावा कर सकती है जब उसकी निर्मल-धारा की प्रत्येक वीचि और तरंग इसी पवित्रता से युक्त होके उसमें अवगाहन करने वाले व्यक्ति को अनायास आत्मज्ञान और आत्मशुद्धि का वरदान प्राप्त हो जाय। विशेषकर कलात्मक-साहित्य की सृष्टि के क्षेत्र में बाह्याकर्षण कुछ इतने प्रबल होते हैं कि उस ओर बढ़ने का हौसला मनुष्य को बड़ी जल्दी हो जाता है, किन्तु सफलता के साथ उनका सम्पादन टेढ़ी खीर है। इस पथ में खतरे भी बहुत बड़े हैं। यदि साधक असावधान हो तो हित की अपेक्षा जाति और समाज के लिए बहुत बड़ा अहित कर सकता है। यह खतरा आज का नहीं, बहुत पुराना है। इससे बचने के लिए भारत-वासियों में अपने आदिकाल से ही साहित्यसाधकों के लिए बहुत कठोर

नियम और संयमों की शर्त लगा दी थी । केवल यही नहीं विदेशों का साहित्यिक इतिहास भी कुछ-कुछ यही बताता है । ग्रीस के विचारकों में आचार्य प्लेटो का स्थान बड़े महत्व का है । अपने समय में, जैसा प्रसिद्ध है, उनका सा उद्भट विद्वान कोई भी नहीं था, उनकी प्रतिभा अपूर्व थी । उनका सौन्दर्य-प्रेम अनुपम था, किन्तु न जाने किन कारणों से कविता से उन्हें बड़ी चिढ़ थी । उनकी दृढ़ धारणा थी कि काव्य का क्षेत्र व्यक्ति को गुमराह करता है और देश तथा जाति के लिए अभिशाप है । (Dece, tive to the individual and a disastrous to the state) सौन्दर्य का धर्म है कि वह अनायास ही मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करे, किन्तु, इस सौन्दर्य में यदि 'सुख मूलता' न हुई, जो केवलमात्र आंतरिक पावनता के द्वारा आ सकती है, तो वह सौन्दर्य अति आकर्षक होता हुआ भी अनिष्टकारी होगा । प्लेटो के पट्ट शिष्य एरिस्टाटल अपने गुरु की तरह कदाचित् निराशावादी नहीं थे, क्योंकि, जितने ही प्लेटो कलात्मक-साहित्य के विरोधी थे, एरिस्टाटल उतने ही उसके समर्थक थे । इसके खतरे से वे अनजान रहे हों सो नहीं, मानव-चरित्र की कमजोरियों को वे न समझते हों ऐसा भी नहीं । लेकिन वे यह भी जानते थे कि यदि आवश्यक प्रतिबन्धों के साथ उचित सामर्थ्य और गुणों से युक्त व्यक्ति यदि इस क्षेत्र में उतरें तो न केवल उन्हीं का प्रयास सार्थक हो जायगा, वरन् वे अभिशाप के बदले मानव को वरदान देने में भी समर्थ हो सकते हैं । अपनी कृतियों के द्वारा मनुष्य की सहज निम्नगामनी प्रवृत्तियों को बनाने में भी समर्थ हो सकते हैं । जहां एरिस्टाटल मनुष्य की कमजोरियों से परिचित थे वहीं उसके भीतरी बल का भी उन्हें भरोसा था । एरिस्टाटल और प्लेटो में एक गहरा अन्तर था । अपनी समस्त प्रतिभा के बावजूद भी प्लेटो दार्शनिक थे । किन्तु एरिस्टाटल विचारक और विज्ञान वेत्ता भी थे । वैज्ञानिक प्रवृत्ति मनुष्य में जहां एक ओर विशेष गवेषणात्मक प्रवृति को जगाती है वहीं उसे विशेष रूप से आशावान भी बनाती है । दार्शनिक प्रवृत्ति अपने स्वभाव से ही उदासीनता को प्रश्रय देती है । कलात्मक साधना का मूल मंत्र निर्धारित करते हुए आचार्य एरिस्टाटल ने निर्देश किया था कि 'कविता का परम उद्देश्य है प्रकृति के अनुकरण के माध्यम से सुख की प्राप्ति' (the object of poetry is to please by imitating nature) आगे चलकर, वे, स्वयं, कला-साधक को अपने मार्ग पर दृढ़ रहने के तथा उसे बाहर प्रपञ्चों से अडिग रहने के लिए स्पष्ट निर्देश करते हैं,

'poetry is more really philosophical that history and that a probable impossibility can be more artistic and satisfactory that a possibility which is not made probable'

उपर्युक्त निर्देश में काव्य का ज्ञानोन्मुख होना तथा काव्योचित कल्पना का आवश्यक रूप से सार्थक होना केवल सांकेतिक रूप में नहीं माना है, वरन् स्पष्ट निर्देश काव्य और इतर वर्गों की कलात्मक रचनाओं के संबन्ध में देश-विदेशों की परिस्थितियाँ तथा उनसे सम्बन्धित समस्याएँ प्रायः एक सी ही रहीं। विभिन्न देश और कालों के मनीषी विचारक कुछ भी सोचा करें, आवश्यकतानुसार जो चाहें निर्धारण और प्रतिबन्ध लगाएं किन्तु, कला स्वभाव गुण, और अपने धर्म से ही सजीव हुआ करती है। कलात्मक सृष्टि का विधाता कितना ही समर्थ क्यों न हो अभिव्यक्त होकर वह स्वयं अपना रूप ग्रहण कर लेती है। प्रारम्भ में, या यों कहना चाहिए अपनी रूपरेखा के निर्धारण में वह अपने स्रष्टा के वश में अवश्य रहती है, किन्तु पथ पर अग्रसर होते ही वह स्वच्छन्द गति से आगे बढ़ने लगती है और उसका विधाता उसे बनाता सवारता, उसका अनुगामी सा हो जाता है। इसके उदाहरण साहित्य में भरे पड़े हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य पर ही यदि एक दृष्टि डाली जाय तो दो-चार उदाहरण ही इस सत्य को प्रमाणित कर देंगे। प्रसिद्ध 'चन्द्रगुप्त' नाटक के लेखक कला और कलम के धनी प्रसाद जी उपर्युक्त नाटक में चन्द्रगुप्त को ही नायक तो बनाना चाहते थे। किन्तु क्या बना सके ? 'मेघनाथ-वध' के परम प्रसिद्ध एवं सिद्ध प्रणेता बंगला साहित्य के पंडित और माने हुए कलाकार माइकेल मधुसूदनदत्त अपने 'मेघनाथ वध' में दैत्यकुल की संकल्पबद्ध प्रतिष्ठा करने बैठे थे, अपनी बुद्धि की समस्त प्रखरता के बावजूद भी राम को अपने काव्य में अप्रधानता प्राप्त करने से क्या रोक सके ? इसी प्रकार के एक नहीं कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। विविध युगों में रचे गए साहित्य की गाथा कुछ ऐसी ही है। नियमों और आत्म संयम के आधार पर कलात्मक कृति के अंग और उपांगों का सुव्यवस्थित गठन तो अवश्य किसी सीमा तक संभव हो सकता है, किन्तु रूप का विकास नैसर्गिक ही होता है। उस पर अंकुश लगाने की चेष्टा कुछ वैसी ही विफल होती है जैसी उसके माता-पिता की होगी जो अपने शिशु के शैशव कालीन रूप को देखकर विमुग्ध होता हुआ यह आकांक्षा करे कि वयस्क होकर भी शिशु का मुख शैशव तुल्य ही रह जाय। तब स्पष्ट हो गया कि नियम और संयम इत्यादि के

कलाक्षेत्र के बन्धन अपने निर्वाह में अन्य नैसर्गिक परिस्थितियों एवं वातावरण पर भी निर्भर रहा करते है, और उन्ही से प्रभावित होती हुई कलात्मक कृतियाँ जन्म ग्रहण किया करती है।

इस प्रकार सैकड़ों वर्षों की कलात्मक साहित्य-निधि का लेखा-जोखा लेकर साहित्यिक इतिहास का प्रणयन बहुत सरल नहीं होता। साहित्यिक इतिहास की परिभाषा सी करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है— 'आदि से अन्त तक चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्यिक परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है (हिन्दी साहित्य का इतिहास)।' इसी को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि 'साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।' उनका यह कथन निश्चित रूप से कलात्मक साहित्य के सम्बन्ध में ही है। यह और अधिक स्पष्ट हो जाता यदि वे 'संचित प्रतिबिब' के साथ 'कलात्मक' विशेषण और जोड़ देते। साहित्य के इतिहास का जो रूप और जो ध्येय उन्होंने निर्धारित किया है उसमें प्रायः दो मतों की सम्भावना नहीं। इस दृष्टिकोण से हिन्दी के लगभग एक हजार वर्ष के लम्बे-चौड़े विस्तृत साहित्य का क्रमबद्ध लेखा-जोखा लेना बहुत सरल नहीं, और विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जबकि साहित्यिक शृंखला की कड़ियाँ टूटी-फूटी, छिन्न-भिन्न और विलुप्त भी हो गई है। इन्हें देखते हुए साहित्यिक-इतिहास के जो कुछ भी प्रयास आज हमारे सामने उपस्थित है उन्हें स्तुत्य ही कहना पड़ेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ही 'चित्तवृत्तियों की परम्परा' को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा ही हमारे विविध साहित्यिक इतिहास लेखकों की परिपाटी रही है। इस प्रकार के प्रयोग बहुत पहले से किए जा रहे थे। पाश्चात्य विद्वानों में इस ओर कदम बढ़ाने वालों में 'इस्त्वार द ला लितेरात्योर' के प्रसिद्ध लेखक 'गार्सां द तासी' (सन् १७५०) का नाम सर्वप्रथम आता है। यह फ्रांसीसी विद्वान् प्रधान रूप से राजस्थान के अंचल में सुरक्षित साहित्य की खोज में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में आया था। इसकी कृति इतिहास तो नहीं कही जा सकती लेकिन इसके द्वारा छः सात सौ हस्तलिखित ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखी गई टिप्पणियाँ साहित्यिक इतिहास की सामग्री की कोटि में विशिष्ट रूप से आती हैं। महेशदत्त शुक्ल का सन् १८७३ में लिखा गया 'भाषा-काव्य-संग्रह' और सन् १८८३ में शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखित 'शिवसिंह सरोज' साहित्यिक-इतिहास लेखन के पूर्व प्रयास थे। इसके अनन्तर ग्रियर्सन का 'माडर्न लिटरेचर आफ

हिन्दुस्तान', मिश्रबन्धु-विनोद', डा० श्यामसुन्दरदास की 'हिन्दी-कोविद रत्नमाला' इत्यादि कितनी ही इस प्रकार की रचनाएं सामने आगई' और साहित्यिक-इतिहास लेखन की परिपाटी का सूत्रपात हो गया। विविध विद्वानों ने इस लम्बे-चौड़े साहित्य का अपने-अपने ढंग से काल विभाजन किया, कृतियों की रूप-रेखा के आधार पर विविध साहित्यिक कालों के नामकरण संस्करण किए और आज के हिन्दी-साहित्य के गम्भीर चिन्तकों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।

विविध कालों का वर्तमान स्थिर रूप इस प्रकार माना जाता है--

(१) आदिकाल (वीर गाथा काल) सन् ९९३-१३१८
(२) पूर्व मध्यकाल (भक्ति काल) „ १३१८-१६४३
(३) उत्तर मध्य काल (रीति काल) „ १६४३-१८४३
(४) आधुनिक काल (गद्य काल) „ १८४३-वर्तमान समय।

जैसा सर्वविदित है उपर्युक्त विविध नामों से यह काल-विभाजन आजकल के प्रायः सभी इतिहास लेखकों द्वारा स्वीकृत हुआ है।

विशेषकर किसी महान् और प्राचीन साहित्य के क्रमिक अध्ययन में काल-विभाजन आवश्यक हो ही जाता है क्योंकि मानव की रुचि और मानसिक प्रवृत्तियां चिर-नवीन, विकासोन्मुखी और परिवर्तनशीला हुआ करती हैं। परिपक्व होकर प्रसारित और जीर्ण होने तक वे अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। चित्तवृत्तियों की यह युगीन-परम्परा सामयिक-साहित्य पर निश्चित रूप से अपना प्रभाव रखती है। वरन् यह भी कहना गलत न होगा कि किसी युग के मानव की चित्तवृत्तियों का अध्ययन जितनी सफलता से साहित्य के माध्यम से किया जा सकता है, उतना कदाचित् अन्य किसी माध्यम से सम्भव नहीं। किन्तु समय के आधार पर काल-विभाजन का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि किसी काल-विशेष के अवशेष पर द्वितीय काल के प्रारम्भ होते ही बिलकुल नए प्रकार के साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। साहित्य की सरिता तो पुण्यतोया भागीरथी की वेगवती धारा के समान अजस्र और अनन्तवाहिनी है। कालविशेष और जनरुचि की कैसी भी सुदृढ़ चट्टान क्यों न हो, न उसकी धारा को रोक सकी है और न उसके प्रवाह में बाधा ही डाल सकी है। गंगोत्री से प्रवाहित प्रखर गंग-धारा में सूर्यनन्दिनी अपने समस्त वैभव और वेग को लेकर आ मिली। रस विपर्यय अवश्य हुआ, विस्तार, गाम्भीर्य और प्रखरता में वृद्धि भी हुई, किन्तु धारा गंगा की ही रही। कालान्तर में सोनभद्र और न जाने कितनी धाराएं पतित-पावनी

भागीरथी में मिलकर गंगसहचरी की कीर्ति से अपने आपको विभूषित करती रहीं, अपने सर्वस्व को समर्पित करके भी गंगश्री को निजश्री में परिवर्तित न कर सकीं। ठीक यही परिस्थिति किसी भी महान साहित्य की अजस्र प्रवाहिनी धारा की भी हुआ करती है। समय-समय पर विविध-युग, विचार और युग-प्रवृत्तियां सामयिक साहित्य में प्रतिबिम्बित होकर नवप्रवाह के रूप में चिरप्रवाहिनी साहित्यिक धारा में आ मिलती हैं, स्वयं निखर उठती हैं, नया वेग उत्पन्न कर देती हैं और साहित्य के चिर-नव-विकास में सहायक सिद्ध होती हैं।

इस दृष्टि से साहित्यिक अध्ययन में काल-विभाजन की परम्परा प्रायः सर्वत्र ही उपयोगी एवं आवश्यक परिपाटी रही है। किन्तु हमारे इतिहास लेखकों ने समय के आधार पर नामकरण संस्कार भी कर दिए। इस प्रथा का किसी अर्थ में थोड़ा महत्व हो सकता है, किन्तु गवेषणात्मक अध्ययन में इस प्रकार से की गई नामकरण प्रणाली न सहायक सिद्ध होती है न वास्तविक। वीरगाथा काल कहने से ही किसी को भी भ्रम हो सकता है कि कदाचित् उस काल की रचनायें आमूल इसी रूप की रही होंगी तथा वे विशेष रूप से वीर-रस-प्रधान रही होंगी। इन दोनों में से एक भी ठीक नहीं। ऊपर कहा जा चुका है कि आदिकाल के उपलब्ध साहित्य में निस्सन्देह अधिकांश रचनाएं प्रसिद्ध वीरों के जीवन से सम्बन्धित हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब वीर-रस प्रधान हैं। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस समय की सारी रचनायें केवल वीरों के चरित्रों को लेकर लिखी गई थीं। आज की उपलब्ध सामग्री सिद्ध करती है कि उसी युग में सामन्ती अंचलों को छोड़कर अन्यत्र अन्य रूप की प्रेमकथायें, भक्त चरित्र, काव्य-ग्रन्थ इत्यादि भी लिखे ही जा रहे थे। इसी प्रकार भक्तिकाल, रीतिकाल और गद्यकाल के दिए गए नाम भी उक्तकालीन साहित्य की समीक्षा पर खरे नहीं उतरते। आज कौन कह सकता है कि जिसे भक्तिकाल कहकर इंगित किया गया है उसी काल में भक्ति-रस पूर्ण साहित्य की प्रधानता होते हुए भी अन्य रूप और प्रकार के साहित्य की रचना परिपुष्ट हाथों द्वारा नहीं हो रही थी। आचार्य केशवदास तथा उसी परम्परा के अनुयायी अनेक अन्य विशुद्ध काव्य-रसिक उसी काल में तो अपनी काव्य-साधना करते थे। निर्गुण-सम्प्रदाय वाले कबीर के पूर्वज अनेक सन्त साधक इसी काल में अपनी अमृत-मयी वाणी की वर्षा कर रहे थे। प्राचीन सूफी सम्प्रदाय के प्रेममार्गी गायक भी तो इसी काल में अपनी सरस सुहावनी काव्यांगों से भरपूर रागनियों से

साहित्य के कोष को सम्पन्न कर रहे थे। यह अवश्य है कि निर्गुण सम्प्रदाय के साधकों और प्रेममार्गी सूफियों द्वारा विरचित साहित्य अपने दृष्टिकोण में धार्मिक भावना से ओत-प्रोत था। किन्तु, विशुद्ध अर्थों में इस कोटि के व्यक्तियों को भक्तों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

इसी के उपरान्त यदि 'रीतिकाल' के नाम की सार्थकता पर विचार किया जाय तो यह भी बहुत अंशों में सार्थक नहीं जान पड़ता था। क्योंकि इस समय के ही विशुद्ध काव्य-सेवियों की अधिकतर रचनाएं काव्यशास्त्र में प्रयुक्त 'काव्य-रीति' की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, क्योंकि रीति' का अर्थ काव्य-शास्त्र के अनुसार 'विशिष्टा पद रचना रीतिः' कहा गया है, इसका निर्वाह इस काल में प्रस्तुत की गई समस्त काव्य-सामग्री में कहाँ तक हुआ है यह किसी भी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् से छिपा नहीं है। इस नामकरण का इतिहास कुछ इस प्रकार है कि 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' के द्वारा जिस समय हिन्दी का प्रसिद्ध कोष 'शब्द सागर' प्रकाशित हो रहा था, उस समय उसके सम्पादकों ने तै किया कि उसकी भूमिका के रूप में अतिवांछित हिन्दी साहित्य का एक इतिहास जोड़ दिया जाय जिसका प्रणयन बाबू श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिलकर किया था। और 'शब्द-सागर' की भूमिका-स्वरूप वह आज भी वर्तमान है। उपर्युक्त काल विभाजन और नामकरण भी इन्हीं के द्वारा किया गया था। 'रीति-काल' नाम के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने बाबू श्यामसुन्दर दास जी से कैफियत तलब की थी और उत्तर में उन्होंने स्पष्ट कहा था- कि 'रीति-काल' के इस नाम के पीछे 'काव्य-रीति' का अर्थ नहीं, वरन् उनकी धारणा यह थी कि ऐसा काव्य, जो काव्यांगों की पूर्ति के रूप में रचा गया हो तथा जिसमें काव्य-शास्त्र द्वारा निर्धारित नियमों की पाबन्दी विशेष रूप से अभीष्ट रही हो—उस प्रकार के काव्य-समूह को उन्होंने रीति-काव्य की संज्ञा दी थी। इस विषय का उनका एक नोट उसी समय 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में वक्तव्य के रूप में प्रकाशित हुआ था। यदि यह भी सही मान लिया जाय, तब भी प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है; क्यों कि इस तथाकथित रीतिकाल में भी भक्ति-रसमयी रचनाएं अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचुर मात्रा में हो ही रही थीं। निर्गुण साधकों की काव्यमयी वाणियों का स्रोत शुष्क नहीं हो गया था। प्रेममार्गी सूफियों का सुरीला राग राम और कृष्ण की साकारोपासना के परम सजीव उमड़े हुए प्रवाह से कुछ मन्द अवश्य पड़ गया था, उसमें कुछ शिथिलता आ गई थी, किन्तु वह विलुप्त नहीं हो गया था।

इसके अतिरिक्त इस काल के सम्बन्ध में एक और जटिल समस्या आज के साहित्य के विद्यार्थी के सामने उपस्थित है। यदि रीति-काल नाम देने वालों की कैफियत को ज्यों का त्यों स्वीकार भी कर लिया जाय तो सहसा प्रश्न खड़ा हो जाता है कि उनमें से किसको आचार्य कहा जाय और किसे नहीं, और क्यों ? इस कोटि के अधिकांश काव्य-रचयिता यदि अपनी समस्त काव्य-राशि को निर्धारित काव्यांगों की तुला पर कस कर ही निर्मित कर रहे थे तो अवश्य ही पाण्डित्य का उनका दावा सिद्ध हो जाता है और इस नाते उनका आचार्य होना भी सिद्ध होना ही चाहिए। किन्तु आलोचक वृन्द इस प्रकार के दावे को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं। तब, आवश्यक हो जायगा कि पहले आचार्य धर्म की ही मीमांसा कर ली जाय। अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार आचार्य शब्द की साधना होती है आ+चर+णयत्। भारतीय परिपाटी के अनुसार यह प्रसिद्ध शब्द भी हमारे यहाँ परिभाषित हो चुका है, स्वयं महर्षि मनु ने इसकी परिभाषा दी है। वे कहते हैं—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत द्विजः ।
सकल्पं स रहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ २—१४०-१७१

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि केवल वही व्यक्ति जो अपने कर्म और धर्म में द्विज हो, अर्थात् इस शब्द से व्यक्त उदात्त धर्मशील हो। वेद अर्थात् समस्त ज्ञान-राशि का केवल ज्ञाता ही न हो वरन् क्षमता रखता हो कि उपयुक्त व्यक्ति को उसका ज्ञान भी करा सके। ज्ञान के विषय में महर्षि मनु 'सकल्पं' और 'सरहस्यं' कहकर स्पष्ट कर देते हैं कि वह बाह्य ज्ञान तथा उसके अंतर्निहित गूढ़तम रहस्यों का भी ज्ञाता हो; सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में कुशल हो तथा उसके प्रदान करने की योग्यता भी रखता हो।

इस परिभाषा के बाद जहां तक इस आचार्यत्व की विशिष्ट महत्त्वपूर्ण पदवी का प्रश्न है, उसका कौन अधिकारी हो सकता है, और कौन नहीं—यह निर्णय करना कठिन नहीं रह जाता। काव्यक्षेत्र में ही सही काव्य का आचार्य वही व्यक्ति हो सकता है जो काव्य-सिद्धान्तों का मर्मज्ञ पण्डित हो और उन सिद्धान्तों को अपनी काव्य-सृष्टि के द्वारा रूप देने में समर्थ हो। अन्य काव्य रसिकों में काव्य-रहस्य तथा रस के रसास्वादन की शक्ति उत्पन्न कर सकें तथा काव्य साधकों में काव्य-प्रणयन की केवल प्रेरणा ही नहीं वरन् शक्ति का भी संचार कर सके। इस कसौटी पर रीति-कालीन कितने काव्य-स्रष्टा आचार्यत्व की पदवी को किसी सफलता के साथ धारण कर सकेंगे यह कहना कठिन है। जहाँ तक प्रमाण प्राप्त हैं वहाँ तक

शायद निर्विवाद कहा जा सकता है कि भारतीय प्राचीन परम्परा में आचार्यत्व की पदवी का महत्त्व असाधारण है। आदि से अंत तक सारे महाभारत में अगणित पुरुषार्थी व्यक्तियों के बावजूद भी आचार्यत्व की पदवी ग्रहण करने वाले थे केवल दो—द्रोणाचार्य और कृपाचार्य। धनुर्वेद के अप्रतिम दुर्द्धर्ष मृत्युञ्जय अधिष्ठाता पितामह भीष्म भी आचार्य न कहलाए, क्योंकि वे स्वयं पुरुषार्थी थे, वीर थे धनुर्विद्या के कुशल नायक थे किन्तु वे उस विद्या को वितरित करने के अधिकारी नहीं थे। साहित्य-क्षेत्र में ही देखा जाय तो परम यशस्वी कवि और नाटककार भास, कालिदास भवभूति प्रभृति अमर कला-सेवी भी आचार्य न कहलाए। इस पदवी से विभूषित होने वाले इने गिने ही थे—मम्मट, दण्डी, बाणभट्ट तथा अभिनवगुप्त। मध्ययुग में भी आचार्यत्व से विभूषित केवल एक ही नाम सामने आता है—और वह है आचार्य केशवदास।

इसी तथाकथित रीतिकालीन काव्य-सामग्री में स्थल-स्थल पर राधा और कृष्ण का नाम कुछ इस प्रचुरता से मिलता है कि किसी भी साधारण हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी को यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि राधा-कृष्ण के नाम की प्रचुरता के बावजूद भी सन् १६४३ से सन् १८४३ तक के दो सौ वर्षों के समृद्ध साहित्य को भक्ति-काल से क्यों पृथक कर दिया गया? इसके उत्तर में हमारे अनेक प्रसिद्ध आलोचकों और इतिहास लेखकों की कैफियत—कुछ इस प्रकार मिलती है कि इस युग के साहित्य में भक्तिभावना लुप्त सी हो गई थी, और सस्ती वासनामयी शृंगारिकता कृष्ण और राधा के नाम पर धर कर बैठी थी। साहित्य का स्तर वासना-प्रधान शृंगारिकता के कारण बहुत नीचे आ गया था। और इन्हीं इतिहास लेखकों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि तथाकथित भक्तिकाल में कृष्णोपासना के भक्तों द्वारा उनकी लीलावर्णन के मिस साहित्यिक वातावरण में शृंगार-प्रियता असाधारण रूप से संचरित हो गई थी। उसी का विद्रूप वे रीतिकालीन रचनाओं में मानते हैं। यह निष्कर्ष भी सभी परिस्थिति पर गम्भीरता से विचार करने के बाद न्यायसंगत नहीं ठहरता। इस भ्रामक निष्कर्ष का कारण भी अनावश्यक रूप से विविध कालों को दे डाले गए विविध नाम ही हैं, उसी नामकरण संस्कार का परिणाम अनायास यह हुआ है कि साहित्य के विद्यार्थी पूर्व और पर के सम्बन्ध से विविध कालों में उपलब्ध हुई साहित्यिक सामग्री का कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। हमारे उपर्युक्त कोटि के आलोचक अनायास इसी भ्रम के शिकार हो गए। उन्होंने यह तो मान

लिया कि रीतिकालीन-वासना-प्रधान शृंगारिकता भक्तिकालीन कृष्ण लीला की अंतर्निहित शृंगारिकता का परिणाम है, किन्तु इसी नियम के अनुसार तब उन्हें यह भी सोचना चाहिए था कि रासो-काल के बाद अनायास ही तथाकथित भक्तिकाल का प्रादुर्भाव कैसे हो गया ? कार्य के कारण रूप से तो रासो-काल या वीरगाथा-काल के बाद भक्तिकाल की सम्भावना तो हो ही नहीं सकती । अतः यह मानना ही पड़ेगा कि भक्ति से ओत-प्रोत हिन्दी के मध्यकालीन प्रचुर साहित्य सामग्री के उद्‌भव का स्रोत तद्‌रूपी अपभ्रंश के साहित्य में रहा होगा जो अनुकूल परिस्थितियों में भक्तों की वाणियों में उमड़ पड़ा था, और प्रमाण स्वरूप विद्यापति इत्यादि की सामग्री हमारे सामने है भी।

इसी प्रकार ऊपर निर्धारित हो चुका है कि तथा कथित भक्तिकाल में भी केशव प्रभृति सिद्ध काव्य-सेवी विशुद्ध काव्य-सेवा कर ही रहे थे और रीति काल के काव्यांगों की पूर्ति के निमित्त काव्य-रचना करनेवाले अगणित कवि सूर, तुलसी, मीरा, कबीर इत्यादि की परम्परा में नहीं वरन् विशुद्ध काव्यसेवियों की परम्परा के हैं । इनकी कृतियों में कृष्णभक्तों द्वारा निर्मित काव्य सामग्री की ओर देखना व्यर्थ की विडम्बना है । तथाकथित रीति-कालीन काव्यसामग्री की समीक्षा प्रधान रूप से तीन प्रश्नों को उपस्थित करती है:

(१) इस काल के कवियों का राज्याश्रयी होना,

(२) उनकी कृतियों में विलासिता और वासना-प्रधान शृंगार का बाहुल्य,

(३) इनके काव्य में स्थल-स्थल पर राधा और कृष्ण का उल्लेख ।

यदि काल-क्रम के अनुसार जैसा आलोचकों ने निर्धारित किया है इन्हें भक्त कवियों की परम्परा में मान लिया जाय तो इनके राज्याश्रयी होने का सूत्र हमें कहां मिलेगा । क्यों कि भक्त कवियों में किसी का कोई नाता किसी राजा या सामन्त से नहीं सुना गया । राज्याश्रयी होने की परिपाटी रासो-लेखक कवियों में अवश्य थी, तब पहले प्रश्न का उत्तर यथार्थ में यही देना होगा कि इस काल तक विजितभारत-शासन-व्यवस्था की व्यवस्थित हो चुकी थी । यद्यपि भारतीय रजवाड़े स्वतंत्र तो नहीं थे किन्तु फिर भी अपने-अपने क्षेत्रों में यवन सम्राटों के अधीन शांति और आंशिक स्वतंत्रता की सांस ले ही रहे थे । चारों तरफ के शांत वातावरण के कारण उनका जीवन निष्कंटक था, शूरता और वीरता के प्रदर्शन के अवसर यदा-कदा

ही किसी-किसी के जीवन में उपस्थित होते थे । शेष नृपतियों का समय आखेट आमोद-प्रमोद और अपने मुगल-सम्राटों के सस्ते अनुकरण स्वरूप विलासिता में ही कटता था दो-चार कला मर्मज्ञ शासकों को छोड़कर अन्यों के लिए किसी कवि या कवि-समुदाय को अपने यहां आश्रय देना कुल परम्परा और प्रतिष्ठा के निर्वाह स्वरूप ही होता था । उनका आश्रित कवि भी बहुत अंशों में जानता था कि उसका स्थान अपने गुणों के कारण कम, आश्रयदाता की अनुकम्पा पर ही अधिक टिका हुआ था । इसी के साथ विलासमय-जीवन में रहते-रहते वह राज्याश्रित कवि भी तो कम विलासी नहीं हो गया था । ऐसी परिस्थिति में उसके द्वारा निर्मित काव्य-राशि में शृंगार-प्रधान स्वर का तीव्र हो उठना स्वाभाविक था । इसके पीछे आश्रयदाता की तुष्टि का लोभ तो था ही, साथ ही उसकी आत्मचेतना भी तो इसी रंग में रंगी हुई थी ।

इनके काव्य में राधा-कृष्ण के निमित्त की प्रधानता का कारण कृष्ण-भक्तों द्वारा गाई गई कृष्ण-लीला की प्रेरणा नहीं थी । इसका स्रोत ढूंढने के लिए भी हमें इसके पूर्ववर्ती रासो-रचयिता कवियों तक ही जाना पड़ेगा । रासो-काव्य वीरों की गाथाओं से ओत प्रोत हैं । वे, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे । उनके जीवन की घटनाएं तथा उनसे सम्बन्धित प्रायः सभी चरित्र ऐतिहासिक थे । उनका प्रेम और कलह भी वास्तविक था । इसलिए उनकी गाथा गाने वाले कवि को शृंगार रस के निमित्त भी काल्पनिक नायिकाओं की खोज की आवश्यकता नहीं थी । उन वीर सामन्तों की प्रेम-पात्री नायिकाओं को लेकर ही रासो के रचयिताओं ने अंग उपांगों सहित शृंगार-रस के काव्य की सफल साधना की थी—किन्तु, उन्हीं की परम्परा का यह रीतिकालीन कवि इस क्षेत्र में असहाय था । इसके आश्रयदाता न उस प्रकार की विश्रुत वीरता से युक्त थे और न इनकी विविध प्रेमिकाएं इस उच्चस्तर की थीं कि उनका नाम लेकर उल्लेख किया जा सके । अतः रीति-काल के कवि के लिए नायिकाओं का उल्लेख अभिधात्मक रूप से नहीं वरन् व्यंजनात्मक रूप से करना ही आवश्यक था । राधा और कृष्ण आदर्श नायक और नायिका—प्रेमी और प्रेमिका—के रूप में उसके सामने थे ही । इसलिए शृंगार-साधना के मिस उन्हें निमित्त बना लेना इस कवि के लिए सरल प्रतीत हुआ और यही रहस्य है रीतिकालीन कविता में राधा-कृष्ण के बहुलता से प्रयुक्त नामोल्लेख का ।

इसी युग में परिगणित एक और कोटि है जिसके प्रमुख कवि हैं—सूदन

लाल और भूषण। इनकी विशेषता रही है वीर-रस प्रधान काव्य-रचना की। रीतिकालीन कवि होने के नाते ही अनेक स्थलों पर इनकी कविता में भी काव्यांगों को पोषण यथेष्ट मात्रा में मिला है। ये भी राज्याश्रयी थे किन्तु इनकी प्रेरणा का स्रोत इनके आश्रयदाता की स्वभावजन्य वीर प्रवृत्ति के कारण शृंगारिकता की ओर न झुक कर वीरता की ओर झुका। आज का साहित्य समाज इनकी काव्य-राशि की विवेचना करते समय निश्चय नहीं कर पाता कि इन्हें वीर-काव्य-रचयिता की कोटि में रखे, या राष्ट्रीय कवियों में। यहां स्मरण रखना होगा कि आज के युग में राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय शब्द विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि उपर्युक्त कवियों की प्रेरणा के स्रोत थे उनके आश्रयदाता वे शूरवीर सामन्त, जो भारत में फैले हुये यवन-साम्राज्य के कट्टर विरोधी थे। उनसे लोहा लेना इनके जीवन का दैनिक कार्य-क्रम था। फलस्वरूप इन कवियों की कविताओं में यवनों के प्रति रोष और भर्त्सना का भाव प्रत्यक्ष छलछलाता है। इनके आश्रयदाता वीरता के प्रतीक स्वरूप तो चित्रित हैं ही, किन्तु साथ ही, उस समय की भारतीयता अर्थात् हिन्दुत्व के भी नायक हैं और इनकी ओजभरी वाणी में हिन्दुत्व के जागरण की जो ललकार सुन पड़ती है, उसका निमित्त भले ही कोई हिन्दू नृप हो, किन्तु अपनी भावना में वह आह्वान देश और जाति के प्रति है। आज के राष्ट्रवादी को यवनों के प्रति आक्षेप अराष्ट्रीय जान पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध शासित वर्ग में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। दोनों ही त्रस्त, विपद-ग्रस्त थे। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आधुनिक काल में जो कुछ भी क्रांतियां हुई हैं उनमें अपने-अपने अनुपात में दोनों ही का योगदान था, किन्तु इन आधुनिक राष्ट्रवादियों को यह स्मरण ही रखना होगा कि उपर्युक्त साहित्य-रचना-काल में परिस्थिति आज से बिलकुल विपरीत थी। उन कवियों की वह वाणी वास्तविक रूप में शासित और त्रस्त जाति का शासन के प्रति विरोध था। यवन तो शासक होने के नाते ही उ के विरोध के लक्ष्य बने हुए थे। आधुनिक-काल में राष्ट्रीय-काव्य की संज्ञा उस कोटि के काव्य को दी गई है जो भारतीय प्राचीन गौरव का उद्बोधन करने वाला है, गुलाम भारत की अपनी गुलामी की जंजीरों को तोड़ फेंकने के लिए उत्साहित करने वाला है। आधुनिक-काल के इस कोटि के काव्य को भी वीर-रस प्रधान माना गया है। यद्यपि इस आज की काव्य राशि में जिस वीर-रस का प्रतिबिम्ब हमें दीख पड़ा है वह पहले के वीर-रस से—या यों भी

कहना चाहिये कि अन्य देशीय साहित्यों में चित्रित वीर-रस से मूलतया भिन्न वीर रस अपने स्वभाव और धर्म में उग्रता प्रधान माना गया है। भारतीय साहित्य में भी आधुनिक काल को छोड़कर वीर रस का वही रूप दीख पड़ता है, किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य का राष्ट्रीय-गीत जिस वीर रस से परिपूर्ण है, वह उग्र नहीं सहिष्णु है' लेकिन है वीर ही।* इस दृष्टि कोण से यदि देखा जाय तो रीतिकालीन उपर्युक्त कोटि की काव्य-सामग्री को राष्ट्रीय-काव्य मानने में कोई विशेष असमंजस नहीं होना चाहिए।

इस वर्ग के कवियों को राष्ट्रीय न मानने वालों का कहना यह भी है कि उस समय भारत की जातीयता छिन्न-भिन्न सी थी। राष्ट्र की भावना शायद भारतीयों में जगी भी नहीं थी, किन्तु इसी के प्रत्युत्त उनकी मान्यता है कि आधुनिक काल में अंग्रेजी शासन के एकछत्र विस्तार के फलस्वरूप अन्य कुफल जो कुछ भी हुए हों जातीयता और राष्ट्रीयता की चेतना अवश्य जाग्रत हो गई थी। यह प्रश्न देखने में ऊपर से कुछ जटिल जान पड़ता है, किन्तु, इसमें वास्तविकता कुछ नहीं सी है। किसी देश में निवास करने वाले जन-समूह की जातीयता की भावना शासन व्यवस्था पर नहीं, वरन् सांस्कृतिक और धार्मिक आधार-शिलाओं पर न्यस्त रहा करती है। राष्ट्रीयता की चेतना भी अपने अस्तित्व के लिए प्रधान-रूप से जातीयता की भावना की आश्रयिणी होती है। यदि जातीयता संस्कृति प्रधान होती तो राष्ट्रीयता की भावना शासनतंत्र और उससे सम्बन्धित अन्य व्यवधानों के लिये होती है; एक जन समूह के जीवन के ये दोनों ही अविच्छिन्न पहलू हुआ करते हैं। मध्यकाल में हो भारत में भी, भारत की राज्य-शासन व्यवस्था चाहे जैसी रही हो और किसी की भी रही हो; सुव्यवस्थित रही हो या अव्यवस्थित रही हो, किन्तु जहां तक भारतीयों की धार्मिक और सांस्कृतिक एकता का प्रश्न है—कौन कह सकता है कि वह किसी काल में भी अविशृंखल अथवा एक क्षण के लिए भी विचलित हो गई थी? विजेता और शासक बनकर यवन आए, सत्ता और शासन के बल पर उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति की तोड़-फोड़ के कुत्सित प्रयास एक नहीं, अनेक किए। किन्तु, क्या वे सफल हो सके! अंग्रेज भी यहाँ व्यवसायी और समर्थ शासक के रूप में लगभग दो सौ वर्षों तक जमकर रहे। उग्र और शान्त, किन्तु काईयापन से भरे हुए, कितने ही प्रयास उन्होंने यहां की संस्कृति और धर्म को भ्रष्ट करने के लिए नहीं किए, किन्तु, सुहृढ़ मूलों पर

*'काव्य-चर्चा' पंचम विविध—ललिताप्रसाद सुकुल

आधारित भारत-वासियों की जातीयता को क्या वे उसी सफलता के साथ मिटा सके जिससे वे अमेरिका के निग्रो कहलाने वाले लोगों के धर्म और उनकी संस्कृति को मटियामेट करने में सफल हुए ! यदि आज का राष्ट्रीयवादी इस सिद्धान्त को स्वीकार न करे तो उससे पूछना ही होगा कि इतने सुदृढ़ कौशलपूर्ण शासन की नींवें भारतीयों ने जो हिलाकर देखते-देखते निर्मूल कर दीं, वह कौन सी शक्ति थी ? यदि राष्ट्रीयता का आधार केवल किसी देश की शासन व्यवस्था पर मान लिया जाय तब ब्रिटिश शासन काल में शासन तो विदेशी था, भारतीय राष्ट्रीयता की चेतना कैसे जगी ? ईमानदारी से उत्तर उसे यही देना होगा कि भारत में जातीयता की भावना का अभाव कभी नहीं था। सुअवसर मिलते ही इस विशाल जाति में शासकों के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना अनायास ही फूंकी जा सकती है, और अभीष्ट सिद्धि मिलकर रही। इस जातीय भावना के स्थिर और सजीव रखने में उपर्युक्त कोटि के वीर-रस के गायक कवियों का हाथ भी कम नहीं था। आघात पर आघात सहते हुए भी अपनी ओज भरी अमर वाणी के द्वारा उन्होंने अपने देशवासियों को इसी आशा के साथ जीवित रहने की प्रेरणा तो दे ही दी थी।

जहाँ तक उपर्युक्त तीन कालों के नामकरण का संबंध है वह प्रत्यक्ष रूप से अपने-अपने समयों के प्राप्त साहित्य के प्रधान रूप-गुण और उसमें वर्तमान भावना के अनुसार दिया गया जान पड़ता है। किन्तु आधुनिक काल को गद्य-काल कहना वर्तमान साहित्य के आंतरिक गुणों अथवा व्यक्त भावना पर निर्धारित नहीं जान पड़ता। गद्य अथवा पद्य साहित्यिक अभिव्यक्ति के दो स्थूल रूप हैं, किसी काल को केवल-मात्र गद्य-काल कहने से उस काल के साहित्य की अंतर्निहित भावना, चेतना अथवा उसकी आत्मा का बोध नहीं होता, यों स्थूल रूप से ही सही, आधुनिक काल को एक मात्र गद्य का ही युग मानना भी बहुत न्याय-संगत नहीं। छापेखाने के आज के युग में गद्य के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करना पहले की अपेक्षा अधिक सरल एवं सुविधाजनक हो गया है। किन्तु, जिस काल में मुद्रणकला की व्यवस्था नहीं थी, उस समय केवल कलात्मक साहित्य ही नहीं, वरन् अन्य ज्ञान और विज्ञान का प्रचार गद्य के ही माध्यम से तो होता था, किन्तु गद्यात्मक होने के नाते ही उस काल की समस्त ज्ञान-राशि न तो काव्य के अंतर्गत मानी गई और न उसे कलात्मक साहित्य में ही सम्मिलित किया गया। इसी प्रकार आज मुद्रण-व्यवस्था के द्वारा विचारों के प्रकाश की जो

सुविधा प्राप्त है वह केवल गद्य के ही तो नहीं, पद्य के लिए भी उतनी ही सुलभ है। यदि स्थूल रूप से ही देखा जाय तो कहना कठिन है कि गद्यात्मक रचनाएं पद्यात्मक रचनाओं की अपेक्षा कितनी अधिक हो रही हैं। इसके अतिरिक्त, जहां तक हमारी साहित्य परम्पराओं का संबन्ध है एक समस्या और विशेष रूप से विचारणीय हो जाती है। कलात्मक साहित्य की हमारी परम्परागत मान्यता रही है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अर्थात किसी कलात्मक साहित्यिक कृति के विषय में हमारी कसौटी गद्यात्मक अथवा पद्यात्मक रूप पर नहीं, वरन् उसकी रसात्मकता पर निर्भर है। इसी दृष्टि से आज मुद्रण-यंत्र के प्रचलित हो जाने से गद्य के माध्यम से भी रसात्मक रचनाओं के अनेक रूप सध गए हैं। जैसे उपन्यास, गद्य-काव्य एवं साहित्यिक-निबंध। किन्तु, पूर्व काल में रसात्मक रचना के प्रधान रूप से दो ही माध्यम सुलभ थे—नाटक एवं पद्यमय काव्य।

अब साहित्यिक अध्ययन के विवेचन में जहाँ हमारी सीमा कलात्मक एवं रसात्मक साहित्य तक ही सीमित है, यदि आधुनिक काल के इस कोटि के साहित्य पर एक दृष्टि डाली जाय तो उपर्युक्त नामकरण की असफलता और निरर्थकता अधिक स्पष्ट हो जाती है। केवल हमारे ही साहित्य में नहीं वरन् अन्य भाषाओं के समृद्ध साहित्य के अध्ययन कर्ताओं ने भी अपने यहां के साहित्य के विविध प्रकार, वर्गीकरण एवं काल विभाजन किए हैं। विशेषकर यदि अंग्रेजी साहित्य को ही लेकर देखा जाय तो आधुनिक काल में पिछले कुछ वर्षों से कुछ थोड़े से काल-विभाजनों को वहाँ भी विविध नामों से पुकारा गया है। इस प्रकार का नामकरण वहां के आलोचकों ने ही प्रधान रूप से किया है, न कि इतिहास लेखकों ने—जैसे किसी काल विशेष को शेक्सपीरियन-युग, रेस्टोरेशन-युग, विक्टोरियन युग इत्यादि कहा गया है। आलोचकों ने विशिष्ट साहित्य-सेवियों के नामों पर छोटी-छोटी साहित्यिक परिपाटियों को इस प्रकार के नाम इस लिए दे डाले थे कि उन परिपाटियों में वे उन विशिष्ट व्यक्तियों के कालों में प्रचलित मनोवृत्तियों, आचरणों और उनके द्वारा चलाई गई या प्रोत्साहित की गई साहित्यिक प्रणालियों की स्पष्ट छाप देखते थे। हमारे साहित्य में भी आज यह इस प्रकार के नामकरण की प्रणाली चल पड़ी है। भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र-युग और द्विवेदी-युग प्रसिद्ध हो चुके हैं। इस प्रकार के नामकरण-की कुछ सार्थकता अवश्य है, क्योंकि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के रूप तथा उसमें अंतर्निहित आधुनिक आत्मचेतना के सिद्ध-जनक भारतेन्दु

ही माने जाते है। वे स्वयं ही अपनी कोटि अथवा अपनी तरह के साहित्य निर्माता नहीं थे वरन् आधुनिक इतिहास के पन्ने साक्षी है कि उन्हीं की प्रेरणा से भारतेन्दु-मंडल के प्रसिद्ध भारती के सेवक उन्हीं के रंग में रंगे हुए और उन्ही की छाप से विभूषित हमारे साहित्य के रंग-मंच पर आये थे। क्या गद्य और क्या पद्य, क्या नाटक और क्या उपन्यास अथवा गल्प एवं साहित्यिक निबंन्ध-प्रायः सभी आधुनिक रूप और प्रकार की रचनाओं का नव—सूत्र पात उन्हीं के हाथों हुआ था; पथ-प्रदर्शन और पथ-निर्माण का श्रेय निस्संदेह उन्हीं को है। किन्तु वे अपने अल्प-जीवन-काल में स्वनिर्मित मार्गों को शायद न पुष्ट कर पाए और न निष्कंटक, किन्तु उन्हीं के बाद साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया महावीरप्रसाद द्विवेदी ने। मार्ग बने बनाए थे, परिपाटियाँ चालू हो चुकी थीं, तब इन मार्गों को राजमार्ग बनाना और परिपाटियों को पुष्ट और सुपरिमार्जित करना इनका काम था।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की जो कुछ सामग्री जिन रूपों में आज भी प्राप्त है, उसकी रूपरेखा स्थिर करना द्विवेदी जी का काम था। उनकी पैनी निगाह से यह भी छिपा न था कि साहित्य का सुव्यवस्थित निर्माण पुष्ट आलोचना और समीक्षा का मुखापेक्षी है। अभी तक अति प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल के अंत तक अपार साहित्यिक राशि के होते हुए भी नीर-क्षीर-विवेक शील आलोचना-पद्धति हिन्दी-साहित्य में प्राप्त नहीं थी। पहले समय की परिस्थितियां भिन्न थीं, दृष्टि-कोण भिन्न था साहित्यिक परम्पराएं भी भिन्न थीं। उस समय तक साहित्य के इतने विविध अंग भी तो प्रस्तुत नहीं थे। किन्तु आधुनिक साहित्य अपनी गति और विधि में पग-पग पर पुष्ट आलोचनाओं की मांग कर रहा था। अन्यथा, उसका आधुनिक जीवन के साथ उपयोगी बनकर चलना संभव न था। द्विवेदी जी अपनी प्रकृति से ही आलोचक थे। किन्तु, एक सफल एवं सिद्ध आलोचक के रहस्य को भी जानते थे। साहित्य के सिद्धांत मात्र का ज्ञान ही सफल आलोचक के लिए पर्याप्त नहीं। उसे साहित्य के प्रत्येक अंग के निर्माण की व्यावहारिकता से भी परिचित होना चाहिए। यह वह तभी जान सकता है, जब स्वयं विविध साहित्यांगों की रचना करने का प्रयास करे। अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने की योग्यता रखे। सिद्धान्तों के अनुरूप भावी रचयिताओं के सामने आदर्श उपस्थित करने की क्षमता रखे। द्विवेदी जी की साहित्यस-रचना इन्हीं मान्यताओं को सामने रखकर हुई थी। साहित्य का शायद कोई भी ऐसा अंग नहीं, जिसके कुछ न कुछ

नमूने अपनी लेखनी के द्वारा उन्होंने प्रस्तुत करने की चेष्टा न की हो। यही कारण है कि वे केवल साहित्य-निर्माण में ही सफल नहीं हुए वरन् सफल साहित्य-निर्माताओं को जन्म देने में भी सफल हुए। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो साहित्य के छोटे-छोटे विभागों को व्यक्ति-विशेष के नामों के आधार पर नाम देने की प्रथा अनुचित नहीं ठहरती और न इस परम्परा से किसी नव-प्रचलित साहित्य परिपाटी के उद्भव में कार्य-कारण के सम्बंध जुड़ जाने की ही आशंका हो सकती है।

हिन्दी के आधुनिक काल के साहित्य के सम्बन्ध में भी हमारे इतिहास-कारों का उचित समीक्षात्मक दृष्टि न रखना भयंकर वाद-विवादों का कारण बन गया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रहस्यवादी या छायावादी-प्रवृत्ति के प्रवेश को इतिवृत्तात्मक काव्य-प्रणाली की प्रतिक्रिया मानना अथवा आज के तथाकथित-प्रगतिवाद को इस युग के रहस्यवाद एवं छायावाद की प्रतिक्रिया मानना कम भ्रामक नहीं। इस प्रकार की आलोच्य रचनाएं प्रधान रूप से १९२० ई० के उपरान्त ही हिन्दी के काव्य-साहित्य में प्रविष्ट हुई। यही समय था जब देश में राष्ट्रीयता की उत्तुंग तरंगें उठ-उठ कर आसमान को छू रही थीं। अन्य कारणों के अतिरिक्त तथाकथित रहस्यवादी और छायावादी रचनाओं के उपेक्षित होने का एक कारण यह भी था कि वे समय और परिस्थितियों को देखते हुए कुछ शाम को गाई गई 'भैरवी' सी प्रतीत हो रही थीं। किन्तु वास्तविकता यह है कि किसी काल में सभी कवियों की प्रेरणा का स्रोत न एक रहा है और न कभी रहेगा। उपर्युक्त कोटि की रचनाएं, भाषा, कल्पना एवं परम्परागत रूपों में भिन्न ही नहीं थीं, किन्तु उनमें भावना प्रवणता भी विशेष थी। इस प्रकार की सफल कविता लिखने वाले प्रधान रूप से कुछ ऐसे शांति-प्रेमी व्यक्ति थे जो स्वभाव से ही भावुक थे और कोलाहल से दूर रहने के अभ्यासी थे। कुछ तो आदि से अन्त तक अपने पथ पर अडिग रहे. किन्तु इनमें से कुछ विपरीत आलोचना से कातर हो उठे और अपने नैसर्गिक मार्ग को छोड़कर उग्र रूप से प्रवाहित होने वाले तथाकथित 'प्रगतिवाद' के आवर्त में जा पड़े, किन्तु, उस क्षेत्र में सफल न हो सके, क्योंकि वह उनका था नहीं।

ऐसी कृतियों को इतिवृत्तात्मक काव्य-परम्परा की प्रतिक्रिया मानना तो और भी अधिक बड़ी भूल है। इतिवृत्तात्मक रचनाओं की पृष्ठभूमि भिन्न हुआ करती है। आकार-प्रकार में लघु और गीतिमत्ता लिये हुए ही इस कोटि की अधिक रचनाओं को शायद इतिवृत्तात्मक काव्य-परम्परा की

प्रतिक्रिया कहा गया होगा । किन्तु, तब हमें मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर भी एक दृष्टि डालनी होगी । उस युग में जहाँ एक ओर विविध-प्रेममार्गी सूफियों तथा साकारोपासना में संलग्न अनेक भक्त कवियों द्वारा विरचित अनेकों उत्कृष्ट कोटि के इतिवृत्तात्मक काव्यों के दर्शन होते है, वहीं गेय पद-परम्परा में विविध रसों से भरे हुए अगणित भक्तों द्वारा गाए गए पद तथा अन्य क्षेत्र के कवियों के द्वारा सरस फुटकर छंद भी तो कम नहीं मिलते, वरन् शायद हिन्दी के उस सबसे अधिक समृद्ध काल में भी इतिवृत्तात्मक काव्यों की अपेक्षा इतर काव्य-राशि ही अधिक मिलती है । तब आधुनिक युग की उपर्युक्त कोटि की रचनाओं को इतिवृत्तात्मक काव्य की प्रतिक्रिया कहना कहाँ तक सार्थक होगा ? इसी के साथ यह धारणा भी भ्रामक नहीं कि छायावादी अथवा आधुनिक प्रकार की रहस्यवादी प्रणाली पर इतिवृत्तात्मक काव्य की रचना संभव नहीं । उदाहरण स्वरूप आधुनिक हिन्दी काव्य का परम शिरमौर प्रसाद द्वारा रचा गया 'कामायनी' महाकाव्य दर्शनीय है ।

आज की तथाकथित एवं बदनाम प्रगतिवादी नामधारी कविताओं को या येन-केन प्रकारेण छंद या सुर में बंधी हुई रचनाओं को छायावाद और रहस्यवाद की प्रतिक्रिया मानना या इनके साथ उक्त कोटि की रचनाओं का कार्य-कारण-सम्बन्ध जोड़ना भी असंगत है । इनका सम्बन्ध वास्तविक रूप से राष्ट्रीय उद्‌बोधन के काल में गाए गए विविध नारे-प्रधान उद्‌बोधनकारी गीतों से भले ही हो सकता है । अन्तर केवल इतना ही है कि उस समय के गीतों में उनके गाने वाले देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के उन्मत्त सेनानी थे और वह भी कैसी सेना के, जिसका व्रत और संकल्प था अहिंसा ! उनमें जोश था सात्विकता का, बल था आत्मबलिदान का । भावनाएं उनकी थी विशुद्ध देश-प्रेम की । वहाँ असात्विक असंतोष, ईर्ष्या और द्वेष का स्थान ही कहाँ था ? किन्तु उन्हीं नमूनों पर आज की तथाकथित प्रगतिवाद के नाम पर गली-गली कविता के नाम से गाई जाने वाली रचनाएं, जहाँ एक ओर ईर्ष्या और द्वेष से भरपूर हैं, वहीं वीरोचित दर्प, अभिमान और संयम से रिक्त। इसीलिए इन रचनाओं में हमें वीर रस के उत्साह के स्थान पर प्राप्त होता है—निराशाजन्य निरुत्साह दर्प और ओज भरी सिंहगर्जना के स्थान पर मिलती है शृगालस्वर की कर्कशता । कारण स्पष्ट है ।

काव्य-साधना अथवा कलात्मक साहित्य की सृष्टि अपने मूल में

ही सौन्दर्य की साधना है। कलाकार सौन्दर्य की सृष्टि ही नहीं करता वरन् उसका व्रत हुआ करता है, असुन्दर को भी सुन्दर करना। इसके लिए जिस तप और आत्मसंयम की आवश्यकता है उसकी प्राप्ति बहुत अंशों में कलाकार के संस्कारों पर निर्भर हुआ करती है। परिस्थितियां सम हों, कलाकार उनसे भयभीत नहीं होता। विषम परिस्थितियों को तो वह अपने तप की—अपनी साधना की—सफलता की कसौटी मानता है।

अध्यक्ष:—
हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय,
कलकत्ता।

ललिता प्रसाद सुकुल

प्राचीन हिन्दी कवियों का काव्यादर्श

आजकल हम काव्य का आदर्श, उसके तत्व, प्रयोजन और सिद्धान्त-प्रायः लक्षण ग्रन्थों में खोजते है। लक्षण-ग्रन्थ ही काव्यशास्त्र के विविध अंगों को स्पष्ट भी करते हैं। लक्षण-ग्रन्थ मौलिक काव्य-ग्रंथों के आधार पर निर्मित किये जाते है। संस्कृत और हिन्दी में इस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या में है। हिन्दी के रीतिकाल में तो विशेष रूप से लक्षण ग्रन्थों की ही रचना हुई, किन्तु ये ग्रन्थ अधिकांश संस्कृत के काव्यशास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए है और उदाहरण लक्षणों के आधार पर प्रायः उन्ही लक्षणकार कवियों द्वारा हिन्दी में रचे गए। ऐसी दशा में हिन्दी काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में इस बात की कमी है कि उनके लक्षण स्वच्छन्द-रीति से लिखे गए हिन्दी-काव्य के आधार पर नहीं हैं। स्वच्छन्द हिन्दी-कविता की अपनी विशेषताएँ उसके अनेक भेद-प्रभेद तथा उनके लक्षण और परिभाषाएँ इन प्रसिद्ध काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में नहीं आ पाईं।

किसी भाषा के काव्य के आधार पर जो काव्यादर्श निरूपित किया जाता है, वह निरूपण करने वालों की अपनी व्याख्या और दृष्टिकोण से प्रभावित रहता है। सामान्य-रूप से यह आदर्श और सिद्धान्त सप्रमाण और मान्य होता है पर विशिष्ट रूप से यह आदर्श आधारभूत काव्य के रचयिता का ही है—इस सम्बन्ध में मतभेद भी हो सकता है। कविता के सहारे आदर्श या सिद्धान्त निकालने का महत्व अवश्य है, पर, उनमें अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उनकी विभिन्न व्याख्यायें भी हो सकती हैं। अतः भिन्न-भिन्न कवियों का काव्यादर्श यदि उनके ही शब्दों में मिल सके तो वह हमें

उनके काव्य की ठीक-ठीक व्याख्या ही करने में केवल मदद नहीं देता, वरन् काव्य-सम्बन्धी आदर्श के विकास के अध्ययन में भी सहायक होता है। अतः हम इस दृष्टिकोण से स्वच्छन्द रूप में लिखे गए काव्य के अन्तर्गत कवि के अपने शब्दों में लिखित काव्यादर्श का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

यह सदा सम्भव नहीं है कि सभी कवियों का उनके शब्दो में काव्यादर्श मिल जाय, और न यही संभव है कि काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर विचार मिल सकें, पर यदि कुछ मिलते है तो उनसे काव्य-स्वरूप सम्बन्धी उनकी धारणा तो स्पष्ट हो ही जाती है और कभी-कभी किसी एक अंग पर विचार प्राप्त कर उसके सहारे दूसरे अंगों की भी थोड़ी बहुत व्याख्या उनके कथन के प्रकाश में की जा सकती है। अतः इस प्रकार के कथनों द्वारा काव्या-दर्श को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस निबंध में हम आधुनिक काल से पूर्ववर्ती कुछ कवियों का इसी उद्देश्य से अध्ययन करेंगे।

हिन्दी के कवियों ने यद्यपि अपनी रचनाओं में काव्यादर्श सम्बन्धी उल्लेख बहुत कम किए हैं, फिर भी प्रयत्न करने पर जो कथन यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं वे काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते है। पूर्ववर्ती कवियों का विभिन्न-कालीन काव्यादर्श यदि हम संक्षेप में व्यक्त करना चाहें तो कह सकते हैं कि वीरगाथा लेखक कवियों का आदर्श लोक भाषा में अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वीर पुरुषों और विशेष कर राजाओं महाराजाओं की वीरता, वैभव और विलास का वर्णन करना है; उनका मुख्य उद्देश्य बढ़ाकर वर्णन करना जान पड़ता है। भाषा की शुद्धता, काव्य-शास्त्र के नियमों का पालन और सूक्ष्म उक्ति चमत्कार की ओर उनका ध्यान नहीं है; मध्यकालीन भक्त कवियों तथा सिद्ध-जैन कवियों के काव्यादर्श में धार्मिकता प्रधान है, निर्गुण या सगुण ईश्वर के स्वरूप का वर्णन, साधन के रूप में योग या भक्ति सम्बन्धी चुभती उक्तियां और भाव पूर्ण कथन—इन कवियों का मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है। सिद्ध,जैन और निर्गुणोपासक कवियों में साधनों का इतना अधिक वर्णन है कि इनकी रचनाओं को उपदेश प्रधान ही कह सकते हैं, पर सगुणोपासक या भक्त कवियों का काव्य बड़ा ही सरस और भावपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह शुद्ध प्रयोग व्यवहार-संगत और ललित है। इन कवियों में नम्रता का भाव विशेष रूप से है। पर रीतिकालीन कवियों में काव्य-शास्त्र के आधार पर ही चलने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। परिमार्जित प्रांजल भाषा, उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति

आदि की सिद्धि इनका लक्ष्य है।

आधार रूप में, अधिकांशतः हिन्दी कवियों का पथ-प्रदर्शक संस्कृत काव्य है। वीर गाथा और भक्तिकालीन काव्य अधिकांशतः रामायण, महाभारत रघुवंश और पुराणों को अपने आदर्श रूप में लेकर चलता है और रीतिकालीन-काव्य, संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों—जैसे नाट्यशास्त्र, काव्यादर्श, चन्द्रालोक, रसमंजरी, रसतरंगिणी, काव्यप्रकाश आदि को। व्यक्तिगत कवि भी अपनी विशेष युग-प्रवृत्ति के अनुसार इन्हीं ग्रंथों से प्रभावित हुए हैं पर उनकी समयोपयोगी अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं।

वीरगाथा-युग की कविता राजाओं की प्रशंसा, युद्ध वर्णन तथा उनके वैभव विलास के चित्रण से भरी पड़ी है। वर्णन पद्धति पर रामायण और महाभारत का प्रभाव है, आश्चर्यकारी घटनाएँ, वंशवर्णन आदि पुराणों के समान हैं, यद्यपि नख-शिख, वयःसंधि, उद्दीपन आदि का वर्णन कहीं-कहीं शास्त्रीय पद्धति पर है। मुख्य विशेषता कल्पना और वर्णन की स्वच्छन्दता ही है। महाकवि चन्द का पृथ्वीराज-रासो ऐसा ही ग्रंथ है और वीसलदेव, खुमान, परिमल आदि रासो भी इसी पथ का अनुसरण करने वाले हैं। चन्द ने 'पृथ्वीराज रासो' के प्रथम 'समय' के एक छंद में लिखा है—

उक्ति धर्म विसालस्य, राजनिति नवं रसं।
षट्भाषा पुराणं च, कुरानं कथितं मया॥

इस कथन से चन्द का यह उद्देश्य स्पष्ट है कि वह अपने काव्य में सभी प्रकार के ज्ञान और व्यवहार की चर्चा करना चाहते हैं।' पृथ्वीराज रासो' में धर्म, राजनीति, नवरस आदि का वर्णन और अनेक भाषाओं के ज्ञान का प्रदर्शन है। प्रतिप्रामाणिक न होने से भाषा की अशुद्धियाँ खटकती हैं पर अन्य बातें उसमें अवश्य मिलती हैं। काव्यशास्त्र के अनुसार वर्णन करने और विशेष रूप से प्रबन्ध-काव्य को संगठित करने का प्रयत्न नहीं है, मनमाना वर्णन अधिक है। उनकी दृष्टि से घटनाओं का स्वच्छन्द वर्णन लिखना ही आवश्यक जान पड़ता है और नवीन उद्भावना और लौकिक तथ्यों में अलौकिक कारण प्रस्तुत कर देना कवि की प्रतिभा की विशेषता होनी चाहिए, यह भी प्रकट है। 'पृथ्वीराज रासो' में व्यापक रीति से काव्य शास्त्र के अंगों पर विचार प्राप्त नहीं होते, केवल कहीं-कहीं रचनाओं में प्रयुक्त छन्द के लक्षण देने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

प्राचीन हिन्दी के सिद्ध और जैन कवियों की रचनाओं में भी राजनीति स्वएवं दर्शन सम्बन्धी कोई विशेष विचार नहीं मिलते पर व्यापक रीति

से देखने पर हम कह सकते है कि सिद्धों का उद्देश्य सरल, और बोलचाल की भाषा में रहस्यवाद, योग-तंत्र आदि के उपदेश और परम्पराओं का खंडन मंडन है; पर पुरानी हिन्दी के अन्य कवियों का निश्चय रूप से काव्य सम्बन्धी आदर्श बहुत कुछ 'पृथ्वीराज रासो' का सा ही था । कुछ कवि साधारण जनता की बातों—जैसे गरीबी, अकाल आदि का वर्णन भी करते थे, जैसे पुष्पदन्त* अब्दुर्रहमान+, बब्बर || आदि कुछ अन्य कवियों के आदर्श वही रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ थे। चन्द के पूर्व (७९० ई० के आस-पास) स्वयंभुदेव ·|· के रामायण, हरिवंश पुराण तथा पुष्पदंत के महापुराण, जसहर चरिउ, नायकुमार चरिउ आदि ग्रन्थ इसी आधार पर हैं। स्वयंभुदेव ने कालिदास की सी नम्रता और तुलसीदास की भाँति दीनता एवं काव्यशास्त्र से अनभिज्ञता का भाव प्रदर्शित किया है यद्यपि इन्हीं की भाँति उनकी रचनायें भी काव्य गुणों से सम्पन्न हैं । आत्म-परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है—

बुहयन सयंभु पईं विण्णवई । महु सरिसउ अण्ण णाहि कुकई ।।
वायरणु कयाईण जाणियउ । णउ वित्ति सुत्त बक्खाणियउ ।।
णाणिसुणिउ पंच महायकव्वु । णउ भरहुणलक्खणु छंदु सव्वु ।
णउ वुज्झउ पिंगल पच्छारु । णउ भामह दंडियऽलंकारु ।। १

अर्थात स्वयंभू बुधजनों के प्रति विनती करता है कि मेरे समान अन्य कुकवि नहीं है। मैं व्याकरण कुछ भी नहीं जानता हूँ, न वृत्तिसूत्र का वर्णन कर सकता हूँ, न पाँच महाकाव्य सुने हैं, न भरत का शास्त्र जानता हूँ और न सभी छन्दों के लक्षण। न पिंगल का विस्तार जानता हूँ और न भामह और दंडी का अलंकार निर्णय ही।' कहने का उद्देश्य यह है कि उपर्युक्त काव्य-शास्त्र सम्बन्धी बातों का शास्त्रीय विवेचन कवि नहीं जानता पर स्वाभाविक रूप में कवि इन्हें काव्य के लिए आवश्यक समझता है। जैसा

* पुष्पदन्त (पुष्फयत)—काल ९५९-७२ दे०-ब्रज या यौधेय ।

+ अब्दुर्रहमान—१०१० ई०; देश मुलतान; कुल जुलाहा)

|| बब्बर—१०५७ ई० (कर्ण कलचुरी का दरबारी कवि था। देश त्रिपुरी चेदि ।

× स्वयंभूदेव कविराज । काल-७९० ई० (ध्रुवधारावर्ष ७८०-९४ ई०) देश-कोसल । कवि नरदेव और पद्मनी के पुत्र, आदित्यदेवी के पति। कृतियाँ हरिवंश पुराण, रामायण, और स्वयंभू-छन्द ।

·|· हिन्दी-काव्य-धारा—राहुलसांकृत्यान पृ० २२

कि राम कथा का परिचय देते हुए अपनी रामायण में स्वयंभू ने लिखा है—

अक्खर बास-जलोह-मणोहर । सुयलंकार छन्द-मच्छोहर ॥
दीह-समासा-पवाहा-वंकिय । सछ्य पायय पुलिणालंकिय ॥
देसी भासा उभय तडुज्जल । कवि दुक्कर घण-सद्द सिलायल ॥
अथ्य-बहुल कल्लोला रि ट्ठिय । आसा-सय-सम-ऊह परिट्ठिय ॥
राम कहा सरि एह सोहंती·················· इत्यादि—

(रामायण—हिन्दी काव्य धारा पृ० २६)

अर्थात् अक्षर जिसमें मनोहर जलौक (जोंकें) हैं, सुन्दर अलंकार और छन्द मछलियां हैं। दीर्घसमास टेढ़ा जल प्रभाव है। संस्कृत प्रवाह के पुलिन हैं। देसी भाषा के दोनों उजले तट हैं। कवियो के लिए कठिन घने शब्द कठोर शिलातल है। अनेक अर्थों वाली कल्लोलें है, और सैकड़ों आशायें-तरंगें हैं। इस प्रकार यह रामकथा की सरिता शोभित हो रही है।

इस प्रकार राम-कथा वर्णन के मुख्य उद्देश्य में सभी अंग स्वभाविक रीति से शोभित है। यहा कवि का आदर्श वही है जो तुलसी ने भी अपनाया और उपर्युक्त वर्णन रामचरित मानस के वर्णन से तुलनीय है। अलंकार छन्द तथा शब्द अर्थ को महत्त्व देने के साथ मुख्य बात लोक भाषा को गौरव देना है।

लोकभाषा को गौरव देने का अभिप्राय दुहरा है। पहिला तो यह कि इस भाषा में लिखी गई वस्तु जन-जन के भीतर-प्रवेश पा सकती है और उस का प्रचार व्यापक रूप से हो सकता है, दूसरा यह कि यह भाषा सबको अच्छी लगती है और इसके साथ इसकी पूर्ववर्ती भाषाएं आ सकती हैं। पर पूर्ववर्ती भाषाओं में लोकभाषा का संयोग अच्छा नहीं जान पड़ता। इसको परवर्ती कवियों ने समझकर ही लोकभाषा को अपनाया था। विद्यापति ने यद्यपि संस्कृत, प्राकृत आदि में रचना की थी, फिर भी उनका स्पष्ट कथन है कि सबसे अधिक मधुरता प्रचलित लोक भाषा में है, क्योंकि उस में प्रयोग की सजीवता है। भाषा विषयक उनका यह विचार 'कीर्तिलता' की निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है।

सक्कय वाणी बहुयण भावइ । पाउँअ रस को मम्म न पावइ ।
देसल वअना सब जन मिट्ठा । तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा ॥

(कीर्तिलता, प्रथम पल्लव)

अर्थात् संस्कृत भाषा केवल विद्वानों को ही अच्छी लगती है, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती, देशी भाषा सबको मीठी लगती है।

इसीसे अवहट्ट (मिथला की लोक भाषा) में मैं रचना करता हूं। विद्यापति की दृष्टि से वाणी का मुख्य उद्देश्य चतुरजनों का मनोरंजन था। कविता के प्रधान उद्देश्य, इष्टसिद्धि और मनोरंजन के साथ विद्यापति ने अपनी भाषा की सफलता और माधुर्य के विषय में लिखते हुए कहा है —

बालचन्द्र बिज्जावइ भापा। दुहुं नहि लागइ दुज्जन आसा।
ओ परमेसर हर सिर सोहई। ई निच्चय नागर मन मोहई॥

विद्यापति की भाषा-माधुर्य के विषय में दो मत नहीं हो सकते। जयदेव के गीत गोविन्द के उपरान्त भारतीय साहित्य में मधुरता के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध मैथिल कोकिल विद्यापति ही है। इनका उद्देश्य साहित्यिक था। ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा की कविता के लिए आवश्यकता है, यह इनकी रचनाओं से प्रकट होता है। भक्ति विषयक काव्य-रचना करते हुए भी सूक्ष्म कल्पना, अलंकार, भाव, गुण, व्यंजना आदि का चमत्कार इनकी रचना में बराबर विद्यमान है। अतः उनके काव्यादर्श में इन गुणों की आवश्यकता निश्चित है।

कबीर का काव्यादर्श निर्गुणोपासिक संत कवियों की रचनाओं में काव्यादर्श सम्बन्धी कथन उपलब्ध नहीं होते। सिद्धों की भांति इनका भी उद्देश्य साहित्यिक नहीं था। कबीर के विचार से कवि और विद्वान, कोई सम्मान्य व्यक्ति नहीं थे। वे 'दोनों ही मरे हुए व्यक्ति थे—क्योंकि अमर आत्मा की ज्योति जगाकर इन्होंने अपने को सजीव नहीं किया था। उनका स्पष्ट कथन है—

कवि कवीने कविता मुए।

तथा

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ; पण्डित भया न कोइ। (साखी)

इससे यही अर्थ निकलता है कि कविता के विषय में उनकी एक अपनी धारणा थी। कबीर उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार, कल्पना की उड़ान, झूठी और अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णना को कविता नहीं समझते थे। अतः उन्होंने तथ्य निरुपण से इसे अलग रखा है। यदि किसी कथन में केवल मनोरंजन है, शब्द चमत्कार है, सार नहीं; तो कबीर की दृष्टि में उसका महत्त्व नहीं। कबीर के समय में कविता आध्यात्मिक तथ्यविहीन और लौकिक वर्णन से पूर्ण अवश्य थी, अतः ऐसे कवि के व्यक्तित्व से वे अपने को अलग रखना चाहते थे।

कबीर की अनेक साखियों और पदों में अलंकार और उक्ति वैचित्र्य है, पर उसके भीतर तथ्यनिरूपण और सत्य का उद्घाटन भी है जो लोक-कल्याणकारी है। अतः कबीर की दृष्टि से जो काव्य सार्थक हो सकता था, उसके लिए सहानुभूति प्रधान और तथ्ययुक्त होना आवश्यक था। कबीर भाषा और कथन-चमत्कार की विशेषता में विश्वास नहीं करते। वे सीधे, स्वाभाविक रीति से सहजानुभूति के प्रकाशन ही में मानव-अभिव्यक्ति की सफलता समझते थे। विद्यापति की भाँति कबीर के विचार से भी लोक भाषा अधिक उपयोगी है। लोक-भाषा में कहा गया तथ्य सर्वजन सुलभ होता है, अतः बोल चाल की भाषा का पक्ष समर्थन करते हुए उन्होंने कहा है—

संसकिरत कूप जल कबीरा भाषा बहता नीर।

कबीर का उद्देश्य अपनी अनुभूति को प्रकट करना था। कल्पित रूप में कवि-यश के लोभ में कही गई उक्तियाँ उनकी दृष्टि में हेय थीं। यदि हमारी कोई स्वानुभूति की प्रेरणा नहीं तो हमें मौन रहना चाहिए। दूसरी बात यह है कि कबीर कथन को रवानी और प्रभावशाली बनाने के पक्ष में तो थे पर जीवन के तत्त्व से हीन केवल उक्ति वैचित्र्य में उनका विश्वास न था। अतः काव्य के लिए तत्त्वज्ञान और सहाजानुभूति कबीर की दृष्टि में आवश्यक थी, और इससे अन्य उद्देश्यों से प्रेरित कवि या कविता उनकी दृष्टि में मूल्य-हीन थी जिसकी उन्होंने निन्दा की है।

जायसी का काव्यादर्श—

जायसी का काव्य विषयक आदर्श अधिक व्यापक और साहित्यिक है। उनकी कविता में कला पक्ष के लिए भी समुचित सम्मान मिलता है। कबीर की भाँति जायसी कवि-यश की आकांक्षा से सर्वथा रहित न थे वरन् उनकी रचना में यश की भूख बराबर विद्यमान है। 'पद्मावत' ग्रन्थ के अन्त में वे लिखते हैं—

जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि-प्रीति नयनन्ह जल भेई।
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यहां रहै जगत यह चीन्हा॥

जगत में अपना नाम, यश अथवा चिह्न छोड़ जाने के लिए अपनी रचना को जायसी ने रक्त की लेई से जोड़ा था। यह रक्त की लेई क्या है? साधना के द्वारा प्राप्त व्यापक अनुभूति। इसी अनुभूति के कारण जायसी ने प्रकृति के सम्पूर्ण पदार्थों में अपनत्व प्राप्त किया था और इसी के सहारे उन्होंने देखा था कि जिस संघर्ष और भावना में मानव मग्न है, वही प्रकृति को विकल कर रही है। इससे यह स्पष्ट है कि जायसी किसी काव्य रचना को स्थायी होने के लिये इस व्यापक अनुभूति को आवश्यक समझते

थे। काव्य का प्रयोजन उनकी दृष्टि में यश है, जो मम्मट के छ: प्रयोजनों 'काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदेशिवेतरक्षतये; सद्यः ! परनिर्वृतये, कान्तासम्मितयपदेश युजे—' में से एक तो है। जायसी ने लिखा भी है—

कहं सुरूप पद्मावत रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरे पै मरे न बासू॥
केहि न जगत जस बेचा, केहि न लीन्ह जस मोह।
जो यह पढ़ै कहानी, संवरे दुइ बोल॥

(पद्मावत)

यश को प्राप्त करने की इच्छा भी संसार में स्वभावतः विद्यमान है और अपने यश को बेचने की प्रवृत्ति भी। इसीलिए अपने नायक को अमर रखने के साथ स्वयं अमर रहने की कितनी विनीत भावना जायसी के हृदय में उपस्थित है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये कवि की कविता उत्कृष्ट होनी चाहिए। वही काव्य अमर हो सकता है जो उत्कृष्ट हो और काव्य की अमरता के साथ-साथ ही उसका नायक और कवि भी अमर होता है। अतः अब प्रश्न होता है कि अमरत्व प्राप्त करने के लिये कविता में कौन सा गुण होना आवश्यक है? जायसी ने यद्यपि शास्त्रीय पद्धति पर इस प्रकार काव्य की उत्कृष्टता या आत्मा पर विचार नहीं किया, पर उनके कथनों में इसका पूर्ण आभास मिलता है। जिसमें यह काव्य का तत्व विद्यमान है उसका स्थान जायसी की दृष्टि से 'विमोहकत्व' है। उन्होंने लिखा है—

एक नयन मुहम्मद गुनी।
रोइ विमोहा जेहि कवि सुनी॥

यह 'विमोहकत्व' ही साहित्यदर्पणकार का 'रस' और पंडितराज जगन्नाथ का 'रमणीयार्थ' है। इसी में कवि की सफलता और उसका जादू है। अपनी कविता में विमोहकत्व' या रमणीयता लाने के लिए कवि को स्वयं अपने विषय में विमोह हो जाना या तन्मय हो जाना आवश्यक है। जायसी ने यह कहा नहीं, करके दिखाया है। उनके वर्णन से स्पष्ट है कि वे अपने वर्ण्य विषय में कितने घुल मिल जाते हैं। जहां कहीं सौन्दर्य मिलता है जायसी उसमें तन्मय हो जाते हैं और उसी आत्मविभोर अवस्था में हृदय के जो उद्गार निकलते हैं, उनमें मुग्ध कर लेने का जादू होता है।

काव्य के अधिकारी—

जायसी की दृष्टि में कविता के प्रभाव के लिए कवि और

कविता का ही गुण-सम्पन्न होना पर्याप्त नहीं, सुनने वाले या पाठक के भीतर भी कुछ गुणों का होना आवश्यक है। जिसके भीतर ये गुण हों वही काव्य के अधिकारी या रसिक है और इन गुणों से हीन 'अरसिक' हैं जो कभी काव्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते है। इन्हीं अरसिकों की ओर लक्ष्य करके संस्कृत के एक कवि की उक्ति है—

अरसिकेषु कवित्व निवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिखं ।

और हिन्दी के भी एक कवि ने लिखा है—

कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गही भूमि पै डारनो है'

(नाथूराम शर्मा 'शंकर')

जायसी ने काव्याधिकारी में 'सहृदयता' का गुण आवश्यक बताते हुए भी उसकी उपमा भौरे और चींटे से की है और अरसिक मेंढक और कांटे के समान है। भौंरे दूर से ही फूल की सुगन्धि पाकर पास आ जाते है, पर कांटा पास रहते हुए भी उसे नहीं जानता। चींटा दूर रहता हुआ भी गुड़ की सुगन्धि पाते ही पास आता है, पर मेंढक कमल के पास रहता हुआ भी गुणों को नहीं पहचानता। इसको निम्नलिखित पंक्तियों में जायसी ने व्यक्त किया है—

कवि बिलास रस कंवला पूरी । दूरि सो नियरि नियरि सो दूरी ।
नियरे दूर, फूल जस कांटा । दूरि सो नियरे जस गुड़ चांटा ।।
भंवर आइ बनखंड सन, लेइ कंवल के बास ।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछे पास ।।

(पद्मावत)

जायसी की दृष्टि में श्रेष्ठ कवि व्यास के रूप में रहता है। उसकी रचना में ऐसा ही रस रहता है—जैसी कि कमल में मकरन्द-श्री। प्रतिभा कल्पना और अनुभूति से सम्पन्न कवि की कविता रसिक भ्रमरों के लिए कमल मकरन्द के समान ही आकर्षण रखती है।

स्वानुभूति और तन्मयता के साथ ही कवि को रहस्यदर्शन की दृष्टि प्राप्त होती है जो न केवल पाठकों के लिए गहरी रुचि और आनन्द का सम्पादन करती हैं, वरन् कवि को चिरंतन उत्साह से भरती रहती है। यह साधना-प्रसूत-दृष्टि प्रकृति के रहस्यवादियों की विशेषता है। जायसी के सिंहल के उपवन, समुद्र, षट्ऋतु आदि के वर्णन इसी दृष्टि को छिपाये हैं। जायसी का वर्णन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर नहीं, पर उनकी स्वानुभूति, गहरी रुचि, सौन्दर्य-प्रेम और रहस्य उनके वर्णन के अंग अंग में रस और

चमत्कार भर देती है। अपनी रहस्य दर्शन की प्रवृत्ति के कारण जायसी ने प्रकृति के व्यापारों की जो विलक्षण व्याख्या की है वह अपने आप अलंकारों से उनकी रचना को युक्त कर देती है और इसी के कारण प्रकृति को अनुभूतियों से युक्त चित्रण करने में वे इतने सफल भी हो सके हैं जो केवल उद्दीपन के रूप में चित्रित प्रकृति से कहीं विशेष आकर्षक और प्रभावोत्पादक है।

भाषा के सम्बन्ध में मलिक मुहम्मद जायसी ने अलग शब्दों में कोई आदर्श व्यक्त नहीं किया पर जिस भाषा का प्रयोग उनके ग्रन्थों में-विशेषकर पद्मावत में—है, वह सामान्य बोल चाल की अवधी भाषा है। इससे प्रकट है कि वे भी जनसुलभ भाषा में साहित्य-रचना के पक्षपाती थे। उन्होंने केवल यही कहा है कि—

आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै॥

भाषा से तात्पर्य उनका प्रचलित बोल चाल की भाषा से है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि जायसी की दृष्टि में सबल और सजीव कल्पना या रहस्य दृष्टि, व्यापक सहानुभूति, स्वाभाविक भाषा काव्य के आवश्यक उपकरण है जो उसमें विमोहकत्व या रमणीयता का गुण प्रदान करते हैं। वे अनुभूति को मुख्य स्थान देते हैं। उनका काव्य सम्बन्धी उद्देश्य अनुभूत्यात्मक है, कलात्मक नहीं। जायसी का सा दृष्टिकोण हमें प्रेमाख्यान लिखने वाले अन्य कवियों—जैसे कुतुबन, मंझन, उसमान आदि की रचनाओं में भी मिलता है।

सूर का काव्यादर्श

सूरदास की रचनाओं में काव्यादर्श सम्बन्धी कथन अप्राप्य हैं पर उनके काव्य का अध्ययन करने पर इस बात का पता लगता है कि उनका उद्देश्य कृष्ण-भक्ति में तन्मय होना था। काव्य की सफलता भक्ति के भावों में मग्न होने में है। रूप और भाव का चित्रण, काव्य का उद्देश्य है और इस के लिए साधन रूप, भाषा, अलंकार गुण, शब्द शक्ति आदि हैं। अलंकारों और विविध भावों के जुटाने में सूर किसी से पीछे नहीं, यहां तक कि 'साहित्यलहरी' में कूट-पदों द्वारा उन्होंने चित्र-काव्य में भी अपनी दक्षता प्रकट की है। धार्मिक खण्डन-मण्डन भी सूर का उद्देश्य था, पर काव्य के भीतर तर्क से अधिक भावों का समावेश है जिससे कि हमारे संस्कार प्रभावित होते हैं, उन्हें केवल बुद्धि ही ग्रहण नहीं करती। इस प्रकार से सूर के काव्य में काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों की प्रतिष्ठा हुई है।

सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का विशेष श्रेय गीति-काव्य को महत्त्व प्रदान करने में है। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत गीति-काव्य को विशेष प्रेरणा, गति और गौरव कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा ही प्राप्त हुआ है यह एक तथ्य है जिसके द्वारा हम एक और निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। गीति काव्य को गौरव देकर सूर आदि कवियों के द्वारा दी हुई भाव पक्ष की महत्ता भी सिद्ध हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन कवियों ने भाव और रस को काव्य की उत्कृष्टता का तत्त्व स्वीकृत किया था; अलंकार रीति या वक्रोक्ति को नहीं। ये सब उसी मात्रा में आवश्यक समझे गए, जिस मात्रा में ये भाव के उत्कर्ष में सहायता दे सकते हैं।

सूर की रचना का कलात्मक पक्ष अलंकार आदि के ज्ञान का प्रदर्शन मात्र है, जब कि उनकी यथार्थ वृत्ति में तन्मयता थी। सूर ने भक्ति के वर्णन में वात्सल्य-रस का जो प्रबल स्रोत बहाया है, उसमें सभी मग्न हो जाते हैं। वात्सल्य-भाव को रसत्व की कोटि में लाने वाली सूर की ही प्रतिभा है।

तुलसी का काव्यादर्श—

सूर और कृष्ण-भक्त कवियों का आदर्श एक ही था। उन्होंने कविता के द्वारा सामाजिक जीवन का आदर्श अंकित करने की चेष्टा कदापि नहीं की। लोक वेद विधि के पालन का आदर्श उन्होंने नहीं अपनाया पर तुलसीदास की कविता का आदर्श लोक-जीवन का कल्याण था और स्वान्तः सुखाय की छाप रखती हुई भी उनकी रचनायें 'परान्तःसुखाय' भी उतनी ही थीं। काव्य सम्बन्धी उनका आदर्श भी था। यह कविता विषयक तुलसी का आदर्श 'रामचरित मानस' में कई स्थलों में व्यक्त हुआ है। तुलसीदास जी काव्य को बहुत ही उच्च और पवित्र वस्तु समझते थे। उनका आदर्श था कि कविता जैसी पवित्र वस्तु का उपयोग ईश्वर के गुण-गान में ही करना चाहिए। कविता, वाणी या सरस्वती तुलसी के विचार से देवी है। अपने भक्त या उपासक की आराधना से प्रसन्न होकर वह उसके पास आती है इसलिये उसकी पूजा और अभिनन्दन के लिए भगवान का गुण गान ही ठीक है। मनुष्य का गुणगान उस शक्ति का दुरुपयोग है। वे कहते हैं—

> भगत हेतु विधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवत धाई।
> रामचरित सर बिनु अन्हवाये, सो श्रम जाय न कोटि उपाये॥

इसलिए वाणी का आवाहन केवल भगवान के चरित्र या गुणों के गान के निमित्त ही करना ठीक है। जन साधारण के गुणों के गाने से काव्य

की देवी असन्तुष्ट होती है । उनका कथन है—

कवि कोविद अस हृदय विचारी । गावहिं हरि जस कलिमल हारी ।
कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना । सिर धुनि गिरा लगति पछताना ॥

यहां तुलसी का उद्देश्य धार्मिकता से भरा हुआ है और आधुनिक काव्य के नितान्त विपरीत है जिसमें जन साधारण ही काव्य का नायक है। दोनों दृष्टि-कोणों में कौन सत्य है और कौन असत्य, यह कहना तो कठिन है, पर यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आज-कल के अभक्तिपूर्ण युग में यदि कविता सम्बन्धी तुलसी के आदर्श का पालन किया जाय तो कविता की समाप्ति ही समझिए। पर उनका अपना आदर्श वही है, जो आजकल असम्भव है। तुलसी के काव्य का मुख्य ध्येय परमात्मा का गुण गान ही है और काव्य के अन्य उपकरणों के न होने पर भी तुलसी को यही अकेला गुण संतोष दे सकता है जैसा कि बालकाण्ड में व्यक्त है—

कवि न होउं नहिं चतुर प्रवीना । सकल कला सब विद्या हीना ।
कवित विवेक एक नहीं मोरे । सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ॥

स्पष्ट है कि कविता-विवेक प्रदर्शन तुलसी का उद्देश्य नहीं, वे कोरे कागज पर सत्य लिखना चाहते हैं। वे शपथपूर्वक कहते है कि कवित्व के अंगों का ज्ञान हममें नहीं है, पर वे जो कुछ लिखते है, वह सत्य का उद्घाटन है। यही बात उनके अन्य दोहार्द्ध 'तो फुरि होय जो कहहुं सब भाषा भनिति प्रभाव' से भी प्रकट होती है। उन्हें कुछ संदेश देना है, सत्य कहना है और कोई आंतरिक प्रेरणा है जिसके कारण वे काव्य रचना करते है, कवित्व प्रदर्शन के उद्देश्य से नहीं। 'जानकी-मंगल' में उन्होंने अपने इस भाव को और भी स्पष्ट रूप में लिखा है—

कवित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं ।
सिय रघुबीर विवाहु यथामति गावौं ॥

कवित रीति का उद्देश्य न होते हुए भी. उत्कृष्ट काव्य लिखकर उन्होंने न जाने कितने कवित-रीति के उपासक और पण्डितों की रचनाओं पर धूल डाल दी है। तुलसी की काव्य निर्माण की प्रेरणा रामभक्ति थी, जिसके वर्णन के लिए ही उन्होंने वाणी का आवाहन किया और वाणी उन पर पूर्ण प्रसन्न भी हुई, इसका प्रमाण आज भी उनकी सजीव कविता है। अपनी इस कलात्मक उद्देश्य हीनता और भक्ति भाव की व्यापकता का निर्देश उन्होंने 'रामचरित मानस' के इस दोहे में व्यक्त किया है—

भनिति मोर सब गुण रहित, विस्व विदित गुण एक ।

सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिनके विमल विवेक ।।

तुलसी की दृष्टि में जो काव्य को भी परम आभा देता है और उक्ति चमत्कार और अलकृति के न होने पर भी काव्य को सरस और बुध-सम्मानित बना देता है, वह गुण 'भक्ति' है। राम की भक्ति के बिना कविता के विविध अगोपांगों से परिपूर्ण काव्य भी शोभनीय नहीं। तुलसी के शब्दों में ही व्यक्त इस भाव को हम देख सकते है—

भनिति विचित्र सुकवि कृतजोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ ।
विधु-बदनी सब भाँति सँवारी । सोह न वसन बिना नर नारी ।।

भक्ति 'कविता-सुन्दरी के लिए वसन और सारी के समान है। आभूषणों से भी अधिक सुन्दरी के शरीर की शोभा और मर्यादा के लिए वस्त्र या सारी की आवश्यकता है, अतः रामनाम या राम-भक्ति की महत्ता भी काव्य में इसीसे समझी जा सकती है। तुलसी की दृष्टि में कविता की मर्यादा और सौन्दर्य दोनों के हेतु भक्ति-भाव आवश्यक है;संसार के लोगों की प्रशंसा से न केवल कवि की ही अप्रतिष्ठा होती है, वरन् यह कवित्व शक्ति का भी घटाकर प्रयोग करना है। उनके भाव को स्पष्ट करने के लिए हम उनकी अन्य स्थल पर दी हुई उपमा को लें तो कह सकते हैं कि सोने का उपयोग हल के फल बनाने के लिए करता है। अतः अधिकांश काव्य-प्रवाह यद्यपि इस पथ पर प्रवाहित नहीं है फिर भी हम कह सकते है कि कवि और काव्य दोनों की उच्च प्रतिष्ठा इस आदर्श से सुरक्षित रहती है।

इसका यह अर्थ कदापि न लेना चाहिए कि तुलसी को 'कवित्त विवेक' या काव्यांगों का ज्ञान नहीं था। वे उन्हें केवल भलीभांति समझते ही नहीं थे वरन् उन पर उनका पूर्ण अधिकार भी था, इसका प्रमाण उनकी रचनायें देती है। यों भी उन्होंने काव्य के उपकरणों के रूप में उन विविध अंगों का नाम लिया है, जो काव्य के साधन हैं, साध्य नहीं; और अधिकांश कवि जिनके चक्कर में पड़कर साध्य तक पहुँच ही नहीं पाते। तुलसी ने लिखा है-

आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना ।
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कवित्त दोष-गुन विविध प्रकारा ।।

अर्थात् शब्द-अर्थ, अलंकार, छन्द, प्रबन्ध, भाव, रस इनके भेद तथा दोष गुण आदि कवित-विवेक हैं; इनकी सिद्धि तुलसी का मुख्य उद्देश्य न होते हुए भी इन सभी काव्यांगों से उनकी रचनाएं भरपूर है। उन्होंने इनका उपयोग अपने साध्य राम-चरित्र-चित्रण के लिए किया है, अतः कवित-विवेक

उनकी दृष्टि से गौण वस्तु है, प्रधान नहीं।

कविता की उत्पत्ति तथा उसके उपयोग के सम्बन्ध में तुलसी ने एक स्थल पर लिखा है—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरसइ बर बारि बिचारू। होइ कवित मुकतामनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिहहिं, रामचरित बर बाग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग।

हृदय के भीतर बुद्धि और बुद्धि के भीतर विचार; सरस्वती या वाणी की कृपा से कविता का रूप धारण करता है पर उसकी शोभा रामचरित्र के सुन्दर तागे से पुहे जाने में है; बिना उसके वह हृदय पर धारण किए जाने वाले हृदय-हार का रूप नहीं पा सकता है। इसके तथ्य द्वारा तुलसी के आदर्श की दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि वे विचार को काव्य-रूप धारण करने के लिए, वाणी की कृपा की आवश्यकता समझते हैं। जो विचार वाणी की विशेषता से सम्पन्न होता है, वही काव्य होता है अर्थात् वाणी की कृपा के रूप में प्रतिभा या कल्पना या सूझ को वे आवश्यक मानते हैं। दूसरी यह कि काव्य के उद्गार-रामचरित से प्रबन्धरूप सूत्र से गुम्फित होने चाहिए। प्रबन्ध काव्य की विशेष उपयोगिता है पर इस प्रबन्ध की कथा रामचरित्र से सम्बन्धित हो।

एक दृष्टि से तुलसी के काव्य का आदर्श सीमित कहा जा सकता है।

यदि हम केवल भक्ति सम्बन्धी काव्य को ही अपना लक्ष्य रखें तो हम अन्य लौकिक और यथार्थवादी काव्य के विविध रूपों का विकास नहीं कर सकते। अतः काव्यशास्त्र की व्यापक दृष्टि से तुलसी का आदर्श समीचीन नहीं है पर इसका महत्व तुलसी के काव्य-सम्बन्धी एक विशेष आदर्श की अभिव्यक्ति में है। तुलसी का काव्य आदर्शात्मक है। आदर्श चरित्र-चित्रण द्वारा उन्होंने विश्व की मानवता का जीवन पथ प्रदर्शन किया है। वे एक पूर्ण और आदर्श विश्व की स्थापना करना चाहते थे, और इसी के लिए उन्होंने आदर्श चरित्र के चित्रण की उपयोगिता बताई है। सामान्य लौकिक चरित्रों में वह पूर्णता नहीं दिखाई जा सकती, जो ब्रह्मरूप राम के चरित्र में दिखाई जा सकती है और इस प्रकार आदर्श चरित्र को सामने रख कर हम जितना ऊँचा उठ सकते हैं, सामान्य चरित्रों के मनन द्वारा नहीं। काव्य का आदर्शात्मक उद्देश्य, वर्तमान युग के यथार्थवादी लेखकों के द्वारा अभिनन्दनीय नहीं पर एक बात जो इस सम्बन्ध में विचारणीय है, वहयह है, कि केवल

यथार्थ चित्रण द्वारा हम काव्य-कला के महत्त्व को कम कर देते हैं। जीवन के यथार्थ रूप की अनुभूति तो हमें नित्य प्रति ही होती है; किन्तु इसके आदर्श रूप की अनुभूति प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही करा सकते हैं। अतः मेरा विचार तो यह है कि जिस प्रकार समाज और देश के अन्तर्गत आदर्श, उच्च एवं महान् चरित्र वाले पुरुषों की, सामान्य मानव जीवन की गति विधि के लिए आवश्यकता है उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत आदर्शात्मक काव्य-चरित्रों की भी। आधुनिक युग में अधिकांश विचारधाराएं इसके विपरीत बह रही हैं। इस सम्बन्ध में एक स्मरणीय बात यह भी है कि तुलसी के समान, पूर्ण आदर्श की काव्य में अवतारणा कोई सहज कार्य भी नहीं। एक आदर्श राजा, आदर्श समाज और आदर्श-संस्कृति के चित्रण द्वारा आदर्श जगत की व्यवस्था करना तुलसी का उद्देश्य था। कौन राम राज्य में नहीं रहना चाहता है—इसी रामराज्य के आदर्श ने ही तुलसी को काव्य सम्बन्धी प्रेरणा दी थी जिसको फिर से स्थापित करने में आज भी हमारे नेता प्रयत्नशील हैं। अतः तुलसी का आदर्श—व्यापक रूप में आज का भी आदर्श है।

तुलसी कवित्व-प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त ही मानते हैं। उनका विचार है कि यदि देवता प्रसन्न हों तो कवि जो कुछ कहे वह सत्य होता है; सत्य होने का अर्थ विश्वसनीय और प्रभाव पूर्ण होना भी है। वे कहते हैं—

सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जो हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहहुँ सब भाषा भनित प्रभाउ॥

इस दैवी प्रतिभा की प्राप्ति और विकास के लिए साधना और लगन आवश्यक है।

तुलसी काव्य की उत्तमता और सफलता दो बातों में मानते हैं। प्रथम, बुद्धिमानों के द्वारा उसके आदर में और द्वितीय जन-हित में। प्रथम के बिना कविता निकृष्ट है और द्वितीय के बिना कविता व्यर्थ है। उन्होंने लिखा है—

जो प्रबन्ध बुध नहीं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कबि करहीं।
कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

अतः दोनों बातें काव्य में देखनी चाहिए। बुद्धिमान लोग उसका आदर भी करें, वह जनता के हित का भी हो तुलसी के विचार से कीर्ति, यश और कविता तीनों, की उपयोगिता उसी बात में है कि गंगा के समान ये सबका हित कर वाली हो। हित करने वाली कविता वही हो सकती है जो जीवन का आदर्श अंकित करती हो। तुलसी का अपना काव्य ऐसा ही है। बुद्धिमानों में उसका आदर भी है और वह जन-हितकारी भी है।

तुलसी के विचार से कविता की शोभा कवि या रचयिता के समीप उतनी नहीं जितनी सहृदय, विद्वान और बुधजनों के पास जाकर होती है। मणि, रत्न आदि भी अपनी उत्पत्ति भूमि में उतनी शोभा नहीं पाते जितनी राजमुकुट या रमणी के शरीर पर। यही कविता की सार्थकता है जिसे तुलसी ने नीचे लिखी पंक्तियों में व्यक्त किया है—

मणि माणीक मुकुता छवि जैसी। अहि गज गिरि सिरसोह न तैसी॥
नृप किरीट तरूनी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥

अतः काव्य की सार्थकता विद्वानों के बीच शोभा पाने में है, अब प्रश्न यह है कि विद्वानों के बीच शोभा पाने के लिए उसमें क्या गुण होने चाहिए। तुलसी की दृष्टि में इसमें दो प्रकार की विशेषताएँ होनी चाहिए:—

प्रथम सुगमता और दूसरी निर्मल कीर्ति का वर्णन। पर ऐसी कविता के लिए कवि की बुद्धि का भी निर्मल होना आवश्यक है—

सरल कवित कीरति विमल, तेहि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जोसुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति बल अति थोर।

कविता के लिए जिस निर्मल बुद्धि की आवश्यकता है; तुलसी कहते हैं वह उनमें बहुत कम है, इसलिए वे अपने को कवि नहीं कहते। परन्तु उन्हें साधना और लगन से निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है और उसके उपरान्त वे अपने को कवि भी कहते हैं। यह निर्मल बुद्धि शंम्भू के प्रसाद से मिली है—

शंम्भू प्रसाद सुमति-हिय हुलसी। राम चरित मानस कवि तुलसी॥

शंकर राम चरित्र के प्रथम रचयिता हैं (जैसा कि 'यत्पूर्वं प्रभूणा कृत सुकविना श्री शंम्भूना दुर्गम' 'तथा, रचि महेस निज मानस राखा, आदि पंक्तियों से प्रकट है) अणु-अणु में व्याप्त शंकर के भी आराध्य राम की भक्ति ही इन सब गुणों को देने वाली है।

इस भक्ति को, निर्मल यश को, सरस कवित बनाने के लिए सरल भाषा की भी आवश्यकता है। अतः भाषा सम्बन्धी तुलसी का विचार कबीर विद्यापति आदि की परम्परा को ग्रहण किए हुए है। मुख्य वस्तु उसके भीतर भाव है। भाव की हीनता में भाषा की क्लिष्टता बोझ ही है। तुलसी ने भाषा को विशेष गौरव नहीं दिया। कोई भी भाषा हो, यदि उसमें सच्ची अनुभूति और प्रेम का वर्णन है, तो वही सुन्दर है—

का भाषा, का संस्कृत प्रेम, चाहिए साँच।

काम जो आवे कामरी, का लै करै कमांच ॥

जब लोक प्रचलित भाषा द्वारा ही आंतरिक सच्चा भाव, प्रभावपूर्वक प्रकाशित किया जा सकता है तब फिर विदेशी या अप्रचलित भाषा को अपनाने का कोई कारण नहीं ह' सकता। जिसे लोग समझ न सकें उस में काव्य लिखना, केवल पांडित्य प्रदर्शन है और ऐसा प्रयत्न जन साधारण के लाभ का भी नहीं।

सेनापति का काव्यादर्श—

भक्ति-धारा के गम्भीर प्रवाह में मग्न कवियों का भक्ति से ओत-प्रोत काव्यादर्श है, पर भक्ति-काल में ही कुछ कवि ऐसे भी हैं जो तुलसी के 'सरल कवित' वाले सिद्धान्त को नहीं मानते और आगे चलकर रीतिकाल में तो संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार को लेकर इस युग का अधिकांश काव्यांगों के उदाहरण रूप ही लिखा गया। भक्तिकाल में भी कुछ स्वच्छन्द कवियों का कलात्मक उद्देश्य भी था। सेनापति इसी आदर्श को मानने वाले थे। उनकी दृष्टि में सरल भाषा काव्य का आदर्श नहीं वरन् गूढ़ बहु-अर्थी, कविता ही उनका उद्देश्य है। 'कवित्त रत्नाकर' में उन्होंने लिखा है—

मूढ़न को अगम सुगम एक ताको जा की
तीख्वन विमल विधि बुद्धि है अथाह की।
कोई है अभंग कोई पद है सभंग सोधि,
देखे सब अंग सम सुधा पखाह की॥
ज्ञान के निधान छन्द कोष सावधान
जाकी रीसन सुजान सब करत हैं गाह की।
सेवक सियापति को 'सेनापति' कवि सोइ
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की॥

इससे स्पष्ट है कि सेनापति के काव्य का आदर्श तुलसी के आदर्श से भिन्न है। इनका आदर्श केशव की भाँति था जिन्होंने कि रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों की परम्परा को प्रोत्साहित किया था। उनकी ही भाँति सेनापति भी अर्थ की विलक्षणता को कविता का मुख्य तत्त्व मानते हैं। सेनापति की दृष्टि में तीक्ष्ण बुद्धिवाले काव्याभ्यासी पुरुषों की समझ में आने वाली रचना, कविता है, सर्वजन सुलभ रचना नहीं। इसीलिए 'श्लेष' इनकी कविता की प्रमुख विशेषता है। काव्यांगों को ग्रहण करते हुए कविता का लक्षण और उसकी व्यापकता के लिए रस की स्थिति को आवश्यक मानते हुए उन्होंने लिखा है —

दोष सों मलीन गुनहीन कविताई हैं, तो
कीन्हे अरबीन परबीन कोई सुनि है।
बिनु ही सिखाये सब सीख है, सुमति
जो पै सरस अनूप रस रूप या में धुनि है॥
दूषन को करियो कवित बिन भूषन को
जो करै, प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है।
राम अरचतु से ना पति चरचतु दोऊ
कवित रचतु या ते पद चुनि चुनि है॥

दोष युक्त कविता लाख प्रयत्न करने पर भी बुधजनों के हृदय में स्थान नहीं प्राप्त कर सकती और यदि रस या ध्वनि से युक्त कविता है, तो सभी की जिह्वा में शोभा पाती है। यह कहते हुए यह स्पष्ट है कि वे दोष रहित गुणयुक्त, रस, ध्वनि, अलंकार से पूर्ण कविता को उत्तम कविता मानते हैं। उनका यही विचार और भी स्पष्ट रूप से निम्नांकित कवित्त में व्यक्त हुआ है—

राखति न दोषैं पोषैं पिंगल के लच्छन कौ,
बुध कवि के जो उपकण्ठहि बसति है।
जो प पद मन को हरस उपजावत है,
तजै को कुनरसै जो छन्द सरपति है॥
अच्छर है विसद करत ऊखैं आपुस मैं,
जाते जगती को जड़ताऊ बिन सति है।
मानो छवि ताकी उदवत सविता की,
सेनापति कविता की कविताई बिलसति है॥

उपर्युक्त कथनों से सेनापति के काव्य का आदर्श इस प्रकार प्रकट होता है। कविता दोषों से रहित होनी चाहिए। छन्द और पिंगल के नियमों का पालन उसमें होना चाहिए। वह गुण, अलंकार रस और ध्वनि युक्त हो। कविता का एक-एक चरण हर्ष और प्रसन्नता को उपजाने वाला हो। अतः इसके आधार पर हम कह सकते हैं—कि उनका उद्देश्य कलात्मक है, उनके काव्य का प्रयोजन मनोरंजन है, लोक-कल्याण या जनहित के व्यापक अर्थ में नहीं।

रीतिकालीन काव्यों का काव्यादर्श—

रीतिकाल (सं० १७०० से १९०० तक) में जाकर भक्त कवियों का आदर्श एकदम समाप्त हो गया और कविता का उद्देश्य मनोरंजन ही रह

गया। इस समय रीति या लक्षण ग्रन्थों की भरमार हुई और लगभग सभी कवियों ने काव्य-शास्त्र पर लक्षण और उदाहरण देते हुए ग्रन्थ लिखे जिसका बीज केशव ने बोया था, वह प्रवृत्ति चिन्तामणि के आदर्श और नेतृत्व को अपनाकर खूब पल्लवित हुई। इन ग्रन्थों में व्यक्त काव्यादर्शों का अध्ययन करना प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। इनमें जो कविता इसका रूप है, वह रूढ़िग्रस्त है, स्वच्छन्द नहीं। अतः काव्यादर्श सम्बन्धी अपने स्वच्छन्द विचार हमें इस परम्परा में बहुत कम मिलते हैं। भाषा सम्बन्धी परिष्कार अवश्य इस युग में खूब हुआ और ब्रजभाषा का बड़ा ही मधुर, विशद, प्रांजल और मनोहारी रूप काव्य में व्यक्त हुआ है। यही ब्रजभाषा उस समय साहित्यिक राष्ट्रभाषा का काम कर रही थी। इस काल में भक्ति-काल की भावना काव्य की प्रेरणा नहीं रही, वह अनेक भावों के साथ एक भाव के रूप में अवश्य थी। भक्ति के आलम्बन 'कृष्ण और राधा' इस युग में शृंगार के आलम्बन के रूप में ग्रहण किए गए और इन पर असंख्य कवितायें लिखी गईं। भक्ति की भावना के रूप में परम्परा बन चुकी थी अतः उसका रूप देखने को मिलता है, उदाहरणार्थ—

(१) मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय॥

—बिहारी

(२) जो मैं ऐसो जानतो की जैहै तू विषै के संग
ऐरे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतो।
... ...।
भारी प्रेम पाथर नगारा दे गहरे में बांधि।
राधा वर बिरद के बारिधि में बोरतो॥

—देव

देव ने यद्यपि रीति परम्परा के अंतर्गत शास्त्रीय पद्धति पर अनेक ग्रन्थ लिखे पर मुक्तरीति से देव की कविता का या कवि का आदर्श उनकी स्वच्छन्द रचना 'प्रेम-चन्द्रिका' के नीचे लिखे छंद में व्यक्त हुआ है—

जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवे नहीं छोभ की छाँहीं।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर—मोल जवाहिर ता अति चाहीं।
बानी पुनीत ज्यों देव धनी रस आरद सारद के गुन गाहीं।
सील ससी सविता छबिता कविताहि रचै कविताहि सराहीं॥

इससे स्पष्ट है कि देव का काव्यादर्श बहुत ऊंचा था। कवि उनकी

दृष्टि में काम, क्रोध, द्वेष, लोभ से मुक्त हो, संसार से विरक्त मोह हीन हो, जिसकी वाणी रस से भरी हुई हो, और गंगा के समान पवित्र हो, जो शोभा और आभा में सूर के समान और शील में चन्द्रमा के समान हो, ऐसे कवि की कविता सराहनीय है क्योंकि देव का विचार है कि वे गुण उनकी कविता में भी होगा।

पर देव का यह आदर्श अपना है क्योंकि रीतिकालीन काव्य में शील का कोई विशेष महत्व न रह गया था, सौन्दर्य ही प्रमुख था। भक्ति की स्वाभाविक प्रेरणा काव्यकला की गूढ़ प्रेरणा में परिणत हो गई थी, शब्द चमत्कार और उक्ति विशेष को ही रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों में कविता का आरम्भ समझा गया। इसका इतना प्रभाव था कि परम्परा से स्वच्छन्द कवि भी चमत्कार और गूढ़ार्थ पर जोर देते थे, 'सरल कविता' पर नहीं। उनका उद्देश्य रसिकों के लिये काव्य-निर्माण था, लोक हित के लिए नहीं। हां स्वच्छन्द कवियों और परम्परा-बद्ध कवियों में इतना अन्तर अवश्य कहीं-कहीं मिलता है कि स्वच्छन्द कवि 'स्वानुभूति' पर या प्रेमानुभूति पर जोर देते हैं, जो कि भक्तिकालीन काव्य का प्रभाव है। घनानन्द (१६८७-१७७७) अन्य अनेक गुणों के साथ प्रेमानुभूति या प्रेम की पीर को उसी प्रकार महत्त्व देते है, जैसे जायसी आदि प्रेमाख्यानक-सम्प्रदाय के कवि। पर इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ जायसी आदि उसे काव्य की रचना के लिए आवश्यक समझते है वहां घनानन्द इसे साहित्यसेवी काव्य के अधिकारी या रसिक के लिए भी आवश्यक मानते हैं। वे अपने काव्य के अधिकारी की विशेषताओं का उल्लेख निम्नांकित छन्द में करते है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जाने।
जोग, वियोग की रीति में कोविद भावना भेद स्वरूप को ठाने॥
चाह के रंग में भीज्यो हियो बिछुरे मिले प्रीतम सांगति न माने।
भाषा प्रवीन सुगन्ध रहैं सो घन जी के कवित्त बखाने॥

इस प्रकार घनानन्द भाषा प्रवीनता, काव्य-विवेक, सौन्दर्यपरख, प्रेम स्वानुभूति को काव्य का मर्म समझने के लिए आवश्य समझते हैं। अतः निश्चित है कि उत्तम कवि की कविता में भी इन गुणों की आवश्यकता वे मानते हैं। घनानन्द काव्य-विवेक को आवश्यक अवश्य मानते हैं पर सेनापति और केशव की भांति उस पर जोर नहीं देते। सेनापति जहां कि अलंकार, गुण, ध्वनि, श्लेष, दोषहीनता पर अधिक जोर देते है, वहां घनानन्द प्रेम की पीर अथवा प्रेमानुभूति पर स्वानुभूति

के अनेक रूपों में प्रेमानुभूति एक प्रमुख रूप अवश्य है पर प्रेम की पीर काव्य के सम्पूर्ण पक्षों को नहीं समेट पाती। नव रसों में केवल शृंगार और उसका भी वियोग पक्ष लेकर चलना अपूर्ण ही कहा जाएगा। हां, यदि प्रेम अपने विश्वप्रेम के व्यापक अर्थ में हो, तो दूसरी बात है। इस अर्थ में अवश्य वह करुणा, क्रोध, हास, उत्साह आदि भावों को समेट लेता है। पर जैसा कि आगे के छन्द से प्रकट है उनका उद्देश्य 'वियोगानुभूति' ही है। सेनापति अपनी कविता के समझने के, लिए तीक्ष्ण बुद्धि आवश्यक समझते है, पर घनानन्द 'प्रेम की पीर'। जैसा कि प्रकट है—

> प्रेम सदा अति ऊंचो लहै सु कहै यहि भांति की बात चकी।
> सुनि कै सब के मन लालच दौरे वे बौरै लखै सब बुद्धि थकी।।
> जग की कविताई के धोके रहे ह्यां प्रवीनन की मति जाति जकी।
> समुझै कविता घन आनन्द की हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी।

यह उनका विशिष्ट काव्यादर्श है, जो जग की कविताई से वे विलक्षण बताते है, अतः यह प्रेम की पीर, अन्य काव्यांगों के साथ होनी चाहिए अथवा अकेले; इस प्रश्न के उत्तर में हमें पूर्व उद्धृत छन्द द्वारा ही प्रकाश पड़ता है जिसमें वे सौन्दर्य की परख, भेद और भावभेद, भाषा छन्द आदि का विवेक होना रसिक के लिए आवश्यक बताते हैं, अतः निश्चित है कि कवि के लिए भी इन बातों पर अधिकार अनिवार्य है।

घनानन्द का काव्यादर्श रीतिकालीन लक्षणकारों से भिन्न जान पड़ता है। इसमें भक्तिकालीन और रीति-कालीन प्रमुख आदेशों को समन्वित करने का लक्ष है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि कवि आंतरिक अनुभूति को ही काव्य की मुख्य स्फूर्ति मानते थे और उसी के बल पर अन्य काव्य-गुणों के न रहने पर भी अपनी वाणी को सफल समझते थे। रीतिकालीन लक्षणकार कवि शास्त्रीय लक्षणों के उदाहरण रूप काव्य लिखने वाले थे अतः इनमें से लगभग सभी का ध्येय काव्य विवेक पर जोर देना है। यदि ऐसा न होता तो भूषण, देव, मतिराम, दास, पद्माकर आदि उच्चकोटि की स्वच्छन्द कविता लिख सकते थे पर लक्षण-पद्धति पर चलकर उन्होंने अपनी प्रतिभा को बन्धन में डालकर केवल बँधी लीक का अनुसरण किया। अतः निश्चय रूप से काव्य विवेक को लेकर चलना, उसकी मान्यताओं को काव्य में निभाना, चाहे अपनी अनुभूति उससे कुछ भिन्न भी क्यों न हो, उनका लक्ष्य बन गया। पर घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम, शीतल आदि कवियों की रचनाओं में अनुभूति को काव्य-विवेक के साथ-साथ महत्वपूर्ण स्थान

मिला। इन सभी का काव्यादर्श लगभग घनानन्द का ही सा है। भक्तिकालीन कवियों और इन कवियों में अन्तर यह है कि वे जहां ईश्वर के ही प्रेम की अनुभूति को मुख्य मानते थे वहां ये लौकिक प्रेम को भी काव्यक्षेत्र में सम्मिलित कर लेते है। जायसी ने लिखा है—

विरह कै आगि जरै जो कोई। दुःख तेहि कर न अंबिरथा होई।

पर यह बिरह, कबीर का आध्यात्मिक ईश्वर विरह ही था लेकिन घनानन्द आदि कवियों की प्रेमानुभूति मुख्यतः लौकिक थी। इसका स्पष्टीकरण ठाकुर कवि के नीचे लिखे काव्यादर्श सम्बन्धी छन्द से हो जाता है। काव्य का लक्षण देते हुए वे कहते हैं—

मोतिन की सी मनोहर माल, गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की, बात अनूठी बनाइ सुनावै॥
ठाकुर सो कवि भावत मोंहि जो राजसभा में बड़प्पन पावैं।
पण्डित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावैं॥

अतः अनुभूति की तीव्रता और कलात्मक पटुता दोनों ही जिसमें अभिव्यक्त हों, वही उत्तम काव्य है।

काव्य सम्बन्धी यह आदर्श रीतिकाल में ही रह सका और उसका प्रमुख कारण यही था कि अनुभूति को नितान्त व्यक्तिगत और संकुचित बनाने का प्रयत्न किया गया और इन स्वच्छन्द कवियों का आदर्श पूर्ण रीति से इस कारण पनप भी न सका क्योंकि लक्षण ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति का प्रवाह बड़ा ही वेगवान था। इन दोनों की प्रतिक्रिया स्वरूप भारतेन्दु के उदयकाल में आधुनिक भावनाओं की प्रगाढ़ता में लौकिक उपयोगी और व्यापक भावों की अधिक चर्चा प्रारम्भ हुई।

रीतिकाल में कविता का सम्बन्ध जीवन की प्रगति से टूट गया था। सामाजिक आचार व्यवहार—लौकिक जीवन की समस्या और मर्यादा आदि के चित्रण से कवि उदासीन हो गए। लोक-कल्याण कवि का ध्येय न रह गया, रीति-प्रवृत्ति के और सघन होने पर कला की बारीकी, शब्दों की खिलवाड़ मात्र रह गई और कविता ने भी संकुचित होकर यही रूप धारण किया। नवीन जीवन की ताजगी उससे तिरोहित हो गई। विषय भी वही रूढ़िग्रस्त थे। अतः मानव जीवन के मर्म को छूने वाली कविता न रह गयी। कविता विलास की सामग्री समझी जाने लगी। ये सब बातें कविता को यथार्थ जीवन से दूर खींचती गईं और धीरे-धीरे ऐसी कविता के प्रति सामान्य अरुचि सी जगने लगी, अतः बीसवीं शताब्दी विक्रमी के प्रारम्भ के साथ-साथ

जिस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियों ने करवट बदला वैसे, ही काव्य के आदर्श भी परिवर्तित हुए। फलस्वरूप आधुनिक काल में हमें काव्यादर्शों में बहुत बड़ा परिवर्तन देखने को मिलता है।

'निकुंज' बनारसी बाग;
लखनऊ।

डा० भगीरथ मिश्र

साहित्य में व्यष्टि और समष्टि

इस 'प्रश्न' का 'उत्तर' देने के लिए सबसे पहले 'साहित्य' की निरुक्ति आवश्यक है। 'साहित्य' शब्द 'सहित' से बना है। 'साहित्य' पद का प्रयोग आरम्भ में 'शब्द' और 'अर्थ' के सहितत्व के लिए हुआ। 'शब्द' का तात्पर्य है 'ध्वनि' 'उच्चरित वर्ण' या 'पद' और 'अर्थ' का तात्पर्य है वह 'पदार्थ' या 'वस्तु' जिसके लिए वह 'ध्वनि' की गई है। 'पदार्थ' की व्युत्पत्ति ही इसको बतलाती है कि 'पद' का अर्थ लक्ष्य, बोध्य है। इससे स्पष्ट हुआ कि 'साहित्य' में 'शब्द' या 'पद' और अर्थ या 'बोध्य' या 'वस्तु' का माहात्म्य है। संसार का सारा वाङ्मय 'शब्द' और 'अर्थ' के ही ग्रहण से स्वीकार्य होता है। वह चाहे शास्त्र हो, चाहे इतिहास और चाहे काव्य पर सर्वत्र 'शब्द' और 'अर्थ' की एक सी स्थिति नहीं होती। शास्त्र या वेद में शब्द की प्रधानता रहती है, उसका शब्द बदला और अर्थ का अनर्थ हुआ। वेद के लिए शब्द का कितना महत्व है, 'स्वरतोऽपराधान्मृत्युः' की कथा का स्मरण कर लें। 'इंद्रशत्रु' शब्द का अशुद्ध उच्चारण करके वृत्रासुर के पुरोहित ने 'वृत्र' को मार ही डाला। वेदों के ही लिए 'शब्द-प्रमाण' माना गया। वेदों की आज्ञा स्वामी की आज्ञा है जो शब्द उच्चरित हुआ उसका अक्षरशः पालन होना चाहिए। वह प्रभुसंमित होता है।

इतिहास-पुराण में 'शब्द' नहीं 'अर्थ' की महत्ता है। शब्द कुछ भी हो, उसका तात्पर्य उसका बोध्य ही काम का होता है। पुराणों में एक ही बात भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न रूपों में आई है, कहीं कहीं परस्पर विरोध भी होता है। कहीं सज्जनों की महिमा होगी, तो कहा जायेगा

कि सज्जनों दुर्जनो को भी बदल देते हैं, कहीं दुर्जनों की लघिमा होगी तो कहा जायेगा कि दुर्जन कभी बदल नहीं सकते। ऐसी परस्पर विरोधी बातें, यदि एक शब्द को मुख्य माना जाय तो कभी ठीक न मानी जायगी। इसी से पुराने इतिहास के तात्पर्य-निर्णय में 'अर्थवाद' का महत्त्व है। एक स्थान पर सज्जनता की महत्ता साध्य है, दूसरे पर दुर्जन की बृहता या लघुता। एक सज्जनता की पराकाष्ठा के लिए, दूसरी दुर्जनता की परावधि के लिए है, यहां शब्द कुछ नहीं, अर्थ ही सब कुछ है। वेद शास्त्रों का 'शब्दवाद' यहां नहीं, यहाँ 'अर्थवाद' है। अर्थप्रधान है। सुहृदय की भाँति ये कोई अर्थ समझाना चाहते हैं, अपने शब्दों के अक्षरशः पालन पर जोर नही देते।

किन्तु 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का साहितत्व यह है कि इसमें शब्द भी प्रधान और अर्थ भी प्रमुख। साहित्य न शब्द को छोड़ सकता है न अर्थ को। इसमें दोनों का तुल्य-बल होता है। इसमें वेद के 'शब्दवाद' और पुराण के 'अर्थवाद' का सांकर्य है, संश्लेष नहीं, दोनों नीर-क्षीर की भांति मिले हैं, तिल-तंडुल की भांति नहीं। दोनों शिव-शक्ति की भांति संपृक्त है, गिरीश-गिरीश की भाँति संयुक्त नहीं। कविता रमणी है जिसका वाह्य और आभ्यंतर दोनों रमणीय होते है। काव्य न रमणीय अर्थ है न अर्थ का प्रतिपादक शब्दमात्र। वस्तुतः 'सहितौ शब्दार्थौ काव्यम्' ही ठीक है। 'साहित्य' के 'सहित' का विशेष अर्थ है। पर 'साहित्य' का विच्छेद केवल 'सहितस्य भावः या सहितयोः भावः' करके रह जाना घोर सकुचित सीमा में उसे घेर देना है। 'सहितानां भावः' भी साहित्य ही है। साहित्य की इसी व्याप्ति के कारण राजशेखरने कहा कि ऐसी कोई विद्या, कला, शास्त्र नहीं, जो 'साहित्य'में'सहित' न हो सके। संक्षेप में यह कि साहित्य की व्याप्ति संसार की सभी प्रकार की विधाओं से अधिक है। साहित्य का पेट बहुत बड़ा है साहित्य का पेट बहुत लम्बा है और साहित्य की पेटी बहुत भारी है। जो लोग साहित्य को किसी विद्या या नीति का अंग माने बैठे है उन्हें आंखें गड़ा कर इसका स्वरूप देख और समझ लेना चाहिए। यह कोई आधुनिक व्याख्या नहीं है। पुराने भारतीय आचार्य ऐसा ही मानते आए हैं। कोई उनकी न सुनकर बहक जाय तो इसमें बहकने वाले का दोष है, बहकाने वाले का लोभ है; न साहित्य का अवगुण, न साहित्य के आचार्यों का स्वार्थ।

अब साहित्य की निरुक्ति के अनन्तर उसके निर्माण की सीमाओं का अंकन कीजिए। साहित्य का निर्माता अपना निर्माण त्रिकोणात्मक करता है एक शीर्ष पर वह रहता है, दूसरे पर वर्ण्य और तीसरे पर ग्राहक। साहित्य या काव्य के निर्माण में कर्ता वर्ण्य की जिन अनुभूतियों का अनुभव सामने रखता है, ग्राहक उनको ग्रहण करता है। अनुभूति या भाव की धारा तीनों में से प्रवाहित होती है। वर्ण्य की जिस भाव-धारा का प्रवाह कर्ता की वाणी से फूटता है वह ग्राहक के हृदय प्रदेश में से प्रवाहित होकर एक वृत्त बनाता है। भारतीय आचार्य इसे ही रस कहते हैं। इस प्रकार ऊपर का त्रिकोण वृत्त का परिधिव्यापी अन्तःस्थ त्रिकोण है—
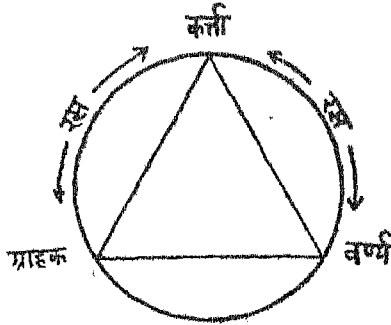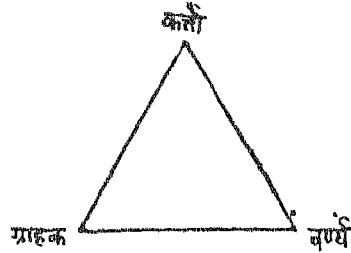
रसमीमांसा में भारतीय आचार्यों ने 'अर्थ' का बोध्य केवल 'वस्तु' को न मानकर 'भाव' को माना है। शास्त्रीय शब्दों में वस्तु व्यंजना के स्थान पर भाव व्यंजना का महत्व स्वीकार किया गया है। भाव व्यंजना से ही रस संभव है। वस्तु व्यंजना रह सकती है, पर साहित्य की रस की प्रक्रिया में 'भाव' उसका चरम लक्ष्य है। इस प्रकार, इसके लिये शब्द, अर्थ और भाव तीनों का महत्व है। शब्द का सीधा सम्बन्ध कर्ता से, अर्थ का वर्ण्य से

और भाव का ग्राहक से होता है। शब्द, अर्थ और भाव के त्रिकोण में ही इसका वृत्त अवस्थित है—
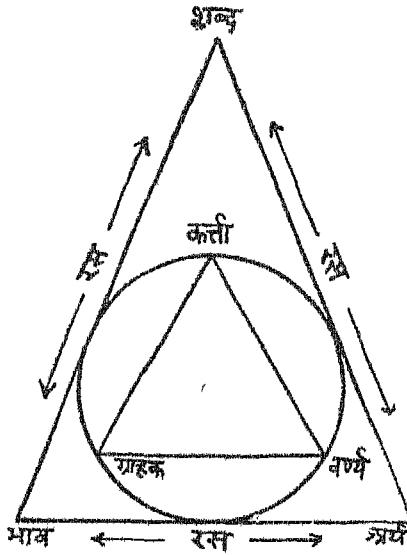
कर्त्ता में शब्द कहाँ से आता है। परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी से मेरा तात्पर्य नहीं। जंगलों में रहने वाला भी इन चतुर्विध वाणी के स्वरूपों का अधिष्ठान हो सकता है, पर साहित्य में जिस वाणी का व्यवहार होता है, वह समाज की देन है। भाषण की शक्ति नहीं, भाषा का ज्ञान ही सही। यही स्थिति 'अर्थ' या वस्तु की है। हमारे अन्तःकरण में जो रूप सागर लहराता रहता है वह समाज का ही होता है, समाज के ही नाना रूप मानस में संचित होते रहते हैं और वे ही वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। हमारे भीतर जो कुछ संचित होता है, सब बाहर का समाज का, होता है। जो भाव उठते है, वे भी उन्हीं रूपों के कारण जो बाहर या समाज के होते है। यदि समाज न हो तो साहित्य भी न होगा। यदि साहित्य हो तो समाज भी होगा। समष्टि ही साहित्य में अभिव्यंजित है, अतः साहित्य और समाज का

वृत्त शब्दार्थ-भाव के त्रिकोण को आवृत्त किए हुए है। रेखाचित्र के विधान से देखिए—
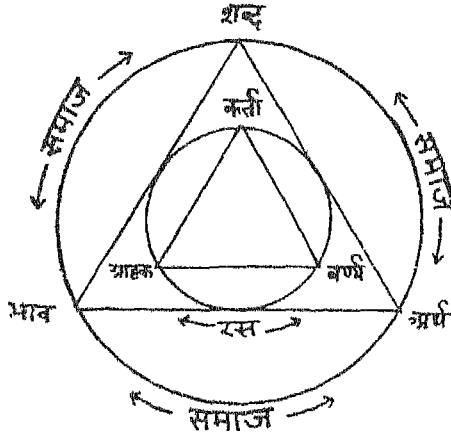
इस प्रकार साहित्य में समाज (समष्टि) का महत्व स्पष्ट है। पर साहित्य का निर्माण किसी व्यक्ति के द्वारा होता है। यदि एक ही विषय का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्ति करें तो उनमें भिन्नता होगी। प्रश्न होता है कि साहित्य में इस भिन्नता का महत्व माना जाय या समष्टि की अभिन्नता का ? भिन्नता या व्यक्ति का सम्बन्ध केवल कर्ता से नहीं, ग्राहक से भी है, वर्ण्य से भी है जैसे कहनेवाला व्यक्ति, वैसे ही कहा जाने वाला व्यक्ति, तैसे ही सुनने वाले या देखने वाले, समझने वाले या ग्रहण करनेवाले, पढ़ने वाले श्रोता, दर्शक, प्रेक्षक सहृदय, ग्राहक या पाठक व्यक्ति। राम-सीता व्यक्ति, तुलसीदास व्यक्ति, हम आप व्यक्ति अथवा विशेष। बिना विशेष के न साहित्य बन सकता है, न समाज फिर व्यक्ति का महत्व है या जाति का। विशेष का महत्त्व है या साधारण का ? इसका उत्तर यही है कि राम सीता की अनुभूति न तुलसी को हो सकती है, न तुलसी की अनुभूति हमारी आपकी ही हो सकती है। कोई यदि सर्वसामान्य भावना न हो तो राम तुलसी और हम-आपका एकीयकरण नहीं हो सकता। इसी से कहा जाता है कि साहित्य में विभावादिकों की साधारणी कृति होती है। राम-राम न रह कर मनुष्य रह जाते हैं। तुलसी तुलसी न रह कर मनुष्य रह जाते है। साहित्य में 'विशेष' व्यवहार के लिए है, उसके स्वरूप का पता साधारण से चलता है। यदि कोई कर्ता ऐसा भाव साहित्य में लाए जिसका वर्ण्य में होना संभव न हो, ग्राहक के द्वारा जिसका ग्रहण सम्भव न हो, तो वह किसी सर्वनिष्ठ या सर्वव्यापी वृत्त के घेरे में न आ सकेगा

यदि कोई कर्ता अपनी ऐसी अनुभूति सामने लाता है जिसकी सीमा उसका परिवार या घर या प्रिय है, उसकी यह अनुभूति यदि सर्वव्यापी समाज या सामाजिक से उस का लगाव नहीं रख सकती तो वह साहित्य के काम की नहीं हो सकती, कर्त्ता के ही काम की हो सकती है। कर्त्ता दूसरों की अनुभूति रूप आदि का ग्रहण प्रतिबिम्ब के रूप में करता है। राम आदि के भाव बिम्ब हैं। तुलसी आदि राम काव्य लिखने वालों के हृदय में उस बिम्ब का प्रतिबिम्ब रहता है। ग्राहक उस प्रतिबिम्ब को अपने मानस में प्रतिबिम्बित करता है। इस प्रकार उनका एकीकरण हो जाता है। साहित्य की सत्ता, प्रतिबिम्बिक सत्ता है, प्रतिभासिक नहीं। साहित्य सत् का प्रतिबिम्ब है, असत् का भ्रम नहीं। जो साहित्य को असत् कह कर उसकी अवहेलना करते हैं। उन्हें उसकी इस सत्ता को समझने का अभ्यास करना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य की व्याप्ति के लिए समष्टि को व्यापक और व्यक्ति को व्याप्य मानना चाहिए। व्याप्ति के लिए व्यापक को माना जाय या व्याप्य को, इसका निर्णय कोई भी तार्किक या नैयायिक कर सकता है। वस्तुतः व्यक्ति का महत्त्व पश्चिमी देशों की अनुकृति के कारण बार-बार सामने किया जाता है, जहाँ साहित्य का लक्ष्य मनोरंजन है और जहाँ साहित्य कला है। भारत में साहित्य का लक्ष मनोरंजन नहीं रसानुभूति या मनोमुक्ति है। जिसके अनुसार रंजन (रजोगुण) और स्वार्थ (तमोगुण) का अत्यंताभाव हो जाता है तथा असत् के स्थान पर केवल सत्य का उद्रेक हो जाता है, वह 'भग्नावरण चित्' रह जाता है। 'अहंता' का 'समष्टि' में लय यह भारतीय सूत्र है—'समष्टि' से अहंता का पार्थक्य यह विदेशी प्रक्रिया है। पर-भाव में स्व-भाव का लोप यह यहाँ का साहित्य कहता है। स्वभाव का चित्रण यह पश्चिमी साहित्य चाहता है। एक द्वैत या भिन्नता से द्वैत और भिन्नता की ओर बढ़ता है। द्वैत के बिना जगत् की, अहम् की अभिव्यक्ति नहीं, अद्वैत के बिना सत् की रस की प्राप्ति नहीं। इसी से 'रसो' वै सः' भारत मानता आया है। उसके लिए इदम् (जगत) और अहम् व्यक्ति के कारण कोई बाधा नहीं, वह 'सर्वं' खल्विदं ब्रह्म भी मानता है और 'अहं-ब्रह्मास्मि' का भी उद्घोष करता है। संक्षेप में यों कह सकते है कि ज्ञानयोग राजयोग की भाँति साहित्य का भी 'भावयोग' है। यह व्यक्ति या व्यष्टि का समष्टि में लोप मानता है। यहां साध्य समष्टि है साधक व्यक्ति है। साहित्य भाव-साधना है, समाज लक्ष्य है, सामाजिक ग्राहक है और सामाजिकता साहित्य धर्म है इसी से पश्चिमी साहित्य उचितानुचित का विचार न करे,

न करे पर यहां सहित्य को, सामाजिक को उचित का विचार करना पड़ता है। यहां औचित्य का विचार साहित्य में आवश्यक है, मर्यादा उसके लिए अपेक्षित और अनिवार्य है। व्यक्ति अपने 'स्वः' के भीतर उचित का विचार न करे, न करे; पर समाज के विस्तार में 'पर' का विचार आवश्यक है। वहां, 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। की विधि से 'स्व' को 'पर' तक जाना पड़ेगा। वहां 'औचित्य' का विचार प्रधान है, वक्रोक्ति' का नहीं---

औचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा॥

साहित्य इसी से यहाँ वह 'कला' नहीं जहाँ व्यक्तित्व का प्राधान्य मान्य हो सकता है। कला को यहाँ उपविद्या माना गया है, वह साहित्य-विधान में सहायता कर सकती है। साहित्य को व्यक्तित्व प्रधान मानना भारतीयदृष्टि से उसे नीचे गिराना है, स्वामी को सहायक बना देना है। साहित्य में कौन सी दृष्टि सम्मान्य हो भारतीय समष्टि-दृष्टि या पश्चिमी व्यष्टि-दृष्टि इसका निर्णय आपसे आप हो सकता है। साहित्य की व्याप्ति दूर तक करनी हो तो समष्टि को मानिए। उसकी व्याप्ति अपने घर, गाँव, प्रान्त आदि तक करनी हो तो विशेष या व्यक्ति को मानिए। साहित्य में रहेंगे दोनों ही। व्यक्ति की प्रधानता होगी तो वह मैं 'मैं' चिल्लाता रहेगा, सब उसकी बातें सुनें चाहे न सुनें। समष्टि की प्रधानता होगी तो सब उसकी सुनेंगे, भले ही वह भूल जायँ कि किसको सुन रहे है।

वाणी-वितान (भवन);
ब्रह्मनाल; काशी।

डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

दुःखवाद और संत कवि

एको रसः करुण एव निमित्त भेदा—
भिन्नः प्रथक् प्रथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुद तरंग मयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिल मेव तु तत्समग्रम् ॥

—भवभूति

एक करुण ही मुख्य रस, निमित भेद सों सोई ।
पृथक् पृथक् परिणाम में, भासत बहु विधि होई ॥
बुद बुद भँवर तरंग जिमि, होत प्रतीत अनेक ।
पै यथार्थ मे सबनि को, होत रूप जल एक ॥

—सत्यनारायण 'कवि रत्न'

दुःख सुख की निशा दिवा में,
सोता जगता जग जीवन ।

—पंत

मानव जीवन विविध प्रकार के अनुभवों का केन्द्र-स्थल है। उसके जीवन का सौन्दर्य अतीव वैचित्र्यपूर्ण है। उसके हृदय में नित प्रति ही भावों के इन्द्रधनुष बना और मिटा करते हैं।' उसके मानस में भावों एवं मनो वेगों के ज्वार भाटा का उत्थान पतन होता ही रहता है। हर्ष-विषाद आशा-निराशा, सुख-दुःख वैभव-दारिद्रय आदि के जीवित इतिहास का ही नाम 'जीवन' है—मानव जीवन है। जीवन आनन्द और विषाद की ही अनुभूति है। कवि इस विशाल संसार के रंग मंच का अमर गायक है। काव्य हमारे

हृदय की श्वास है। मनुष्य का आंतरिक जीवन अहर्निश उसी में प्रवाहित रहता है। यह संसार ब्रह्म वा प्रकृति की अभिव्यक्ति है और काव्य मानवीय अनुभूतियों की व्यक्ति। उस अव्यक्त की अभिव्यक्ति है यह सम्पूर्ण जगत् और इस जगत् की, उसके मानस की विदुर भूमि में वेदना बहुल भावों के आघात-प्रत्याघात की अभिव्यक्ति है काव्य। अनादि काल में जब इस विश्व-वीणा का निर्माण होने लगा तभी इसके एक तूंबे में हृदय का विकल क्रन्दन और दूसरे में आनन्द का मधुर स्वर भर दिया गया था। सुख एवं दुःख का जन्म तभी होगया था। उस अनादि विश्व-वीणा से जो प्रथम स्वर निकला वह सम्भवतः वेदना का ही विकल स्वर था। वेदना मानव जीवन की मूल रागिनी है।

मानव एक सजीव कविता है। सुश्री महादेवी वर्मा के शब्दों में 'वह (मानव) एक संसार रहता है और उसने अपने भीतर एक और, इस संसार से अधिक सुन्दर, सुकुमार संसार बसा रक्खा है। मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों एक प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं; उस का बाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है, और अंतस्तल अपार्थिव असीम का। एक उसको विश्व में बाँध रखता है तो दूसरा उसे कल्पना द्वारा उड़ाता ही रहना चाहता है। जड़ चेतन के बिना विकास शून्य है और चेतन जड़ के बिना आकार शून्य है। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है।' (रश्मि'-अपनी बात')

कोमल एवं सुखद भावनाओं के सुमधुर संस्पर्श से, अनुभूति से जाग्रत हो अथवा चौंककर अंतस् के अंतर्गत अव्यक्त 'अहम्' जब अपने परिज्ञापन के हेतु व्याकुल व्यग्र हो उठता है तभी तो मानव कवि बन बैठता है। अतएव पीड़ाओं के पर्दे में सन्निहित रहने वाला मानव का अहम्' जब स्वपरिज्ञापन के लिए व्याकुल हो उठता है तभी वह कवि बनता है। 'पंत' के मत से सहमत होकर हम कह सकते हैं कि—

वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

दुःख एवं करुणा की अनुभूति मानव मात्र की धमनियों में प्रवाहित होती है। उपयुक्त अवसर पर वह अपने को अभिव्यक्त कर देती है। पंत के शब्दों में 'विश्वास का काव्य अश्रु कन'। सत्य तो यह है कि मानव जीवन की सबसे विशद, गंभीर और व्यापक अनुभूति है 'दुःख'। अतः इस अनुभूति या

भाव की व्यंजना हमें निरन्तर मिलती है। कभी कभी यह भावना इतने व्यापक रूप से व्यक्त हुई है कि हमें विश्व के कण-कण में दुःख एवं करुणा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं उपलब्ध होता। विश्व का तीन चौथाई से अधिक साहित्य दुःखानुभूति की व्यंजना मात्र है। इस दुःखानुभूति के कारण बहुत से है। कभी यह पार्थिव तत्त्वों पर अवलम्बित है और कभी अपार्थिव। कभी उसका आधार अतृप्ति है, कभी अभाव, कभी विरह और कभी अप्राप्ति। परन्तु यह दुःख ही उसकी अनुभूति, उसकी व्यंजना और उसकी भावनाओं का केन्द्र बिन्दु चिरकाल से रहा है और रहेगा भी।

प्रकृति का क्रम और गति बड़ी रहस्यमयी है। यथा क्रमशः शुक्ल और कृष्ण पक्ष का क्रम प्रकृति की रहस्यमयी देन है ठीक उसी प्रकार दुःख एवं सुख का क्रम है। तथ्य तो यह है कि प्रकृति के चक्र में दुःख एवं सुख, अंधकार एवं प्रकाश, ये दो परस्पर 'विरोधी' गुण स्थित है। सामान्यतया जिस कवि में अनुभूति की मात्रा जितनी ही घनीभूत होती है वह उतना ही दुःख तथा अहंकार की ओर उन्मुख होता है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ इस कथन के समर्थक है। दिन की उज्ज्वलता, और सूर्य के प्रखर प्रकाश की अपेक्षा उनका चित्र रात्रि के गहन अंधकार में अधिक प्रसन्न प्रतीत होता है। यहाँ रवीन्द्रनाथ की प्रस्तुत पंक्तियाँ पठनीय होंगी।

यथा दिवा अवसाने निशीथ निलये।
विश्व देखादेय तार ग्रह-तारा लये।
हास्य-परिहास-मुक्त हृदये आमार,
देखितो से अन्तहीन जगत विस्तार॥

दुःख और सुख दोनों ही समान रूप से प्रकृति की देन है। दुःख जीवन का एक ऐसा काव्य है जो समस्त मानवता को एक सूत्र में बांध देने की क्षमता रखता है। 'अश्रु' ही जीवन की सारपूर्ण 'फिलासफी' है। वेदना और जीवन दोनों ही पर्याय से लगते हैं। पाश्चात्य कवि शैली के अनुसार—

Misery we have known each other
Like a sister and a brother—
—(Misery—Shelly)

संसार में अपने को सुखी मानना, समझना आत्म-प्रवंचना नहीं तो और क्या है।

समस्त छः शास्त्रों का श्रीगणेश दुःखवाद से ही हुआ है। गीता का प्रारम्भ भी 'दुःखवाद' से ही होता है। इन ग्रंथों में जो भावना व्यक्त

हुई है, उसका अभिप्राय यह है कि संसार दुःख से ही ओत-प्रोत है और जो यत्किंचित् सुख दृष्टिगत होता है उसका भी अन्तस् दुःख से अनुरंजित है। अतएव हमारा लक्ष्य है दुःख की निवृत्ति करना। गीता का दुःखवाद अन्य शास्त्रों से भिन्न है। मीमांसा आदि शास्त्रों में संसार दुःख का आगार माना गया है और यहाँ मानव को सुख कभी नहीं मिल सकता है। अतः दुःख रूप संसार से शरीरतः सम्बन्ध विच्छिन्न करके अथवा उदासीन होकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करनी चाहिए। मनुष्य को प्रकृति से सम्बन्ध त्यागकर ब्रह्मत्व प्राप्त करना आवश्यक है। वेदांत एवं गीता का अभिमत है कि मानव बिना देह का परित्याग किये केवल अन्तर्दृष्टि को ठीक रखने तथा अंतस्साधना करने पर भी निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है। गीता में कहा गया है कि जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है 'उनका' वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्द घन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है। [1]जिनका मन तद्रूप हो रहा है जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है, और ब्रह्म में जिनकी एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर अपुनावृत्ति को प्राप्त करते है। [2]वे ज्ञानीजन समदर्शी होते हैं [3]जो हर्ष और विषाद से रहित हैं तथा स्थिर बुद्धि संशय रहित हैं वही एक भाव से नित्य स्थित हैं। [4]बाह्य विषयों में आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित, जो ध्यान जनित सात्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है। तदनन्तर वह ब्रह्म के ध्यान रूप में अभिन्न रूप से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। [5]इन्द्रियों का सुख ही दुःख है। अतः बुद्धिमान उनमें नहीं रमता है। [6]जो शरीर के नाश से पूर्व ही विकार जनित वेग को सहन कर लेता है, वही योगी है। [7]जो मानव अन्तरात्मा में ही सुख वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान प्राप्त कर चुका है वह ब्रह्म के साथ एकीभाव प्राप्त करता है। [8]बाहर के विषय भोगों का न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकाल कर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाला प्राण और अपानवायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियां-मन व बुद्धि जीती हुई है—ऐसा जो मोक्ष परायण-मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है।[9] जीवन

१- श्रीमद्०	गी०	अ० ५	श्लोक	१६	२- श्रीमद्०	गी०	अ० ५	श्लोक	१७
३-	,,	,,	,,	१८	३-	,,	,,	,,	२०
५-	,,	,,	,,	२१	६-	,,	,,	,,	२२
७-	,,	,,	,,	२३	८-	,,	,,	,,	२४

काल में ही नित्य पुरुष के भीतरी लक्षण ही के नाम से गीता में सविस्तार वर्णित हुए है। यह प्रसंग भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए पठनीय होगा। [2]इस विषय में निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत करना असंगत न होगा—

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शांतिर शान्तस्य कुतः सुखम्॥
—(गीता अध्याय २, श्लोक ६५-६६)

प्रस्तुत विवेचन से गीता का दुःख विषयक मत स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गीता का दुःखवाद वेदांत के दुःखवाद से साम्य किन्तु अन्य शास्त्रों के मत से भेद रखता है।

अब उपनिषदों का दुःख विषयक मत विचारणीय है। उपनिषदों का मत है कि जगत ब्रह्म-रूप आनन्द-रूप तथा सुख-रूप है, भले ही संसारी को माया के दुष्प्रभाव से यह संसार दुःख रूप प्रतीत होता है। इसके समर्थन में छान्दग्योपनिषद्, तैत्तरीयोपनिषद् एवं कठोपनिषद् के मत पठनीय होंगे। छान्दग्योपनिषद् में कहा गया है कि यह जगत ही वास्तव में ब्रह्म है। कारण कि उसी परब्रह्म से इसकी उत्पत्ति हुई है, यह उसी में लीन भी होता है और उसी में इसका परिपालन, पोषण एवं सम्वर्द्धन भी होता है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति।
—(३-११-१)

इस विषय में प्रस्तुत उपनिषद् का एक और कथन पठनीय है। निम्नलिखित कथन में कहा गया है कि जो यह भूमा है वही सुख है। वही भूमा ही नीचे, ऊपर, पीछे, समक्ष, दाहिने और बायें सर्वत्र विद्यमान है। वही तो, यह सब कुछ है—

यो वै भूमा तत्सुखम्। —(७-२३-१)

तथा—

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतःस उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति। —७-२५-१

तैत्तरीय उपनिषद् का अभिमत है कि

---

(१) श्रीमद्० गी० अ० ५ श्लोक २७-२८
(२) ,, ,, ,, द्वितीय ,, ५५-५७ तथा ६४-७२

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्द प्रयन्त्यभि संविशन्तीति । — (तै० उप० भृग० ३)

अर्थात् संसार के समस्त तत्व आनन्द से ही समुत्पन्न होते हैं और आनन्द में ही जीवन प्राप्त करते है । अन्त में मृत्यु प्राप्त करते हुए भी वे आनन्द में ही प्रवेश करते हैं ।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति इस संसार में सर्वदा ब्रह्म-दृष्टि अथवा आत्म दृष्टि रखता है वही नित्य आनन्द का अधिकारी है । वह विषय वासना आदि से ऊपर उठ कर ब्रह्मानंद का अनुभव करता है । हृदयस्थ समस्त कामनाओं के विलीन हो जाने के अनन्तर वह मर्त्य अमर्त्य बन जाता है । वह ब्रह्म जो समस्त भूतों की अंतरात्मा में परिव्याप्त है, उसे जो व्यक्ति अपने में स्थित अथवा अनुभव करता है, वही नित्य सुखी होता है । वह नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन जो सभी की कामनाओं का सर्जन करता है, उसे जो भी अपने में स्थित अनुभव करते हैं, उन्हें स्थायी शांति और आनन्द प्राप्त होता है,

यदासर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः ।
अथ मर्त्यो मृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
—(का० उप० २-३-१४)

एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूप बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
—[क० उप० २,२,१२-१३]

बौद्धमत में 'दुःख' के पीछे एक विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा की रचना हुई है । कालांतर में 'दुःख' ही भगवान बुद्ध की धार्मिक शिक्षा का आधार बन गया । बुद्ध देव ने कर्त्तव्यशास्त्र के दृष्टिकोण से चार सत्यों का उपदेश दिया है । सम्भवतः इन्हीं (चार सत्यों) के सम्यक् ज्ञान के कारण उन्हें 'संबोधि' प्राप्त हुई है । इन सत्यों को 'आर्य सत्य' कहा गया है । 'आर्य सत्य' से अभिप्राय है—वे सत्य जिन्हें केवल आर्य (अर्हत्) लोग ही सम्यक् रूप से जान सकते हैं । यों तो सत्य अनेक हैं, परन्तु इन चार की महत्ता विशेष रूप से विचारणीय है । बुद्ध जी द्वारा प्रतिपादित 'आर्य सत्य' निम्नलिखित हैं ।

(१)—दुखम्-इस संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है ।

(२)—समुदाय—इस दुःख का कारण विद्यमान है।

(३)—निरोध—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिलती है।

(४)—निरोधगामिनी प्रतिपद—दुखों के निरोध के प्रतिपद हैं। इसका आलम्बन करने से मानव दुःख का विरोध कर सकता है।

भगवान बुद्ध से बहुत पूर्व व्यास जी ने आध्यात्म शास्त्र को चिकित्सा-शास्त्र के समान ही चतुर्व्यूह माना था। व्यास जी के मतानुसार यथा चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग का हेतु, आरोग्य तथा भैषज्य है, उसी तरह दर्शन-शास्त्र में संसार (दुःख), संसार हेतु (दुःख का कारण), मोक्ष (दुःख का नाश) तथा मोक्षोपाय चार सत्य माने गए हैं। तत्त्वज्ञानी को वैद्य के समान दुःख रूपी रोग को समूल नष्ट कर देना चाहिए—

'यथा चिकित्सा शास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो, रोग हेतुः, आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्—तद् यथा संसारः, हेतुः, मोक्षो मोक्षोपायै।'

व्यासभाष्य २-१५

तथागत के मतानुसार संसार दुःखमय है। सर्वत्र दुःख ही दुःख वर्तमान है। जन्म भी दुःख है, वृद्धावस्था भी दुःख है, मरण भी दुःख है। दौर्मनस्य परिवेदना, शोक, उपायास सब दुःख है। प्रिय का वियोग, अप्रिय का समागम, अपेक्षित का दुर्लभ होना सभी कुछ तो दुःख है। राग के द्वारा समुत्पन्न रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान भी दुःख ही हैं—

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्च। जातपि दुक्खा, जरापि दुक्खा मरणम्पि दुक्खं, सोकपरिदेव-दोमनस्सु पायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, संखित्तेन पंचुपादानक्खंधापि दुक्खा॥'

सत्य तो यह है कि जब यह संसार जलते हुये घर की भांति ही है, तो यहाँ कहाँ है हँसी और कहाँ है सुख—

को नु हासी किमानन्दो निच्चं पज्जलितेसति।

—धम्मपद गाथा १४६

इस दुख का हेतु मानव की 'तृष्णा' है। मनुष्य स्वयं अपने द्वारा सृजित दुखों में ठीक उसी प्रकार फँसता रहता है जैसे मकड़ी स्वनिर्मित जाल में फँस जाती है—

ये रागरत्ता न पतंति सोतं, सयं कतंमक्कटका व जालं

—धम्मपद गाथा ३४७

अतएव तृष्णा और दुख समान रूप से त्याज्य हैं। चतुर्थ आर्य सत्य है'

गामिनी प्रतिपद। इसे 'अष्टांगिक मार्ग' भी कहा गया है। ये आठ अंग इस प्रकार हैं—

१—प्रज्ञा	(१) सम्यक् दृष्टि
	(२) सम्यक् संकल्प
२—शील	(३) सम्यक् वाचा
	(४) सम्यक् कर्मान्त
	(५) सम्यक् आजीविका
३—समाधि	(६) सम्यक् व्यायाम
	(७) सम्यक् स्मृति
	(८) सम्यक् समाधि

उपर्युक्त इन आठ मार्गों पर चलने वाला मानव दुखों का विनाश कर 'निर्वाण' प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध धर्म दुःखवादी है, निराशावादी नहीं। निराशावादी के मतानुसार संसार में दुःख है और इन दुखों से किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं है। परन्तु बौद्ध धर्म कहता है कि दुःख है और उसका उपाय भी है। अतएव बौद्ध धर्म निराशावादी नहीं वरन् दुःखवादी मात्र है। साथ ही उसे आशावादी भी कहना असंगत न होगा।[1] दुखों से परिपूर्ण संसार में भी बौद्धों को जीवित रहने की आकांक्षा अथवा चाह इसीलिए शेष रही है कि वे (दुखों से ग्रस्त होते हुए भी) भविष्य के प्रति आशावादी थे। वे दुखों से निवृत्ति भले ही चाहते हों पर देह का परित्याग करना कहीं नहीं चाहते हैं। कारण स्पष्ट है। दुःख स्थायी कभी भी नहीं है। यदा-कदा सुख का मान भी होता ही रहता है। इसीलिए मनुष्य के हृदय में इच्छा जाग्रत रहती है कि 'सुखं भूयात् दुखं माभूयात्।'

हिन्दी के आदि-युगीन सिद्ध कवियों का आविर्भाव बौद्धों की परम्परा में हुआ था। अतः दुःखवाद विषयक इतना दृष्टिकोण बौद्धों से पूर्णतया साम्य रखता है। इन कवियों की रचनाओं में न तो 'चार आर्य सत्यों' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है न 'अष्टांगिक मार्ग' का ही परन्तु इन दोनों ही सिद्धान्तों का सारतत्व कवियों ने अपनी सरलभाषा में स्वाभाविक शैली में अवश्य व्यक्त किया है। सिद्ध कवियों में दुःखवाद के साथ आशावादी दृष्टिकोण भी चित्रित हुआ है जैसा कि बौद्ध मत की विवेचना करते हुए ऊपर लिखा जा चुका है, इन कवियों ने संसार, काया, नारी, माया आदि सभी में दुःखों की सजीवता देखी है परन्तु उनमें आशावादी विकारों का अभाव नहीं है। सामान्यतया सिद्धों का दुःखवाद निम्नलिखित शीर्षकों में व्यक्त हुआ है—

(१) काया नरक २
(२) आवागमन दुख ३
(३) गर्भवास दुःख ४
(४) संसार तुच्छ ५
(५) कोई किसी का नहीं ६
(६) भोग में योग ७
(७) आत्मा ८

सरहपा, स्वयंभू, भूसुकपा, लुईपा, विरूपा, गोरक्षपा आदि कवियों ने दुःख के प्रति उपर्युक्त दृष्टि कोण को ही अपनाया है।

जैन कवियों के अनुसार जब तक आत्मा बोध नहीं प्राप्त करती है तब तक वह पुत्र कलत्रादि में सलग्न रहकर साधना से च्युत होकर भांति-भांति के दुखों को सहन करता है। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए दुःखों का भोग किसी प्रकार कम नहीं है। जीव मोह के वश में पड़कर मोक्ष से वंचित रह जाता है और यही दुख है। विषय सुख दो दिन के हैं और फिर वही दुखों की परिपाटी प्रारम्भ हो जाती है। मानव जान बूझकर अपनी ही कुल्हाड़ी से अपने कँधे पर प्रहार करता फिरता है। मुनिरासिंह जैन साहित्य के महा कवि और प्रतिनिधि कवि माने जाते है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से जैन धर्म का दुःख विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा:—

जोणिहिं लक्खहिं परि भमइ अप्पा दुक्खु सहन्तु।
पुत्त कलत्तइं मोहियउ जां मण वोहि लहन्तु ॥८॥
जं दुक्ख वित सुक्खु किउ ज सुहु तं पिय दुक्खु।
पइं जिय मोहहिं वसि गयइं लेणाण पयउ मुक्खु ॥१०॥

---

1 The burden of its teaching is that all suffring (Sarvam-Dukham) all the water all sears are not to be compared with the food of tears which has flowed since the universe first was. Evil or the misery of Sansara is not reae and the foremost aim of man is to effect an escape from it When he describe Buddhaes teaching as pessimist c, it must not be taken to be a creed of despair. It does not indeed promise joy an earth or in a world to come as some other doctrines do. But it admits the possibility of attaining peace here and now, whereby man instead of being the victim of misery will become its victor. It no doubt emphasises the dark side of life but the emphasis merely shows that life as it is commonly led is marred by sorrow and suffering and not that they are its inalienble features—'
—outlines of Indian Philosphy by M. Hiriyanna

२ हिन्दी काव्यधारा राहुल सांकृत्यायन पृ० १२२
३ ,, ,, ,, ,, ,, १२४
४ ,, ,, ,, ,, ,, १२४
५ ,, ,, ,, ,, ,, १२७
६ ,, ,, ,, ,, ,, १३०
७ ,, ,, ,, ,, ,, १६२
८ ,, ,, ,, ,, ,, २४३

मोक्खु ण पावहि जीव तुहुँ धणु परियणु चितंतु ।
तोइ विचिंतहि तउ जि तउ पावहि मुक्खु महंतु ॥११॥
विसयसुहा दिहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म तुवाहि अप्पा खांधे कुहाडि ॥१७॥
अण्णु जि जीव म चिंति तुहुं जई बीहउ दुक्खस्स ।
तिलतुस भिन्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥७४॥

—पाहुड दोहा

अब हिन्दी काव्य में दुःख व्यंजना के प्रति ध्यान दीजिए । हिन्दी का चारण काव्य प्रमुख रूप से वीर रस एवं ओजगुण से युक्त था । अतः इस युग में उस कोमल अनुभूति की शृंखला प्रायः लुप्त सी होगई थी । इस काव्य में प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोमल भावनाओं को अनुभूति का आधार नहीं बनाया गया । इस युग के कवियों को यदि दुःख के दर्शन कहीं पर हुए हैं तो वह वीर नायक और नायिका के विरह निवेदन में । इस कोटि का वर्णन भौतिक दुःख को जाग्रत करने मात्र में सफल हुआ है । उस युग में दुःख आलिंगन करने की वस्तु नहीं थी, वरन् वह गर्व के साथ करवाल की नोक पर उठा कर शत्रु के ऊपर फेंक देने योग्य वस्तु थी । हृदय की कोमलता के साथ ही भावों की अनुभूति भी कोमल बन जाती है । भाव एवं भावनाओं का नीड़ हृदय ही तो है । इन्द्रियाँ आलम्बन का संदेश सम्प्रेषित कर के उन्हें जाग्रत कर देती हैं । कालांतर में कठोर शारीरिक रोष ठंडा पड़ जाने पर प्रेम एवं विरह जनित पीड़ा का आनन्द भक्त एवं रसिक कवियों के हृदय से फिर उमड़ पड़ा ।

मानव हृदय की शाश्वत भावना में प्रेम का प्रमुख स्थान है । इस प्रेम का अनुभव वह विविध प्रकार में भिन्न भिन्न अवस्थाओं में करता रहता है । प्रेम की स्वतंत्र व्यंजना को व्यक्त करने के हेतु बड़े-बड़े रहस्यवादियों ने सूफियों ने, भक्तों ने आत्मा परमात्मा को पति-पत्नी के सम्बन्ध में संसार के सम्मुख रखा है । रहस्यवाद के इसी प्रेम में संतों की आत्मा नारी बन कर

ब्रह्म के लिए और सूफी मत के इसी प्रेम में जायसी की जीवात्मा पुरुष बनकर ब्रह्म रूपी स्त्री के लिए तड़पती है। यह प्रेम मत के, आत्मा के अथल हृदय के अपने आलम्बन, आराध्य के साथ परस्पर संयोग और सम्पर्क से समुत्पन्न होता है, परन्तु इसमें ज्योंही बाधा पड़ती है त्योंही हृदय को कष्ट होता है, दुःख होता है। यही भाव चैतन्य, चंडीदास, विद्यापति आदि कवियों के दुःखवाद का आधार है। चैतन्य के सखी भाव की लीला पर कौन हृदय विह्वल और व्यथित नहीं हो जाता है। विरह-दुख की तड़पन आगे चल कर वैष्णव कवियों के काव्य का प्रमुख विषय बन गया। चंडीदास की निम्नलिखित पंक्तियों में यही भाव लहरें ले रहा है—

ए मन कभु देखि नांई शुनि।
पराणे पराण बांधा अपना आपति॥
दुंहु कोडे दुंहु कांदे विच्छेद भाविया।
ि ल आधे ना देखि ले जाय ये मरिया॥
जल विनु मीने जने कबहु ना जीये।
मानुषे एमन प्रेम व भु ना देखिये॥

मैथिल कोकिल विद्यापति की यही दुःख भावना निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुई है—

सखि हे हमर दुखक नंहि ओर।
ईभर बादर मा ह भादर,
सून मंदिर मोर।
झंपि घन गरजंति संतत,
भुवन भरि बरसतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन,
सघन खर सर हंतिया।
कुलिस कत सत पात मुदित,
मयूर नाचत मतिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक
फटि जायत छातिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओत
हरि बिना दिन रतिया।

अब हिन्दी के संत कवियों की दुःख भावना की ओर ध्यान दीजिए इन कवियों की दुःख भावना जितनी ही व्यापक है, उतनी ही गंभीर। इन्हें

संसार आद्योपांत दु:ख की अबाध धारा में निमग्न प्रतीत होता है। इन्हें अखिल संसार दुखमय और दुख से परिपूर्ण दृष्टिगत हुआ। इस संसार में यदि कुछ भी दु:ख से विहीन है, कुछ भी दु:ख से अछूता है तो वह 'राम' और 'नाम' मात्र है।

संतों की दु:ख भावना पर बौद्ध दर्शन का बड़ा स्पष्ट प्रभाव पड़ा, जैसा कि आगे के विवेचन से प्रकट होगा। बौद्धों की भांति इन्होंने कहीं पर निराशावादी दृष्टि कोण नहीं अपनाया।

संतों के मतानुसार दु:ख का उद्रेक सुख के नियमों को भंग करने पर होता है, तथा रोग का कारण स्वास्थ्य के नियमों को भंग करता है। मानव अपने मन के कारण सुख दु:ख का अनुभव करता है। मन ही समस्त विकारों का अनुभव करता है, इसीलिए मन की गति को आमूल समाप्त कर देने के लिए संतों ने बारम्बार उपदेश दिया है। मन की जाग्रत अवस्था को समाप्त कर देना ही दु:ख का इति कर देना है। अस्थिरता की अवस्था में मन को दु:ख का अनुभव और भी अधिक होता है इसलिए मन की वृत्ति को एकाग्र करलेने से दु:ख का संस्पर्श नहीं होता है। परब्रह्म स्वरूप आत्मा को भली भाँति निकट से न पहचान सकने के कारण मन में भाँति-भाँति की भ्रांतियाँ, अस्थिरताएँ और संताप का जन्म होता है, अतः वास्तव में दु:ख का प्रधान कारण आत्मा का अज्ञान है। इसके अनन्तर निमित्त कारण उस अज्ञान की शाखा, रूप मोह, तृष्णा, कामना, विषयासक्ति तथा आभ्यांतरिक दौर्बल्य है। गुरु नानक के मत से सुख दु:ख केवल मन की व्यथा और उत्पत्ति है। मन को निर्मल कर डालने पर मन के ये समस्त विकार विलीन हो जाते हैं।

प्रभुजी तूं मेदे प्रान अधारे।
नमस्कार डंडौत बन्दना अनिक बार जाउं बलिहारे।।
उठत बैठत सोवत जागत इहु मन तुझे चितारे।
सुख दुख इस मन की बिरथा, तुझ ही आगे सारे।।
तूं मेरी ओट बल बुधि धन तुमहीं तुमहीं मेरे परिवारे।
जो तुम करो सोई भल हमरे पेख नानक सुख चरना रे।।

सुख का बीज दुख के गर्भ में सन्निहित है। अंधकार एवं प्रकाश, दु:ख एवं सुख एकमेवाद्वितीयम् सत्य के दो विभिन्न स्वरूप हैं। वेदना का स्थान मानव जीवन में अधिक गंभीर और रसमय है। दु:ख में स्थिरता, गाम्भीर्य एवं अपरिमिति का भाव पाया जाता है। सुनील गगन की स्तब्ध निबिड़ता में जो अनन्त की स्थिर शान्ति एवं महती गरिमा का भाव उदय होता है, वह

अनन्य है किन्तु सुख का अस्थिर आलोक क्षणिक है। आकर्षक होते हुए भी उसमें स्थायित्व का नितांत अभाव है। वह गम्भीर कालिमामय प्रशांत सागर की कल्लोलमय तरंगमाला के शुभ्र फन के सदृश्य सुन्दर तथा क्षणिक है। आलोक अन्धकार के रहस्यमय गर्भ से उद्भूत होता है और सुख दुख के गर्भ से विकसित होता है? अतः दुःख भी उतना ही आलिंगन की वस्तु है जितना कि सुख।* कबीर आदि संतों ने दःख से सुख को किसी प्रकार भी कम नहीं माना है। उनकी दृष्टि में दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। संतों ने बराबर इस बात को दुहराया है कि बिना दुख के सुख हेय, घृणित और निःसार है। वह जीवन का भार है जिसका आधार आँसू न हो। सतों ने दु:ख ही को सुख माना है। सुन्दरदास दुःख को सुख और सुख का ही दु ख मानते है। कवि के शब्दों में—

सुन्दर पतिब्रत राम सों, सदा रहै इकतार।
सुख देवै तो अति दुखी, दख तो सुखी अपार।।

इसीलिए मलूकदास संसार भर के द:ख को आलिंगन करने के हेतु प्रस्तुत है।

जे दुखिया संसार में, खोवो तिन का दुक्ख।
दलिद्दर सौंपि मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख।।

संत पलटू के मतानुसार दुःख के भीतर ही वास्तविक सुख और दु:ख का बीज निहित है। इसके विपरीत सुख नरक का आगार है। इसीलिए कवि इन दोनों की तुलना में दुःख ग्रहण करने का मलूकदास की भांति पक्षपाती प्रतीत होता है —

---

* भाव साम्य के लिए प्रसाद और पंत की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत कर देना रोचक प्रतीत होगा—

(१) जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्यमय वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।। —कामायनी

(२) तरसते हैं हम आठों याम, इसी से सुख अति सरस प्रकाम
झेलते निशि दिन का संग्राम, इसी से जय अभिराम
अलभ है इष्ट अतः अनमोल, साधना ही जीवन का मोल
—पल्लव—'परिवर्तन'

(३) बिना दुःख के सब निस्सार।
बिना आँसू के जीवन भार।।

सुनि लो पलटू भेद यह, हसि बोले भगवान ।
दुख के भीतर मुक्ति है, सुख में नरक निदान ।।

नानक के मतानुसार दुःख सुख दोनों ही ईश्वर का प्रसाद है, अतः इन्हें मस्तक पर आदर पूर्वक धारण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है—

मन मूरख काहे चिल्लावै, पूर्व लिखे का लेखा पावै ।
दुक्ख सुक्ख सब देवन हार, अवर त्यागि तू तिसै चितार ।
जो कछु करै सोई सुख मान, भूला काहे फिरै अयान

जगजीवन साहब ने तीन लोकों में किसी को भी सुखी न देखा—

पपिहै जाय पुकारेऊ, पंछिन आगें रोय ।
तीन लोक फिरि आयेऊँ, बिनु दुख लख्यो न कोय ।।

दादू को तो आश्चर्य इस बात पर है कि दुःख से संतप्त होते हुए भी संसार चेतता नहीं है । इस संसार की गति बड़ी विचित्र है । इसने झूठ को सत्य, विष को अमृत, और दुख को सुख मान लिया है । सचमुच जगत दीवाना हो गया है—

झूठा सांचा करि लिया, विष अमृत जाना ।
दुख का सुख सब को कहै, ऐसा जगत दिवाना ।।

दुख का मूल कारण आत्मा का अज्ञान है । अपने आप को भूलना तथा निमित्त कारण उस अज्ञान की शाखा-रूप मोह ! तृष्णा, कामना, विषयासक्ति तथा आभ्यंतरिक दौर्बल्य है । संत कवि चरणदास के मतानुसार नारी में विषयासक्ति[1], संसार से अत्यधिक मोह[2] जग के आकर्षक रूप[3] काम, क्रोध, लोभ[4], इन्द्रियां[5] भवताप[6] आवागमन[7], तथा मानव के अपने दुष्कृत्य[8] दुख के उद्रेक के कारण हैं । धरनीदास के मत से ब्रह्म का विरह ही दुख का मूल कारण है । अन्यथा उसके दर्शन से संसार के समस्त ताप, संताप और दुःख विलीन हो जाते हैं ।[9] भीखा साहब के अनुसार कपट आशा[10] कपट कुचाल[11] आवागमन[12] तथा भक्तिभावना का अभाव ही दुखों का मूल कारण है ।[13] दयाबाई ने दुख का मूलकारण प्रियतम से विरह[14] और आवागमन[15] को माना है ।

दुख का मूल कारण सामान्यतया अज्ञान है । अतएव अज्ञान के निवृत्त करने का उपाय ही दुख की निवृत्ति का मूल साधन है । अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है, यथा अन्धकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है । चरणदास के मत से दुःख की निवृत्ति गुरु द्वारा प्रदत्त अन्तर्दृष्टि[16], हरिभक्ति[17] संयम[18] नाम जप[19] । अनहद नाद[20], साधु सेवा[21] और चिन्तन से संभव है ।[22]

दयाबाई के अनुसार भजन[23] और प्रिय रूप दर्शन[24] दुख का विनाशक है।

धरनीदास के शब्द में ऐसा दुख धन्य है जो मानव को समदृष्टिवान बना देता है—

> जाहि परी दुख आपनो, सो जाने पर पीर।
> धरनी कहत सुन्यो नहीं, बांझ की छाति छीर।

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय।

---

१ चरण० की बा० २७।१ तथा २६।१, २ च० की बा० ३०।८०
३ ,, ,, ३२-६४ ४ ,, ,, ३३-१०२
५ ,, ,, ३६-१ ६ ,, ,, ५७-३
७ ,, ,, ७६-६ ८ ,, ,, २१६-८६
९ धरनीदास की बानी ५१-२३ १० भीखा साहब की बानी २-३
११ भीखा साहब की बानी १२-१ १२ ,, ,, ,, ५७-४
१३ ,, ,, ५८-६ १४ दयाबाई की बानी ६-१२
१५ दयाबाई की बानी १६-५१ १६ चरण की बानी १-२,४
१७ च० की बानी १४-१ तथा ८४-९ १८ ,, ,, २४-४८
१९ ,, ,, ४-२ २० ,, ,, ५१-१
२१ ,, ,, ६१-५ २२ ,, ,, १२-३
२३ दयाबाई की बानी ३२ २४ दयाबाई की बानी १२ —१९

सूफ़ीमत और उसका हिन्दी कविता पर प्रभाव

सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है: (१) ग्रीक शब्द सोफ़ी या Sophia से, जिसका अर्थ है ज्ञान। परमात्मा के प्रेमी तथा उपासक होने के कारण उन्हें ज्ञानी समझा जाता होगा। कुछ लोग उसका उद्गम फ़ि-लसूफ Philosophy से करते है। इसका अर्थ भी ज्ञान है। (२) अरबी शब्द 'सूफ' से जिसका अर्थ होता है---ऊन अथवा बाल। सूफ़ी फ़कीर प्रायः ऊन के लबादे (फ़िर्का कम्बल) लपेटे रहते थे। कुछ लोगों का कहना है कि इनके पूर्वज पहले सुफ्फ़ा अर्थात् हज़रत साहब के साथी थे। इसलिए ये सूफ़ी कहे जाने लगे। हमारे विचार से 'सूफ़ी' शब्द में दोनों ही भाव अन्तर्हित हैं। परमात्मा के प्यारे साधक जो ऊन का लबादा लपेटे रहते थे, वे सूफ़ी कहे जाने लगे होंगे। सूफ़ी नाम का प्रयोग सबसे पहले कुफ़ा के आबू हाशिम के लिए हुआ था। उनकी मृत्यु सन् ७७८ में हुई।

इस सम्प्रदाय का हज़रत अली अर्थात् मुहम्मद साहब के २००वर्ष बाद अधिक विकास हुआ। इनकेस्वतन्त्र विचारों के कारण इन पर अनेक अत्याचार हुए, परन्तु बाद में इनके उच्च विचार धीरे-धीरे अपनाए जाने लगे।

सूफ़ी वस्तुतः ईरान का मत ही नहीं है। वेदान्ती, भक्ति-मार्गी, कुछ अंशों में बौद्ध तथा पश्चिमीय रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वाले तथा सूफ़ी प्रायः सब के विचार एक से ही हैं। वे मूलतः एक हैं---केवल नाम का भेद है।

सूफ़ी का प्रमुख ध्येय अपने अहं को मिटाना है। मौलाना रूमी ने इस बात को बहुत ही अच्छी तरह एक उदाहरण द्वारा व्यक्त किया है : 'किसी ने प्रियतम के दरवाजे पर जाकर खटखटाया। अन्दर से एक आवाज़ ने पूछा, 'तू

कौन है ?' उसने कहा, 'मैं'। आवाज़ ने कहा, 'इस घर में 'मैं' और 'तू' दो नही समा सकते।' और दरवाज़ा नहीं खुला। वह दुःखी प्रेमी वापस जंगल में तप करने चला गया। साल भर कठिनाइयाँ सह कर वह लौटा और उसने फिर दरवाजा खटखटाया। फिर उससे वही प्रश्न किया गया 'तू कौन है !' प्रेमी ने जवाब दिया 'तू', दरवाज़ा खुल गया।'

इस सत्य की प्राप्ति के लिए सूफ़ियों ने प्रेम का रास्ता बताया है। उस रास्ते को समझने के लिए सूफियों के ये सिद्धान्त समझ लेने चाहिए कि, (१) परमात्मा का अस्तित्व ही यथार्थ है, शेष सब माया है। (२) सम्पूर्ण बाह्य सृष्टि सारहीन है। (३) सत्य की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। (४) इसकी प्राप्ति बुद्धि या तर्क द्वारा नहीं हो सकती है। (५) इसकी प्राप्ति आत्म-प्रकाश द्वारा हो सकती है जो योगाभ्यास द्वारा संभव है। (६) इस अभ्यास के लिए गुरु चाहिए। (७) गुरु बहुत खोजने के बाद मिलता है। तथा (८) गुरु में पूर्ण विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

सूफ़ी के निकट मतमतान्तर ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान आदि का कोई मूल्य नहीं। वह तो सारे संसार की विभिधता में एकता देखता है, जहाँ कहीं उसे अपने प्रियतम का आभास मिल जाता है, वहीं वह अपना मस्तक झुका देता है। एक सूफ़ी ने कहा है :

"मर्द आशिक रा न बाशद इल्लते
आशिकां रा न देहे मिल्लते
मज़हबे इश्क अज़ हमा दीनता जुदास्त
आशिक रा मजहब व मिल्लत खुदास्त"

अर्थात् प्रेमी का लगाव संसारी इल्लत से परे है। उसका मज़हब कोई नहीं। सब दीनों से अलग वह भागवत प्रेम ही से सरोकार रखता है।

सूफ़ी मत सहृदयता और पूर्ण समर्पण भावना से आकण्ठ भरा हुआ धर्म है। वैष्णव भक्ति की साकारोपासना के अन्तर्गत नवधा भक्ति के नफ़्स के साथ जिहाद (धर्म युद्ध) विरति पक्ष में और जिक्र और मुराकबत, स्मरण और ध्यान, नवधा-भक्ति पक्ष में ठहरते हैं। कविता, संगीत, नृत्य, पूजा, प्रचुर आदि साधनों द्वारा परमात्मा की प्राप्ति 'सायुज्य मुक्ति' इसका ध्येय है।

सूफ़ी मत आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से भरा हुआ धर्म है। सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति तक साधक को चार अवस्थाओं में हो कर गुजरना पड़ता है। (१) शरीयत—इसमें परमात्मा के नियमों में पूरी आस्था रख कर विधिवत् आचरण करना पड़ता है। यह हुआ हमारे यहाँ का शास्त्र-सम्मत व्यवहार।

(२) तरीकत—मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार ईश्वरीय नियमों का पालन करने की प्रतिज्ञा करना, यह तौबा कहा जाता है। यह हमारे जप, तप दान तीर्थादि के समान है। (३) हकीकत—उपासना के प्रभाव से सत्य का सम्यक् बोध जिससे साधक तत्वदृष्टि सम्पन्न और त्रिकालज्ञ हो जाता है। इन तीन दशाओं को हम क्रमशः कर्म काण्ड, उपासना काण्ड तथा ज्ञान काण्ड कह सकते हैं। (४) मारिफत – अर्थात आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति। इस अवस्था में साधक तर्क बुद्धि का सर्वथा त्याग करके अपने आपको परमात्मा के भरोसे 'पुष्टि पर' छोड़ देता है। इसे स्वर्ग-अपवर्ग किसी की भी इच्छा नहीं रह जाती है। बस, इनके बाद अन्त में साधक को अहं (फ़ना) का परमात्मा के साथ तदाकार हो जाता है।

सूफ़ी मत के अन्तर्गत साधक 'फ़ना' का परमात्मा 'बका' में मिल जाना वैसा ही है जैसा भारतीय अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीवात्मा और परमात्मा में पारमार्थिक भेद न होना। सूफ़ियों के इस अद्वैतवाद-अनहलक "मैं ब्रह्म हूं" के ही कारण हल्लाज खलीफा के हुक्म से मंसूर को फांसी पर चढ़ना पड़ा था। पैगम्बरी एकेश्वरवादियों के निकट मैं ब्रह्म हूं, जैसी बातें करना कुफ्र की बात है।

उपासना के व्यावहारिक क्षेत्र में सूफी तीन बातें लेकर चलते हैं। (१) वे परमात्मा को अनन्त सौन्दर्य और अनन्त गुणों का सागर मानते है (२) वे परमात्मा की भावना प्रियतमा (माशूक) के रूप में करते हैं तथा (३) वे लौकिक प्रेम को पारलौकिक प्रेम तक पहुंचने का प्रथम सोपान मानते हैं।

सूफी अपने आपको आशिक और परमात्मा को माशूक समझते है। इश्क दो प्रकार का होता है—हकीकी और मजाजी। हक का अर्थ है परमात्मा और मजाज का 'दुनिया'। अतः इश्क हकीकी हुआ परमात्मा का प्रेम, जिसे इश्क कामिल भी कहते हैं और इश्क मजाजी हुआ दुनियावी प्रेम, अर्थात् सांसारिक एवं दुनियावी जीवधारियों एवं वस्तुओं के प्रति आकर्षण। परमात्मा हुआ माशूक हकीकी तथा मनुष्य हुआ माशूक मजाजी। सूफियों ने इश्क मजाजी को इश्क हकीकी का आवश्यक अंग माना और इश्क हकीकी का पाठ पढ़ाने के लिए इन्होंने इश्क मजाजी का पाठ पढ़ाया यानी माशूक मजाजी में माशूक हकीकी की तसवीर दिखाने की कोशिश की। फलतः सूफी कवियों की कविताएँ आशिक-माशूकों की कविताओं से भर गई। फारसी के प्रमुख सूफी कवियों के नाम इस

प्रकार हैं : सनाई, उमर खय्याम, निजामी, फरीदुद्दीन अत्तार, रूमी, शेखसादी, शब्सतरी, हाफिज तथा जामी। आगे चल कर सूफियों का पतन हो गया। वे इश्क मजाजी को ही इश्क हकीकी मान बैठे। वे परमात्मा के स्थान पर किसी लड़के के प्रेम में बंधने लगे। इन कवियों ने अपने माशूक की खूबसूरती का खूब बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करना शुरू किया और वे मयखाने में जाम पी कर माशूक के साथ झूमने लगे। हिन्दी की कविता पर सूफी धर्म के प्रत्येक रूप का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

ईसा की १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ये भावुक मुसलमान सूफी कवि हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में प्रेम की, पीर की कहानियां लेकर उतरे, इनमें कुतबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उस्मान, शेख नबी कासिम शाह, नूर मुहम्मद मुख्य हैं। इनके लिखे हुए ग्रन्थ क्रमशः इस प्रकार हैं:— 'मृगावती', 'मधुमालती' 'पद्मावत्' 'चित्रावली ज्ञानदीप, हंस जवाहिर तथा इन्द्रावती। नूर मुहम्मद की एक और रचना 'अनुराग बाँसुरी' भी मिलती है।

इन सूफी कवियों की रचनाओं के कथानक हिन्दू समाज में प्रचलित कहानियां थीं तथा प्रेम की पीर इनकी अपनी चीज थी। इन कहानियों द्वारा प्रेम मार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक को भगवत्-प्रेम का स्वरूप दिखाया गया है। इन कवियों के मतानुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय सूत्र—प्रेम सूत्र में बन्धा है, जिसका अवलम्बन करके जीव उस प्रेममूर्ति तक पहुंचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपों में उनकी छिपी ज्योति देख कर मुग्ध होते हैं। मंझन लिखते हैं कि :

'देखत ही पहिचानेउ तोहीं
एहि रूप जेहि छन्दर्यो मोहीं
एही रूप बुत अहै छपाना
एही रूप रब सृष्टि समाना
एही रूप सकती और सीऊ
एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ
एही रूप प्रगटे बहु भेसा
एही रूप जग रंक नरेसा।'

—मधु मालती

नूर मुहम्मद की रचना में अवधी के अतिरिक्त संस्कृत तथा ब्रजभाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है।

'नगर एक मूरतिपुर नाऊं'

राजा जीव रहै तेहि ठाऊँ
का बरनों वह नगर सुहावन ।
सबै सुहावन सब मन भावन
इहै सरीर सुहावन मूरतिपुर
इहै जीव राजा, जिब जाहु न दूर ।'

हिन्दी भाषा में कविता करने के कारण नूर मुहम्मद को तो एक तरह से इस बात का सबूत देने की आवश्यकता पड़ गई थी, कि वे इस्लाम के पक्के अनुयायी थे ।

'यह बाँसुरी सुनै जो कोई
हिरदय-स्रोत खुला जेहि होई
+ + +
जहं इसलामी मुख सों निसरी बात
जहां सकल सुख मंगल, कष्ट नरात

इन कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्धि मलिक मुहम्मद जायसी को मिली । इन्होंने अपने 'पद्मावत' में चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहल द्वीप की पद्मिनी की प्रेम कहानी को लेकर अपने ग्रन्थ की रचना की और उसके अन्तर्गत सूफी धर्म में पाए जाने वाले प्रेमतत्व का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया । जायसी ने पद्मिनी के स्वरूप का मनोमुग्धकारी वर्णन किया है :

'सरवर तीर पद्मिनी आई
खोंपा छोरि केस मुख लाई
ससि मुख, अंग मलिय गिरि बासा
नागिन झांपि लीन्ह चहूं पासा
ओनई घटा परी जग छाहा
ससि कै सरन लीन्ह जन राहा
भूल चकोर दीठि मुख लावा
मेघ घटा महँ चँद देखावा:

पद्मिनी का यह स्वरूप लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है । संसार के प्रत्येक पदार्थ में उसका रूप प्रतिबिम्बित हो रहा है :

'नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर
हंसत जो देखा हँस भा, दसन ज्योति नग हीर ।'

यह भाव भारतवर्ष के अद्वैतवादी विचार धारा के एकदम निकट

आजाता है : सर्वं खल्विदं ब्रह्म :, तथा ?

'मैं जान्यो निरधार, यह जग कांची कांच सो
एकै रूप अपार, प्रतिविम्बित लखियतु जहां ।'

—बिहारी

इस अनन्त सौन्दर्य के विरह में समस्त सृष्टि व्याकुल सी दिखाई पड़ती है ।

'सूरज बूढ़ि उठा होई ताता
औ मजीठ टेसू बन राता
भा बसंती राती बनसपती
औ राते सब जोगी जती
भूमि जो भीजि भयउ सब गेरू
और राते सब पँखि पखेरू
राती, सती, अगिनि सब काया
गगन मेघ राते तेहि छाया''

पृथ्वी और स्वर्ग, जीव और ईश्वर, दोनों एक थे, बीच में न जाने किसने इतना भेद डाल दिया ।

'धरती सरग मिले हुत दोऊ
कोई निनार कै दीन्ह बिछोऊ'

इसी प्रकार योगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन में साधक के विघ्नों—काम, क्रोध आदि विकारों की व्यंजना की गई है ।

'ओहि मिलान जो पहुँचे कोई
तब हम कहब पुरुष भल सोई
है आगे परबत के बाटा
विषम पहार अगम सुठि घाटा
बिच-बिच नदी खोह औ नारा
ठावहि ठांव बैठ बटमारा ।'

ग्रन्थ का उपसंहार करते समय जायसी ने उसे अन्योक्ति बता कर अपने दृष्टिकोण को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है ।

'तन चितउर मन राजा कीन्हा
हिय सिंघल, बुधि पद्मिनि चीन्हा
गुरु सुआ जेहि पन्थ देखावा
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा

नागमती यह दुनिया धन्धा
बांचा सोइ न एहि चित बन्धा
राघव दूत सोई सैतानू
माया अलादीन सुलतानू
प्रेम-कथा एहि भांति विचारहु
बूझि लेहु जौ बूझ पारहु
तुरकी अरबी हिन्दुई भाषा जेति आहिं
जेहि मँह मारग प्रेम कर सबै सराहै ताहिं

+ + +

कहू सुरुप पद्मावती रानी
कोइ न रहा जग रही कहानी
धनि सोई जस कीरति जासू
फूल मरे पै मरे न बासू ।'

सूफ़ी मुसलमान कवियों ने हिन्दी के उस स्वरूप को अपनाया जो यहां की जनता में प्रचलित था। फलतः प्रेम की पीर से भारतवासी अत्यधिक प्रभावित हुए। हिन्दी की कविता में भी दाम्पत्य भावना आगई, सूफियों और भारतीयों की दाम्पत्य-भावना में एक अन्तर था। सूफी परमात्मा को माशूक या पत्नी मानते थे, परन्तु भारतवासियों ने उसे पति रूप में ग्रहण किया। इसका भी एक कारण है। भारतवर्ष में त्याग और समर्पण नारियों के हिस्से में रहा है। जीव अथवा साधक समर्पण-भावना से ओत-प्रोत होने के कारण श्रद्धा-रूपा पत्नी ही हो सकता है, विश्वास-रूपी पुरुष नहीं। भारतीय संस्कृति में नारी श्रद्धा है—और पुरुष विश्वास। विश्वास रूपी पुरुष की उपासना के लिए जीव को पत्नी बनना पड़ा।

पति-पत्नी भाव के विपर्यय के साथ सूफ़ियों की दाम्पत्य-प्रेम-भावना हमें हिन्दी के अनेक कवियों में मिलती है जैसे, कबीरदास ने अपने आप को राम की बहुरिया या पत्नी कहा है :

'हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया
पीउ मोरा बड़ा मैं की तन लुहुरिया।'

राम की बहुरिया कभी तो प्रियतम से मिलने की विह्वलता प्रकट करती है :

'कब की बैठी जोवती बाट तिहारी राम
जिय तरसै तुव मिलन कूं मन नाही विश्राम'

कभी मार्ग की कठिनाइयों का उल्लेख करने लग जाती है।

'मिलना कठिन है, कैसे मिलेंगी प्रिय जाय
समुझि सोच पग धरौं जतन से बार-बार डगि जाय
ऊंची गैल, राह रपटीली, पाव नहीं ठहराय'

और कभी अपना विरह-दुःख निवेदन करने लगती है।

'जैसे जल बिन मीन तलपै,
ऐसे हरि बिन मोर जियरा कलपै'

कबीर के पदों में कहीं-कहीं ऐसी बातों की चर्चा हो गई है, जिन्हें सामान्यतया अश्लील समझा जाता है :

'ये अंखिया अलसानी, पिय हो सेज चला
+ + +
धीरे पांव धरौ पलंगा पर जागत ननद जिठानी'

कबीरदास के नाम की आड़ में आजकल बहुत से अश्लील गानों को कबीर का कहकर सब के सामने गा दिया जाता है।

निर्गुण पन्थी अन्य अनेक सन्तों ने भी इसी प्रकार दाम्पत्य प्रेम को व्यक्त करने वाली रचनाएं लिखी हैं। दरिया साहब और दादू तो खालिस सूफ़ी ही मालूम पड़ते हैं। यथा :

'विरहिन रोवे रात दिन, झूरै मन ही मांहि
दादू औसर चलि गया-प्रीतम पाए नाहिं
दरस कारन बिरहिनी, वैरागिनी होवै
दादू विरह वियोगिनी हरि—मारग जोवै'

—दादू दयाल

हमारे वैष्णव भक्त कवियों पर भी सूफ़ी विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित होता है। वैष्णवों के बीच रागानुगा अथवा प्रेम लक्षण भक्ति, परकीया प्रेम आदि पर सूफ़ी धर्म का स्पष्ट प्रभाव है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम-प्रकर्ष द्वारा इसी दाम्पत्य-प्रेम की व्यंजना हुई है। मतवाली मीरा तो पुकार-पुकार कर गाती फिरती थी कि :

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकट मेरो पति सोई'

मीरा की आँखें श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी में हठात् उलझ गई थीं :

'या मोहन के मैं रूप लुभानी
सुन्दर बदन कमल दल लोचन

बांकी चितवन मंद मुसकानी
जमना के तीरे धेनु चरावै
बंसी में गावै मीठी बानी'

वे कभी तो यह कहती है कि 'सखी री मै तो सांवर के रंग राती' और कभी वह गाने लगती है कि :

'बाबुल बैद बुलाइया रे पकड दिखाई म्यारी बांह
मूरख बैद मरम नही जाने करक करेजे माह'

उनकी बिरहानुभूतियां हिन्दी साहित्य की अक्षुण्ण निधि है :

'सखी मेरी नींद नसानी हो
पिया को पन्थ निहारत सब रैन बिहानी हो' आदि :

सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियो की वाणी में भी हमें सूफी-विचार धारा के दर्शन हो जाते है। सूरदास की गोपियों का कृष्ण वियोग में तड़पना मानों सूरदास का श्रीकृष्ण दर्शन के लिए अधीर हो उठना है। यथा :

'पिया बिना नागिन कारी रात
कबहुं जागिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात
मन्त्र नही फुरे जन्त्र नहि लागत आयु सिरानी जात
सूरस्याम बिन बिकल विरहिनी मुरि-मुरि करवट खात'

भक्तवर नागरीदास ने तो इस प्रसंग को लेकर 'इश्क-चमन' ही लिख डाला :

'सब मजहब सब इलम अरु सब ऐश के स्वाद
अरे! इश्क के असर बिनु ये सब ही बरबाद
आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट
सोई आया खलक में और भरैं सब पेट'

रसखान मियां तो अपने आपको कृष्ण की पत्नी ही मान बैठे थे। कृष्ण के अधरामृत का निरन्तर पान करती रहने वाली मुरलिया तो उनकी सौत ही थी। देखिए :

'मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गूंज की माल गरे पहिरौंगी
ओढ़ पीताम्बर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी
भाव तो मेरो सोई रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी"

रसखान यद्यपि मुसलमान थे, तथापि भारतवर्ष में रहने के कारण उन्होंने भी भगवान की भावना माशूक के रूप में नहीं, बल्कि पति के

में की है ।

मुसलमान कवयित्री बीबी ताज तो कृष्ण से शादी करने के लिए हिन्दुस्तानी होने को अपना मजहब छोड़ने तक को तैयार थीं । सुनिए उनकी यह दर्दभरी बानी :

'सुनो दिल जॉनी मांडे दिल की कहानी,
तुव दस्त हू बिकानी बदनामी हू सहूंगी मैं ।
देव-पूजा ठानी, मैं निवाज हूं भुलानी,
तजे-कलमा-कुरान, ताड़े गुनन गहूंगी मैं ।
सांवला सलोना सिर 'ताज' सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दाग में, निधाम ह्वा दहूंगी मैं ।
नन्द के फरजन्द, कुरबान ताढ़ी सूरत पर,
तेरे नाल प्यारे, हिन्दुवांनी बन रहूँगी मैं ।'

हजरत नफीस, करेखां, मौलाना आजाद, अजीमाबादी, लाल मूसा, मियाँ वाहिदअली, आलमखां, आगरे के मियाँ नजीर, महबूब, बिलग्राम निवासी सैयद अब्दुल जलील आदि अनेक मुसलमान कवि कृष्ण-प्रेम के दीवाने हो गए हैं। वे खुदा को माशूक मानने वाले रास्ते को छोड़ कर कृष्ण को पति मानने वाले रास्ते पर चलने लगे थे। और होता भी क्यों न ? मुसलमानी दरबारों में आदर एवं आश्रय पानेवाले रीतिकालीन कवि, वृन्दावन में रहने वाले कृष्ण-भक्ति में आकण्ठ निमग्न रहने वाले कवि सब के सब, महाकवि देव के समान यही कामना किया करते थे कि 'सांवरे लाल को सांवरो रूप में नैनन को कजरा करि राखो ।'

यह भावना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक चली आई । भारतेन्दु लिखते हैं :

'देखन देउं न आरसी सुन्दर नन्द कुमार
मोहित ह्वै निज रूप पै जनि मोहि देहु बिसार ।'

अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण इस भावना में थोड़ा सा परिवर्तन हो गया । प्रेम के आलम्बन बदल गए, परन्तु भावना का मूल रूप आज तक व्याप्त है । जैसे :

'भरा नैनों में मन में रूप
किसी छलिया का अमल अनूप ।' —प्रसाद

यहाँ जीवात्मा प्रियतम के विरह में विकल है । महादेवी वर्मा तो अपने प्रियतम की प्राप्ति के लिए युगों से पथिक बनी हुई चली आई हैं :

'युग युगान्तर की पथिक मैं हूं, कभी लूं छाह तेरी
ले फिरूं सुधि दीप-सी फिर राह में अपनी अंधेरी ।'

सूफियों के इस प्रेम की पीर ने सुमित्रानन्दन पन्त पर गहरी छाप लगाई है । उन्हें समस्त विश्व विरह-वेदना से व्याप्त दिखाई देता है :

'गगन के उर में घाव
देखती ताराएं भी राह
बंधा विद्युत छवि में जलवाह,
चन्द्र की चितवन में भी चाह ।'

तारागण आकाश के नेत्र बन कर उन्हें मौन संकेत करते हैं और झरना कुछ गहरी बात कहता हुआ सुनाई देता है :

'सौरभ का फैला केश जाल
करती समीर परियां विहार
गीलीं केशर मन्द झूम-झूम
पीते तितली के नव कुमार
मर्मर का मधुर संगीत छेड़
देते हैं हिल पल्लव अजान ।'

सूफी धर्म-भावना ने हिन्दी साहित्य को एक विशेष विचारधारा दी और वह विचारधारा मूल रूप में अभी तक एक प्रच्छन्न धारा के रूप में अविच्छिन्न रूप-से व्याप्त है । यह बात दूसरी है कि वाद ग्रस्त हो जाने के फलस्वरूप उसके बाह्य रूप में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो गया है ।

शीतला गली,
आगरा

डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

सूरदास की राधिका

सूरदास ने राधिका के जिस रूप का चित्रण किया है, उसकी तुलना शायद ही किसी अन्य भक्त के चित्रण से की जा सके। चिर-साहचर्य और बाल्य-सख्य की भूमिका के ऊपर प्रतिष्ठित यह राधिका अपना उपमान स्वयं ही है। इस प्रेम का कोई पटतर नहीं है। बाल लीला के समय ही एक दिन श्रीकृष्ण ब्रज की गलियों में खेलने निकल पड़े। उस दिन उन्होंने नील वस्त्र समावृता राधिका को देखा। वे यमुना के तीर पर छोटी-छोटी बालिकाओं के साथ खेलने आई थीं। सूरदास के श्याम उन्हें देखते ही रीझ गए, नैन से नैन मिले, और ठगोरी पड़ गई—

नैन नैन मिलो परा ठगोरी*। संस्कृत के कवि ने एक प्रकार की ठगोरी का वर्णन किया है, जिसमें श्यामसुन्दर को देखते ही राधिका कुछ ऐसी ठगी गई थीं कि खाली बर्तन में ही दही मथने लगी थी और उधर श्यामसुन्दर ऐसे भूले कि गाय के भ्रम से बैल को दुहने बैठ गए थे*। यह ठगौरी और तरह की थी। इसमें कहीं झिझक या संकोच

---

१ खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट कुंडल स्रवननि पर दसन दमकि दामिनि छबि थोरी॥
गये श्याम रवि तनया के तट अंग लसत चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहं राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी सीस रुचिर झक झोरी।
संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी।

का लेश भी नहीं था, सो श्याम ने देखा और परिचय पूछा—'क्यों जी तुम कौन हो, किसकी लड़की हो ? तुम्हें तो ब्रज की गलियों में कभी खेलते नहीं देखा ।'

राधिका ने उत्तर में कहा, क्यों हम आवें ब्रज की गलियों में ? हम तो अपनी ही पौर पर खेलती रहती है, सुना है नन्द का ढोटा बड़ा चोर है। किसी का दही चुरा लेता है, तो किसी का मक्खन ले भागता है।'

श्याम ने हंसते हुए कहा—'भला मैं तुम्हारा क्या चुरा लूंगा, जो तुम खेलने नहीं जातीं। तुम तो दही बेचने जाती नहीं। चलो न खेलने चलें। हमारी तुम्हारी जोड़ी अच्छी रहेगी।'

सूरदास के श्याम रसिक शिरोमणि हैं। भोली राधिका बातों में भूल गई। बिचारी को पता नहीं चल सका कि दही से बड़ी चीज उसका हृदय—इस अजीब चोर ने बातों ही बातों में हर लिया—

बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहां रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूं ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहित अपनी पौरी।
सुनत रहति श्रवनन नन्द ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हारा कहा चोरि हम लैहैं, खेलन संग चलो मिली जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातनि भुलइ राधिका गोरी।

यह प्रथम दर्शन था, पर प्रेम की उलझन यहीं शुरु हो गई। राधिका मन ही मन उलझ गई। उन्हें अब घर अच्छा नहीं लगता, चित्त नये खेल के साथी के लिये व्याकुल हो जाता। माता से बराबर दोहनी माँगती रहती हैं, उद्देश्य है खरिक में नये साथी से मिलना*। अब उन्हें भगवान के बिना कहीं अच्छा नहीं लगता, एक साथ छाया की भाँति लगी रहती हैं। गुरुजन इस नयन मनहारी जोड़ी को देख कर उल्लसित होते हैं। कभी वृषभान का और कभी नन्द का, घर इस युगल मूर्ति के पवित्र हास्य से उद्भासित होता रहता है। खरिक में भी राधाकृष्ण, यमुना तट पर भी राधाकृष्ण, ब्रज गलियों में भी राधाकृष्ण, जहाँ देखो वहीं राधाकृष्ण—यशोदा ने राधिका

सूरश्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।

१ राधा पुनातु जगदच्युतदत्त चित्ता
संधानमाकलयती दधिरिक्त पात्रे।
यस्या मुखाम्बुज समर्पित लोलदृष्टि—
देवोऽपि दोहनधिया वृषभं दुदोह ॥

को देखा और आनन्द गदगद् होकर पूछ बैठी—

नामु कहा है तेरो प्यारी।
बेटी कौन महर की है तू कहि सु कौन तेरी महतारी ।।
धन्य कौरव जेहि तोको राख्यों धन्य घरी जिहि तू अवतारी
धनि पितु-मातु धन्य तेरी छबि, निरखति यों हरि की महतारी ॥

राधिका का परिचय पाकर यशोदा माता ने उन्हें अच्छी तरह संवार दिया[1] और बोलीं—जा अब श्याम के संग खेल"। इस प्रकार बाल्यकाल से ही राधिका और कृष्ण का प्रेम सहज स्वाभाविक रूप में विकसित होता है, तथापि दोनों के मन में एक दूसरे के लिये एक विषम उत्सुकता रात-दिन बनी रहती है। राधिका शुरु से ही तद्‌गतचित्ता हो कर भगवान से प्रेम करती है। वे मन ही मन अपने अंतर्यामी श्याम से कहती हैं कि तुम साक्षी हो, मैं तुम्हारे सिवाय और किसी को नहीं जानती, माँ-बाप तो कुल मर्यादा को ही ध्यान में रखते हैं, वे तुम्हें क्या जानें ?—

राधा विनय करति मन ही मन सुनहु श्याम अन्तर के यामी।
मातु पिता कुल-कामिहि मानत तुमहिं न जानत हैं जगस्वामी ।।

यह विलाप कलावती की प्रार्थना नहीं है, यह भक्त की कामना है जो अपने आराध्य के अतिरिक्त और किसी को नहीं मानना चाहता। यह एकांत प्रेम है; यह प्रेम आकस्मिक नहीं है, दीर्घकाल के साहचर्य से उत्पन्न यह प्रेम अपना उपमान आप ही है। भवभूति ने 'राम और सीता के प्रेम में दीर्घ साहचर्य जनित इस गाढ़ता का दर्शन पाया था*, सूरदास ने राधिका

नागरि मनहिं गई अरुझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ।
श्यामसुन्दर मदन मोहन मोहिनी-सी लाइ।
चित चंचल कुँअरि राधा खान पान भुलाइ।
कबहुँ बिलपति कबहुँ बिहँसती सकुचि बहुरि लजाइ।
जन पति सों दोहनी मांगति बेगि दै री माइ।
सूर प्रभु को खरिक मलिहीं गये मोहि बुलाइ।

१ जसुमति राधा कुअरि सँवारति।
बड़े बार श्रीवन्त सीस के प्रेम सहित लै लै निखारति।
मांग पारि बेनीहिं सँवारति गूँथीं सुन्दर भाँति।
गोरे भाल बिंदु चंदन मानो इन्दु प्रात रवि कांति
सारी चीर नई फरिया लै अपने हाथ बनाइ।

के प्रेम में उसी प्रेम की पराकाष्ठा देखी थी—

मन मधुकर पद कमल लुभान्यो ।
चित चकोर चन्द्रनख अटक्यों इक टक पल न भुलान्यो ।

और

श्याम सखी नीके देख नाहीं ।
पितवत ही लोचन भरि आए बार-बार पछिताहीं।
कैसेहू करि इक टक राखति नैकरि में अकुलाहीं ।
निमिष मनो छवि पर रखवारे ताते अतिहिं डराहीं ।

प्रेम-वैचित्र्य

राधिका के मुख से ही इस प्रेम का इतिहास श्रवणीय है और कौन उस अजीब दुख को समझ सकता है ? जब से भगवान के साथ उनका परिचय हुआ है तभी से वे चेरी की भांति साथ-साथ रही हैं पर प्रेम की प्यास कहां मिटी—

सुनु री सखी, दसा यह मेरी ।
जब तें मिले श्यामघन सुन्दर संगहिं फिरत भई जनु चेरी ।
नीके दरस देत नहिं मोको अगन प्रति अनंग को टेरी ।
चपला ते अनिही चंचलता दृषन दमक चकचौंध घनेरी ।
चमकत अंग, पीत पट चमकत चमकति माला मोतिन केरी ।
सूर समुझि विधना की करनी अति रस करति सौंह मुंह तेरी ।।

यह प्रेम वैचित्र्य का चरम निदर्शन है। प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग व्यथा की जो अनुभूति होती है उसे प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं। प्रेम का उत्कर्ष भी इसका कारण है। रूप गोस्वामिपाद ने इसके उदाहरण में बताया है कि श्रीकृष्णचन्द्र के सामने होते हुए भी तीव्रानुराग वश वियोग-व्यथा की आशंका से राधा हतबुद्धि

अंचल सों मुख पोंछि अंग सब आपुहिं लै पहिराइ ।
तिल चांवरी बतासे मेवा दिये कुंअरि की गोद ।
सूर श्याम राधा तन चितवत जसुमति मन मन मोद ।

३ खेलो जाइ श्याम सँग राधा ।
यह सुनि कुंअरि हरख मन कीन्हों मिटि गई अंतर बाधा ।

४ किमपि किमपि मद मदमासन्तियोगा ददविरलि त कपोल जल्पतोउक्रमेण ।
अशिथिलपरि रं भव्या पृथवै कैम दोत्णो रविदित गतयामा रजिरे वं व्यरंसीत् ।।

हो गई थी, उन्हें चक्कर आ गया। दांतों में तिनका दबाले हुए बोलीं, 'हे सखे, मेरे प्रिय को दिखाओ।' उन्होंने कुछ ऐसी चेष्टा की कि स्वयं श्रीकृष्ण भी विस्मित हो रहे—

आभिरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया
विश्लेषज्वर सम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता।
कान्त मे सखिदर्शयेति दशनैरुद्गृहीतशष्पाँकुरा
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यथा कृष्णोप्यभूद्विस्मितः।

परन्तु मेरा विश्वास है कि यदि गोस्वामिपाद को सूरदास के पदों का परिचय होता (सूरदास कुछ पूर्ववर्ती हैं) तो वे सूरदास से ही कोई पद उद्धृत करते। शायद वे इस पद को उद्धृत करते—

चितवत् चकित रहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति।
सपनों आहि कि सत्य ईश बुद्धि वितर्क बनावती।
कबहुंक करति विचारि कौन हां को हरि केहि यह भावति
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति।

या फिर इस पद को उद्धृत करते—

यद्यपि राधिका हरि संग।
हाव भाव कटाच्छ लोचन करत नाना रंग।
हृदय व्याकुल धीर नाही बदन कमल विलास।
तृषा में जल जाम सुनि ज्यों अधिक अधिकहिं प्यास।
श्याम रूप अपार इत उत लोभ पट्ट विस्तार।
सूर मिलत न लहत कोऊ दुहुनि बल अधिकार॥

या फिर और कोई पद उद्धृत कर लेते। सूरसागर में उन्हें उत्तम से उत्तम उदाहरण मिल जाते। यह वैचित्र्य अत्यंत सहज और अत्यंत सुकुमार है। सचमुच ही ब्रजराज कुंवर और राधारानी का यह अपूर्व प्रेम लोकोत्तर ही है। जब युगलमूर्ति का मिलन होता है, सारी वनस्थली चकित सी होकर निर्निमेष भाव से शोभा के इस अपार समुद्र को देखा करती है और इस मिलन संगीत को गाते हुए सूरदास जैसे रुकना ही नहीं जानते।

राधा का प्रेमभाव

प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह भी

इस प्रेम के योग्य है। मिलन समय की मुखरा लीलावती चंचला और हंसोड़ राधिका वियोग के समय मौन शांत और गम्भीर हो जाती है। उद्धव से अन्याय गोपियां काफी बक झक करती है। पर राधिका वहां जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है, उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आंखों को निरन्तर बहते देखा था कपोल देश वारिधारा से आर्द्र था, मुखमंडल पीत हो गया था, आँखें धंस गई थीं, शरीर कंकाल शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थीं। प्रिय के प्रिय वयस्य ने जब संदेश माँगा तो वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। प्रेम का वही रूप जिसने वियोग में कभी विरह शंका का अनुमान नहीं किया वियोग में इस मूर्ति को धारण कर सकता है। वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है, और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घरमें, वन में, घाट-पर, कदम्ब तले, हिंडोर पर, जहां कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं पर, अपने आप में ही पूर्ण है। मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई उसकी खबर रखता है। राधिका के इस रूप का परिचय पाने के लिये हमें कुछ और भी पदों को देखना होगा। मैंने अपनी पुस्तक 'सूर साहित्य' में इस बात की कुछ विस्तृत चर्चा की है। यहाँ यथासंभव संक्षेप में कह रहा हूँ।

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानों अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है। रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देख कर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जानबूझ कर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइये केवल उपमाओं और रूपकों की घटा अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, —फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रभाव कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्य-गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह

उस रमणीय उद्यान के समान नहीं, जिसका सौंदर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम बन-भूमि की भांति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।

राधा और कृष्ण के इस मिलन-सुख के भीतर अचानक दुख का दर्शन हुआ। कंस के दूत आकर एकाएक किसी भयानक धूमकेतु की भांति उदित हुए। बिना पूर्णिमा के ही चन्द्रमा पर ग्रहण लग गया—'बिनु परबहिं उपराग आज हरि, तुम है चलत कर्यों।' जिसने जहां सुना, वह वहीं व्याकुल हो रहा। ब्रज की युवतियों की तो मत पूछिए। वे चित्र-लिखित सी हो रहीं, जो जहां थी, वहीं उसकी पलकों में एक टक लग गई, इन्द्रिय व्यापार रुद्ध हो रहे, सभी स्तब्ध! सभी हत चेतन! सूरदास ने राधिका की दशा की ओर इशारा भर कर दिया है, वे जानते थे कि ब्रज लाड़िली के चित्त पर इस आकस्मिक उल्कापात का जो फल हुआ था, वह वर्णन के अतीत है। सूरसागर में इस प्रसंग में जितने पद आए हैं, विवश व्याकुलता के निदर्शक हैं। भगवान जा रहे हैं, जिन्हें रोक सकना असम्भव है, और फिर भी उनके बिना जीवन का भार हो जाना निश्चित है। विवश राधिका भीतर ही भीतर कट के रह जाती है, उनका हृदय इतना गम्भीर है कि वे अपना विरह पीकर रह जाती हैं, उसे भगवान के निकट प्रकट नहीं होने देतीं। भगवान सब को रुलाते कलपाते जब चलने को तैयार हो ही जाते हैं, तब भी राधिका कर्म को दोष देकर भीतर ही भीतर मसोस कर रह जाती हैं—

चलत हरि हग जु रहे ए प्रान।
कह वह सुख अब सहु दुसह दुख उर करि कुलिस समान।
कहाँ वह कण्ठ श्याम सुन्दर भुज करति अधर रसपान।
अंचल नयन चकोर सुधा बिधु देखेहु मुख छवि आन।
जाको जग उपहास कियो तब छांडियो सब अभिमान।
सूर सुनिधि हम तें है बिछुरत कठिन है करम निदान।

श्याम का रथ चल पड़ता है—'सखी री, वह देखो रथ जात।' हाय! राधिका की उन विवश आँखों की कल्पना भी कितनी हृदय वेधक है। उनकी आखें पीछे ही लौट आना चाहती हैं, प्राणेश्वर के रथ के साथ आगे बढ़ना नहीं चाहतीं। उनका मन तो उस माधुरी मूर्ति के साथ चला गया, शरीर ब्रज में लौटकर क्या करेगा? भला कहीं राधिका हवा हो सकतीं और रथ की पताका को आसमान में उठा सकती! काश, वे धूल हो जातीं और

चरणों में लिपट जातीं । पर हाय, यह सब कहाँ हो सका ? वह रूप और माधुर्य की पुत्तलिका ब्रज बाला मूर्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ीं:—

पाछे ही चितवत मेरो लोचन आगे परत न पांइ ।
मन लै चली माधुरी मूरति कहा करौं ब्रज जाइ ।
पवन न भई पलक का अंबर रथ कै भई न अंग ।
धूरि न भई चरन लपटाती जाती तँह लों संग ।
ढाढ़ी कहा कसे मेरी सजनी जेहि विधि मिलहिं गोपाल ।
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी मुसकि परी ब्रज बाल ।

अब पछतावा हो रहा है । जब मोहन चलने लगे तो फेंट क्यों नहीं पकड़ ली ? राधिका तो लाज से गड़ी जाती थी पर क्या यशोदा माता को इतना भी नहीं करना था ! उनके बिना राधिका का यह वियोग-विधुरा शरीर तो कौड़ी के मोल का भी न रहा । लाज वश उस समय जो निष्क्रियता आ गई, वह आज हृदय को बेधे डालती है—

तब न विचारी री यह बात ।
चलत न फेंट गही मोहन की अब ठाढ़ी पछितात ।
निरखि निरखि मुख रही मौन ह्वै थकित भई पल पात ।
जब रथ भयो अदृष्ट अगोचर लोचन अति अकुलात ।
सबै अजान भई वह अवसर धिगहिं जसोमति मात ।
सूरदास स्वामी के बिधूर कौड़ी भरि न बिकात ।

तथा

अब वै बात इहाँ रहीं ।
मोहन मुख मुसुकाइ चलत कधु काहू नाहिं कही ।
सखि सुलाज बस समुझि परसपर सनमुख सबै सही ।
अब वै सालति हैं उर महियां कैसेहु कढ़ति नहीं ।।

प्रथम बिछोह की यह व्याकुलता अपार है । रात तारे गिनते गिनते कट जाती है, पापी हृदय वज्र से भी कठोर होकर उस दारुण विरह की मार को सहन करता है, मृत्यु और जीवन की रस्साकशी का वह दृश्य, बड़ा ही मर्म वेधक है१ । श्याम को भूलना भी कठिन है । चण्डीदास ने ठीक ही कहा है श्याम की प्रीत की यह स्मृति भी दारुण है और भूलने से भी प्राण फटने लगता है । वह शंख वणिक के उस करात (आरी) की भांति है जो आते भी काटता है जाते भी काटता है —

श्यामेर पिरीति सिमरीति विषम, शुनिते परान फाटे—
शाँख वाणिकेर करात येमति आसिते जाइते काटे।

बहुत दिन हो गए 'बिनु गोपाल बैरनि भइ कुंजें।' भगवान ने एक पाती भी नहीं लिखी। राधा ने बड़े यत्न से प्रियतम की मूर्ति बनाइ, सजल मेघ के समान शरीर पर विद्युत की भाँति पीताम्बर सजा दिया, स्कंधदेश-को उन्नत, कटि को क्षीण, भुजाओं को विशद, कपोल, नासिका नेत्र, केश सभी को यथोचित चित्रित किया—चित्र इतना सुन्दर उतरा कि जान पड़ा, अब बोला, तब बोला! पर हाय, इसी भ्रम ने सब कुछ माटी कर दिया। सारी तन्मयता भंग कर दी। उस कमनीय मुख के मृदु वचन सुनने के लिये वे आतुर भाव से व्याकुल हो उठीं—

मैं सब लिखि शोभा जु बनाई।
सजल जलद तन वसन कनक रुचि उर बहुदाम सुहाई।
उन्नत कंध कटि खीन विषम भुज अंग अग सुखदाई।
सुभग कपोल नासिका नैन छवि अलक लिहित धृति पाई।
जानति हीय हलोल लेत करि ऐसेहि दिन बिरमाई।
सूरदास मृदु वचन स्रवन लागि अति आतुर अकुलाई।

जयदेव कवि की राधिका ने चित्र नहीं बनाया था केवल ध्यान-योग से एक मूर्ति कल्पित की थी। तन्मयता के आवेश में उस ध्यान-मूर्ति को

---

१ उदाहरणार्थ

आजु रैनि नही नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बांह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी कहिन सकति कछु काम दही।
इनतैं मन व्याकुल भयो सजनी आरज पंथहुँ तें बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितो दूर मथुरा नगरी।

और—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर बज्र तें भारी रहि कै पापी कहा कियो।
घोरि हलाहल सुनि मेरी सजनी औसर, तोहि न पियो।
मन सुधि गई सँभारत नाहिन पूर दाव अक्रूर दियो।
कछु न सुहाई गई सुधि तब तें भवन काज को नेम लियो।
निसि दिन रटत सूर के प्रभु बिन मरिबो तऊ न जात जियो॥

वास्तविक समझ कर हँसती, रोती, विलपती, कलपती, और आनन्दित होती रहीं और पद-पद पर कह उठती—हे माधव मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ी हूँ, तुम्हारे विमुख होने पर अमृत का निधि यह चन्द्रमा भी मेरे शरीर में दाह उत्पन्न करता है—

ध्यान लयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीवदुरापम् ।
विलपति हसति विषीदति रोदति चंचति मंचति तापम् ।
प्रलिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम् ।
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधि रपि तनुते तनुदाहम् ।

दोनों कल्पनाओं का मौलिक अंतर लक्ष्य करने योग्य है। सूरदास की राधिका स्वयं नहीं बोलती, चित्र के मुख से ही कुछ सुनने को उत्सुक हैं, परन्तु जयदेव की राधिका ध्यान-कल्पित मूर्ति के सामने रोती हैं, हँसती हैं, विलपती हैं, कलपती हैं। सूरदास की राधिका का वियोग उनको तरल नहीं बना देता। हम आगे चल कर देखेंगे कि वे और भी गम्भीर हो जाती हैं, यहाँ तक कि भगवान् के आने पर भी दौड़ कर मिलने नहीं चल देती। भगवान् ने जब छोड़ दिया है तो उन्हें इसी में प्रसन्नता होगी, नहींतो त्याग ही क्यों करते? राधा अपने सुख के लिये ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकतीं जो उनकी प्रसन्नता का परिपंथी हो! राजा दुष्यंत ने शकुन्तला का वह चित्र बनाया था जिसमें उसके दोनों नेत्र कानों तक फैले हुए थे, भ्रूलताएँ लीला द्वारा कुंचित थीं, अधर देश उज्जवल दसनच्छवि से उद्भासित थे, ओष्ठ प्रदेश पके हुए कर्कन्धू फल के समान पाटल वर्ण के थे, विभ्रम विलास की मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा सी जगमगा उठी थी, चित्रगत होने पर भी मुख में ऐसी सजीवता थी—कि जान पड़ता था, अब बोला तब बोला—

दीर्घापाँग विसारि नेत्रयुगलं लीलांचित भ्रूलतं ।
दन्तान्तः परिकीर्ण हास किरण ज्योत्सना विलिप्ताधरम् ।
कर्कन्धूद्युति पाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं ।
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रम लसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ॥

कवि कालीदास ने लौकिक प्रेम के भीतर भी स्वर्गीय गांभीर्य भर दिया है। उधर कालिदास के यक्ष ने जब अपनी प्रिया का चित्र बनाया था तो उसे प्रणय कुपित अवस्था में ही याद आई थी; वह चित्र के पैरों पड़ने जा रहा था कि उसकी आँखों में आँसू आ गए। क्रूर विधाता से उस हालत में भी उन प्रेमियों का मिलन नहीं सहा गया। पर राधिका ने जो चित्र बनाया था—वह सहजभाव का सहज चित्र था।

यक्ष प्रिया के चित्र को चित्र ही समझता रहा पर राधा ने वैसा नहीं समझा। वे उसे साक्षात प्रिय समझ कर उसकी मृदु वाणी सुनने को अधीर हो गईं।

एक पथिक मथुरा जारहा था। राधिका ने उसे बुलाया, पर जब संदेश कहने गई तो 'गद गद कंठ हियो भरि आयो, बचन कह्यो न गयो।' पर कुछ धीरज धारण करके राधिका ने उस पथिक से जो कुछ सदेश भिजवाया वह सूर सागर की राधिका के हृदय का सर्वोत्तम निदर्शन है—

नाथ, अनाथन को सुधि लीजै।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै।
नैन सजल धारा बाढ़ी अति बूढ़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी विनती सुनहु हमारी बार कहूं पतिया लिखि दीजै।
चरन कमल दरसन नव नौका करुना सिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै।

राधिका की एक ही प्रार्थना है।

बारक जाइबो मिलि माधौ।
को जानै तन छूटि जाइगो सूल रहै जिय साधौ।
पहुनेहु नन्द बबा के आवहु देखि लेउं पल आधौ।
मिलेंही में विपरीत करे विधि होत दरस को बाधौ।
जो सुख शिव सनकादि न पावत सो सुख गोपिन लाधौ।
सूरदास राधा विलपति है हरि को रूप अगाधौ।

उद्धव आए। गोपियों से उनकी जो बातचीत हुई उसमें युग-युगान्त का सनातन विरह फूट पड़ा है। गोपियों ने प्रेमातिशय के कारण क्या क्या नहीं कहा बिचारे भौंरे की तो दुर्गति ही कर डाली। पर एकान्त प्रेम की पावन प्रतिमा राधा ने क्या कहा? वे उद्धव के पास गईं ही नहीं। चलती बार उद्धव राधिका के घर स्वयं गए और प्रियतम के लिये संदेश की प्रार्थना की। हाय राधिका कौन सा संदेशा दे! जिस गोपाल के साथ गुड़ियों के खेल खेले हैं, ठठोली से पनघट मुखरित हुए हैं, वे ही आज मथुरा के सम्राट हैं। वे संदेश चाहते हैं, उन्होंने दूत भेजा है। जो इतने समीप थे, वे आज इतने दूर हो गए

---

१ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरण पतितं यावदिच्छामिकर्तुं।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे।
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ विधाता।

है। राधिका ने उद्धव को देखा और उनके दोनों विशाल नयन उमड़[1] चले। वे आगे बढ़ कर उद्धव का स्वागत करना चाहती थीं पर चरण उलझ गए वह थहरा कर गिर पड़ी—

चलत चरन गहि रह गई, गिरि स्वेद-सलिल रस भीनी।
घटी बट, भुज फूटी बलया, टूटी लर फटी कचुक झीनी॥

और

कण्ठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन।
नैन जलि भरि रोइ दीनी ग्रमित आपद दीन।

जिन नयनों की कृपा कोर के लिये किसी दीन नट-नागर के नयन प्यासे रहते थे, प्रथम दर्शन में ही जिन नयनों ने गोपाललाल के नयनों में ठगोरी डाल दी थी, उन्हीं नयनों को उद्धव ने कैसा देखा? हाय सूरसागर में प्रतिफलित उस विरह समुद्र को कौन समझ सकता है? उद्धव ने क्या देखा*?

---

१ उमगिन चले दोउ नयन विशाल।
सुनि-सुनि यह सदेश श्याम घन सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल।
आनन वपु उरजनि के अन्तर जलधारा बाढ़ी तेहि काल।
मनु जुग जलज सुमरे शृंग ते जाइ मिले सम शशिहिं सनाल॥
और
तुम्हरे विरह ब्रजराज राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते मान चढ़ी।
गोलक नाउ निमेष न लागत सो पलकनि बर बोरति।
ऊरध स्वास समीर तरंगति तेज तिलक तरु तोरति।
कज्जल कीच कुचील किये तट अम्बर अधर कपोल।
थकि रहे पथिक सुजरा हितही के हस्तचरण मुख बोल।
नाहिन और उपाय रमापति बिन दरसन सो कीजै।
आंसू सलिल बूड़त सब गोकुल 'सूर' सुकर गहि लीजै।
और—
नैन घट घटत न एक घरी।
कबहुं न मिटत सदा पावस ब्रज लागी रहत झरी।
सब ऋतु मिटी एक भई ब्रज महि चाहे विधि उलटि धरी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे बिछुरे मिठि मरजाद टरी।
*नैनन होड बदी बरखा सों।
रातिदिवस बरसत झर लाये दिन दूनी करखा सौं।

भक्तों में प्रसिद्ध है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कार्यजीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। बृहद्भागवताकृत के अनुसार उद्धव भगवान के महाशिष्य महाभृत्य महामात्य और महाप्रियतर थे। वे सदा श्रीकृष्ण के साथ रहते थे—शयन के समय, भोजन के समय, राजकाज के समय, कभी भी भगवान का साथ नहीं छोड़ते थे, यहां तक कि अंतःपुर में भी सदा साथ-साथ रहते थे। केवल एक बार उन्होंने भगवान का साथ छोड़ा था और वह उस समय, जब गोपियों का समाचार लेने के लिये भगवान ने उन्हें वृन्दावन भेजा था। कहते हैं, इसबार उन्हें भगवत्संग का दूना आनंद मिला था। उनके तीन काम थे, भगवान की पदसेवा, उनके साथ हास-विनोद और क्रीड़ा के समय साथ-साथ रहना। पहले कार्य में वे इतने तन्मय रहते थे कि अबोध लोगों को भ्रम हो जाता था कि वे पागल हो गए हैं। सूरदास के जीवन का भी यही परिचय है। केवल एक बार उन्होंने सूरसागर में भगवान का साथ छोड़ा है—भ्रमरगीत में, और निश्चय ही उन्हें भी दूना आनन्द मिला था। इस प्रवाद का साहित्यिक अर्थ बड़ा ही अर्थपूर्ण है। उद्धव के मुख से सूरसागर में जो कुछ कहलाया गया है, वह कल्पना-विलास नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य है। मैं आपको यहां फिर एकबार याद दिला दूं कि विरह के प्रसंग में साधक भक्त अपने आपको ही खोलकर रख देता है।

परन्तु राधिका का चित्र अब भी अधूरा है। मैं अपने पाठकों को

चारि मास बरसे जल खूंटे हारि समुझि उनमानी।
एन्हू पर धार न खंडित इनकी अकथ कहानी।

और—

देखी मैं लोचन चुअत अचेत।
मनहुं कमल शशित्रास ईस को मुकता गनि गति देत।
द्वार खड़ी इकटक पग जोवति उरधहु श्वास न लेत ... इत्यादि

राधिका की दशा उद्धव ने बड़ी ही करुण भाषा में बताई थी—

रहति रैन दिन हरि हरि रट।
चितवत इकटक मग चकोर लों जबतें तुम बिछुरे नागर नट।
भरि भरि नैन नीर ढारति हैं सजल करति अति कंचुकी के पट।
मनहुं विरह की ज्वार ता लागि लियो नेम प्रेम शिव शीश सहस घट
जैसे पव के अंगु ओस कन प्रान रहत ऐसे अवधिहि के तट।
सूरदास प्रभु मिलौ कृपा करि जे दिन कहे तेउ आए निकट।

प्रभासक्षेत्र में ले जाना चाहता हूं। आज बहुत दिनों के बाद आनंद-कंद भगवान गोपियों और गोपालों को कृतार्थ करने वाले हैं। आज राधिका के भाग्य फिरे हैं—'अंचल उड़त, मन होत गहगहो, फरकत नैन स्वयं'। राधिका ने यह शुभ संवाद सुना। उनकी आंखों में आंसू भर आए। श्याम सुन्दर तो आ गए, पर उनके दर्शन क्या भाग्य में बदे हैं? कौन जाने उन्होंने इच्छापूर्वक राधिका का त्याग किया है? खुशी होगी तो फिर ग्रहण करेंगे पर राधिका दौड़कर उनके प्रेम को अपमानित नहीं करेगी। पर हाय, मन तो नहीं मानता—

राधा नैन नीर भरि आये
कब लौं मिलैं श्यामसुन्दर सखि यदपि निकट हैं आये!

भगवान राव-लश्कर के साथ आए हैं, दास-दासियों की इतनी घटा वस्त्रभूषणों की ऐसी छटा व्रजवासियों के निकट अत्यंत अपरिचित हैं। गुड़ियों के खेलवाले कृष्ण ये नहीं हैं, पनघट की दान लीला वाले कृष्ण ये नहीं है, शरतपूर्णिमा के रास-बिहारी कृष्ण ये नहीं हैं, ये महाराज है। उनकी अभ्यर्थना करने के लिये व्रज की गोपियां खड़ी हो गईं, राधिका भी अपनी मर्मव्यथा के भार से दुबकी हुई एक तरफ खड़ी हो गईं। महाराजाधिराज श्रीकृष्ण अपनी पट्टमहिषी के साथ धूमधाम से निकले और गोपियों के सामने आये। महारानी रुक्मिणी से न रहा गया, पूछ बैठीं—'प्रिय, इनमें को वृषभानु किशोरी?' जिस राधिका का नाम लिये बिना भगवान कोई काम ही नहीं कर सकते—'जाके गुनगनि गुथति माल कबहूं उर में नहिं छोरी'—उस वृषभानुलली को देखने की उत्सुकता रुक्मणी संभाल नहीं सकीं, बोलीं—'नेकु हमें दिखरावहु अपने बालापन की जोरी?' भगवान ने रुक्मिणी को दिखाया—'वह देखो जुवतिन में ठाढ़ी नीलवसन तन गोरी।'

अंत में भगवान राधिका को मिले। राधिका उस विशाल ऐश्वर्य को देखकर रुद्धवाक् हो गईं—'सूर देखि वा प्रभुता उनकी कहि नहिं आवै बात।' श्रीकृष्ण ने समझा, रुक्मणी ने भी समझा। वे उन्हें अपने घर लिवा गईं और बहन की तरह बगल में बैठ गईं। तब जाकर 'सूरदास प्रभु तहां पधारे जहां दोऊ ठकुरानी।' और फिर

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीटभृंग गति ह्वै जु गई।
माधव-राधा के रंग राते राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई।

परन्तु बरसाने की उस मुखर बाला के मुंह से एक बात नहीं निकली। आनन्द का यह गंभीर समुद्र किंचिन्मात्र चंचल नहीं हुआ, भगवान के चले जाने पर वह सिर्फ पछता कर रह गई—

करत कछु नाही आज बनी।
हरि आये हों रही ठगी-सी जैसे चित्तघनी।
आसन हरषि हृदय नहिं दीनो कमलकुटी अपनी।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल जलधारा जु बनी।
कंचुकी तैं कुच-कलश प्रकट है टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अति लाज मनति मन समुझत निज करनी।

सूरदास की यही विरह विधुरा राधिका है। इस राधिका के आत्म समर्पण में एक ऐसा गाम्भीर्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है। वे भगवान को अपना सर्वस्व दे देंगी बशर्ते कि भगवान चाहें। श्रीकृष्ण को पाना उनका लक्ष्य नहीं है, श्रीकृष्ण का तृप्त होना ही लक्ष्य है। हृदय-धन को क्षणभर के लिये भी देख लेने की व्याकुलता से उनका हृदय टूक-टूक हो जाता है तथापि वे यह नहीं कहतीं कि श्रीकृष्ण उनके साथ वही पुरानी केलि आरंभ करें। राधिका का शरीर मन, प्राण केवल एक ही उपादान से गठित हैं—उनकी तृप्ति। रह-रह कर मन में प्रश्न उठता है कि क्या महाकाव्य के भीतर से इससे अधिक सुन्दर प्रेममूर्ति की रचना हो सकती थी? और क्या नाना भांति के पहाड़ों, नदियों दुःख-सुखों, कर्त्तव्य-अकर्तव्यके बियाबानों के भीतर घसीटने से राधिका का राधिकात्व ही नहीं नष्ट हो जाता? क्यों लोग व्यर्थ ही अफसोस किया करते हैंकि सूरदास ने महाकाव्य न लिखकर ..'इत्यादि

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
बनारस हिंदु विश्वविद्यालय डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
बनारस

विनय-पत्रिका पर एक दृष्टि

गोस्वामी तुलसीदास के जितने ग्रन्थ प्रसिद्ध है, उन सब में किसी-न-किसी रूप से "हरिचरित" का ही संकीर्तन पाया जाता है, केवल 'विनय-पत्रिका' इसका अपवाद है। यदि 'विनयपत्रिका' कवि की प्रथम रचना होती तो हम यह सोच सकते थे कि सूरदास के समान इस भक्तकवि ने भी समय-समय पर विनय के पद रचे और फिर उनका संकलन एक ग्रन्थ के रूप में हो गया। परन्तु काल-स्थिति इसके विपरीत है—यह ग्रन्थ कवि की प्रथम नहीं, अन्तिम रचना है। गोस्वामी जी ने "प्राकृत जन गुनगाना" से विरत रहने की तो प्रतिज्ञा की थी, परन्तु "संसय-विहंग उड़ावनहारी" प्राकृत-नर-अनुरूप" राम-कथा को "हरि-पद-दायनी" जानकर वे भिन्न-भिन्न शैलियों तथा भिन्न-भिन्न काव्य-भाषाओं में इसका प्रसार करते रहे। यह गोस्वामी जी की लोकसेवा थी कि 'नानापुराण निगमागम सम्मत' 'रघुनाथगाथा" को उन्होंने "भाषा" में भक्त-मात्र के लिये सुलभ बना दिया; इस काम को कोई दूसरा प्रतिभाशाली "वचन-प्रवीन" भी कर सकता था-- भले ही उसके कवित्व से पाठकों के मानस में उतनी "प्रीति-पुनित" न उत्पन्न होती। संसार का कार्य (स्वान्तः सुखाय किये जाने पर भी) निर्लिप्त रहने वाले कर्त्ता को भी विशुद्ध परमार्थ नहीं प्राप्त करा सकता, क्योंकि उसमें द्वैत की भावना रहती है और जहाँ द्वैत है, वहां राग-द्वेष भी है, यही कारण है कि 'रामचरित-मानस' जैसे भक्तिरत्नाकर में भी खल, शठ, "निसिचर", भक्ष्याभक्ष्य खाने वाले तापस और सिद्ध, तथा "अभेदवादी ज्ञानी नर" आदि पर कटु प्रहार किया गया है। इतना ही नहीं, कथा में ऐसे पात्रों का आना अनिवार्य है

जिनके प्रति कवि की आत्मीयता नहीं प्रत्युत घृणा उमड़ती दिखलाई पड़ती है; रामकथा के कैकेयी, रावण आदि पात्र इसी वर्ग के है, जिनको तुलसी के आदर्श पात्रों ने भी खरी-खोटी सुनाई है। कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे प्राकृत-नर-गाथा हो, चाहे प्राकृत-नर-अनुरूप गाथा हो, उसमें मायाजन्य द्वैत के कारण रागद्वेष की स्थिति आ जाती है और परमार्थ में बाधा उपस्थित होती है। कदाचित इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जीवन का बहुत कुछ समय रामकथा में लगाकर भी 'विनयपत्रिका' जैसे एक पारमार्थिक काव्य की रचना आवश्यक समझी; इस प्रकार वे अपने को "प्रेमभगति अनपायनी" का अधिक उपयुक्त अधिकारी बना सकते थे।

विनय के हमारे साहित्य में न जाने कितने ग्रन्थ होंगे, और कवि जन किसी श्रद्धेय या स्नेही के लिए पत्र या 'पत्रिका' भी लिख दिया करते है, परन्तु इन दोनों गुणों का एक ही स्थान पर संयोग अभूतपूर्व है—'विनयपत्रिका' ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसका नाम भी नितान्त मौलिक है, और उस नाम का कारण—उपर्युक्त संयोग भी। वर्णनात्मक काव्यों में कवि का व्यक्तित्व तो व्याप्त ही है, पाठकों का एक हलका-सा चित्र भी कवि की आंखों के सामने रहता है; कवि जानता है कि उसको पाठकों से क्या कहना चाहिए जिससे अभीष्ट प्रभाव की उत्पत्ति हो सके—तुलसी इस गुण में औरों से आगे ही दिखलाई देते है। वे ठीक समय पर, ठीक पात्र के मुख से कुछ कहलवाकर अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते है—घोर, 'भूत-जन' की सेवा करने वालों की दुर्गति को अप्रस्तुत बनाकर भरत ने कौशल्या के सम्मुख जो शपथ ली थी वह प्रसिद्ध ही है। क्या आश्चर्य है कि ऐसा कवि अपनी कमजोरी को छिपाता ही चला जाता है, क्योंकि यदि पाठक उसकी कमजोरी को जान जावेंगे तो उनके मन पर उसके कथन का उतना प्रभाव न पड़ेगा; और अपनी दुर्बलता को छिपाना या कम से कम उसकी अवहेलना करना भारतीय विचारकों को रुचिकर नहीं लगा, शृङ्गारी कवि भी इसी उद्घाटन के निमित्त अन्तिम दिनों में भक्त बनने का प्रयत्न करते रहे हैं। अस्तु, 'विनयपत्रिका' अन्तिम रचना क्यों है, वह गोस्वामी जी के दूसरे ग्रन्थों से नितान्त भिन्न क्यों बन गई, और उसके अनोखे नाम का क्या कारण है—आदि-आदि समस्याओं का कुछ-कुछ रहस्य हमारी समझ में आ सकता है।

वर्णनात्मक काव्य में हमको बन-ठनकर ही पाठकों के सामने आना पड़ता है, पत्र में इसकी आवश्यकता नहीं। जो इतना निकट है कि हमारे हृदय की बात सुन सकता है उससे क्या दिखावा और क्या छिपाना? पत्र

लेखन स्वयं एक कला है, जिसका सौन्दर्य हृदय की सचाई पर निर्भर है— यह प्राकृतिक सौन्दर्य है कैंची से काट-छांट कर बनाई गई कृत्रिम कला नहीं। 'विनयपत्रिका' में यदि काव्य के बाह्यपक्ष की खोज की जावेगी तो शोधक को अपने परिश्रम पर हर्ष नहीं हो सकता, वर्णन की कला का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं आता, अलंकार भी अति विरल हैं, छन्द साहित्यिक नहीं हैं, और भाषा का स्थिर रूप नहीं मिलता। यदि बाह्य सौन्दर्य नाम की कोई वस्तु यहां मिलती है तो वह भाव-सौन्दर्य भर है, जिससे हृदय की तन्मयता बढ़ती है कवि की प्रशंसा को हम लालायित नहीं होते। कोरा साहित्यिक जब सिद्धान्तों की कसौटी पर इस ग्रन्थ की कला को कसेगा तो वह यहाँ मानसकार कवि तुलसी का पेंसिल स्कैच ही पा सकेगा, यथार्थ चित्र नहीं। भारतीय भक्त हृदय से अपरिचित स्कॉलरों को तुलसी की रचनाओं में सबसे अरुचिकर कदाचित् 'विनयपत्रिका' ही लगती है। संस्कृत शब्दावली का अविच्छिन्न प्रवाह, अनुस्वारान्त शब्दनिर्माण की अस्वाभाविकता, आचरणविस्तृत समास, असाहित्यिक शुष्क सांग रूपक, "राम राम रटु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा" या "राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे" की निरर्थक रट, और अपनी हीनता एवं राम की बड़ाई को बार-बार सुनकर उनका दम घुटने लगता है। न मनोहर वर्णन है, न मंजुल कथोपकथन, न कथा का प्रवाह है, न अलंकारों की छटा। इस अनलंकृत सचाई का कारण इस ग्रन्थ का 'पत्रिका' रूप में उपस्थित होना है।

जो पत्र अपने बराबर वाले को लिखा जाता है उसमें उसके व्यक्तित्व का ध्यान भी रखा जा सकता है। यदि पत्र अपने से बड़े आश्रयदाता आदि को लिखा जावे तो उसमें उचित-अनुचित को सोचे बिना एक शब्द का प्रयोग भी हम नहीं कर सकते। परन्तु कुछ पत्र ऐसे व्यक्तियों को लिखे जाते हैं जिनसे हमारा तनिक भी दुराव-छिपाव नहीं—वे हमारी अच्छी बातें भी जानते हैं, साथ ही बुरी बातें भी; हम उनसे रूठ भी जाते हैं, उन पर उबल भी पड़ते हैं, कभी-कभी उनके सामने आँसू बहाने लगते हैं, कभी दूसरों की उनसे शिकायत करने लगते हैं—जब मैंने तुमको अपना समझा है, तो अपना हृदय तुम्हारे सामने खोलकर रखने में मुझको क्या संकोच? मैं जैसा भी हूं तुम्हारा ही हूं, तुम अपनाओ या ठुकराओ—तुम्हारी इच्छा। भगवान के साथ भक्त का ऐसा ही सम्बन्ध है। जो सर्वव्यापक और अन्तर्यामी है उससे दुराव-छिपाव तो संभव नहीं; हाँ, यदि हम अपनी ओर से सब कुछ उसके सामने ठीक-ठीक निवेदन करदें तो हमारा हृदय भी हलका हो जावेगा और

वह भी हमारे अनन्य प्रेम से पिघल जावेगा। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी जी ने इसी नीति का सहारा लिया है, वही स्पष्टवादिता और अनन्यता सर्वत्र मिलती है :—

(क) खोटो खरो रावरो हौं, रावरी सौं; रावरे सौं,
झूठ क्यों कहोंगो ? जानौ सबही के मन की।
॥ पद संख्या ७५ ॥

(ख) जाउं कहां तजि चरन तुम्हारे ?
काको नाम पतितपावन जग ? केहि अति दीन पियारे ? ॥१०१॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी के व्यक्तित्व का जितना स्पष्ट तथा स्वाभाविक चित्र इस ग्रन्थ में मिल सकता है, उतना अन्यत्र नहीं। तुलसी मुख्यतः भक्त थे, और उच्चकोटि के अनन्य भक्त। 'विनय पत्रिका' में उनके श्रद्धालु भक्त हृदय के सच्चे उद्‌गार , काट-छाँट से रहित स्वाभाविकता तथा टीमटाम से शून्य कला में विकसित होकर दूसरे भक्तों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। भावों की स्वाभाविकता तथा अभिव्यक्ति की अकृत्रिमता की कसोटी पर कसी जावे तो भी 'विनयपत्रिका' गोस्वामी जी की सर्वश्रेष्ठ कृति ठहरती है।

विनय पत्रिका' में २७९ पद हैं, परन्तु न कोई कथा है और न कोई योजना—प्रयत्न करने पर भक्ति के ९ रूप तो मिल भी सकते हैं। कारण यह है कि कवि को तो एक पत्र लिखना है, किसी योजना के अनुसार (भक्तिरस का ही सही) काव्य नहीं लिखना। कभी वह जीव को समझाने लगता है (७४), कभी भगवान से कुछ कहता है (७५-८१) कभी वह पश्चात्ताप करने लगा (८२-८५) और कभी उसने मूढ़ मन को 'सिखावन' सुनाई (८७); और ये सब बातें न जाने कितनी बार कितने स्थलों पर आई हैं—यदि योजना का ध्यान रहता तो एक प्रकार के पद एकसाथ ही आते। मन को बार-बार समझाने पर भी जब मन मूढ़ता न छोड़ सका (९०) तो भक्त ने हरि से अपने मायाजन्य नृत्य की शिकायत की (९१) और फिर उसको बड़ी ग्लानि हुई (९२) सोचा, करुणा-निधान भगवान् की कृपा (९३) मुझ पर क्यों नहीं हो रही, मुझको उन्होंने भुला क्यों दिया (९४), शायद इसका कारण मेरे अवगुण (९५-९७) हैं। इस प्रकार अनन्य भगवद्-भक्त के सात्विक उद्‌गार 'विनयपत्रिका' में भरे पड़े हैं। यदि तुलसी के इस ग्रन्थ की तुलना 'सूरसागर' के विनय खण्ड (प्रारम्भ के २२३ पदों) से की जावे, तो ध्यान दो बातों पर जाता है। प्रथम है—'विनयपत्रिका' का पत्रिका रूप में प्रस्तुत करना

जिसके कारण इसमें 'सूरसागर' के उक्त खण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक व्यक्तित्व की छाप मिलती है। द्वितीय यह कि 'विनयपत्रिका' अधिक प्रौढ़ रचना है—इस अवस्था तक आते-आते कवि के भावों में वह कोरी गर्मी नहीं रही, वह कौशल अनावश्यक हो गया, रह गया केवल संसार के अनुभव तथा शास्त्रों के मनन के अनन्तर शान्त एवं सात्विक हृदय, जिसका सर्वस्व भगवान् राम तक ही सीमित है—उसका ज्ञान, उसकी समझ उसका विश्वास, उसका प्रेम सब कुछ उन्हीं के लिए है; उन्हीं की कृपा से उत्पन्न, उन्हीं के चरणों में समर्पित। उद्वेगविहीन हृदयप्रसार से आप्लावित यह भक्ति-सुधानिधि तृषातुर भक्तों के लिए अमोघ दान है।

प्रौढ़ता (कला की नहीं, भक्ति की) की दृष्टि से 'सूरसागर' के विनय-खण्ड तथा 'विनयपत्रिका' की तुलना विस्तार पूर्वक भी की जा सकती है। 'सागर' में 'वासुदेव की बड़ी बड़ाई' का लम्बा-चौड़ा वर्णन है, अनेक अवतारों में उनके कृत्य और उनकी महिमा, उनका स्वभाव, भक्तवत्सलता आदि; फिर 'माया महाप्रबल' के अनेक रूप आलंकारिक भाषा में उपस्थित किये गये हैं; इस प्रकार संसार की असारता तथा भगवान् की भक्त-वत्सलता की तुलना कर कवि मन को 'भगवन्त-भजन' की प्रेरणा देता है। अपनी दीनता की चर्चा शायद संसार की असारता से भी अधिक है, बीच-बीच में अनेक पौराणिक प्रसंग आगये हैं। सम्पूर्ण खण्ड पढ़ चुकने के बाद भी पाठक के मन को आनन्दमग्न कर सकने वाले स्थल प्रायः नहीं मिलते—वैराग्य तथा करुणा के स्थल तो अनेक हैं। दूसरी ओर 'विनयपत्रिका' में अधिकतर पद स्तुति के हैं, पौराणिक प्रसंग न होने के बराबर है, अवतारों की चर्चा एक-दो पद में ही हो जाती है; संसार की असारता का वर्णन नहीं है प्रत्युत संसार में अधर्म की ओर ध्यान दिलाया गया है, अपनी दीनता के स्थान पर मन की प्रबलता को ही बार-बार भगवान् के सामने रखा गया है। 'पत्रिका में पश्चात्ताप नहीं मिलता, विश्वास है; शिकायत नहीं है, निवेदन है; संसार से वैराग्य नहीं, सम्यक् दृष्टि है; भगवान् की लीला नहीं गाई गई, स्तुति की गई है। सूर का मानो भगवान् से नया ही परिचय हुआ था इसलिए उनके हृदय में बहुत आवेग है, उनको बहुत कुछ कहना है, सब कुछ सजा बजाकर; परन्तु तुलसी तो भगवान् के अपने हो चुके थे, उनको आनन्द के गीत गाने हैं और बार-बार इसी स्थिति की ('बिमल भगति रघुपति की') कामना करनी है—वे आनन्द से गाते हैं और मुस्कराते हैं, कभी शिकायत कर देते हैं-संसार की या मन की; कभी मना लेते हैं भगवान् के दूसरे सेवकों को; उनका

विश्वास उनके सहजारुण ओष्ठों पर झलक रहा है:—

> मारुति मन, रुचि भरत की लखि लखन कही है।
> कलि-कालहुं नाथ ! नाम सो प्रतीत-प्रीती एक किंकर की निबही है।
> सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही हैं।
> कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बांह गही है।
> बिहंसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूं लही है।
> मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ सही है।२७९।

२

'विनयपत्रिका' का प्रारम्भ विनय के पदों से हुआ है, परन्तु यह विनय तुलसी के इष्टदेव की न होकर दूसरे-दूसरे देवों की है। प्रथम पद में 'मुद-मंगल-दाता' 'विद्यावारिधि बुद्धिविधाता' गणेश जी की वंदना है, और 'दूसरे में लोक प्रकासी' 'तेज प्रताप रूप' सूर्य भगवान की स्तुति है। गणेश या सरस्वती की उपासना ग्रन्थ-रचना से पूर्व निर्विघ्न समाप्ति के लिए सभी मध्ययुगीन कवि किया करते थे। सविता या सूर्य विवेक अथवा सम्यक् ज्ञान का प्रतीक होने के कारण वेद में भी स्तुत्य ठहराया गया है। तदनन्तर शिवस्तवन है—और बहुत ही बड़ी मात्रा में। इसके कई कारण जान पड़ते हैं। एक तो सीधी-सादी बात है कि गोस्वामी जी ने शैवों और वैष्णवों के झगड़े को मिटाकर उनमें समझौता कराने का सफल प्रयत्न किया है, परन्तु दो विशेष कारण भी हैं। प्रथम यह कि भगवद्-भक्ति से मन को बहकाने वाला देव काम है—मन में अनेक प्रकार की कामनाएँ जगती हैं, जिनमें स्त्री-विषयक तथा यशोविषयक मुख्य है—शिव जी काम के शत्रु हैं, यदि उनकी स्तुति की जावे तो भक्ति का सबसे बड़ा विघ्न दूर हो सकता है; तुलसी ने इसीलिए शिव को इतना महत्व दिया है[1] और माया के 'काम'—रूपी रूप के अपहरण, की उनसे प्रार्थना की है। द्वितीय, यह है कि शिव स्वयं राम के बड़े भक्त हैं, उन्होंने राम की सेवा के ही लिए हनुमान[3] का जन्म लिया था, हनुमान उसी प्रकार काम के शत्रु ('कामजेताग्रणी'), विविध शास्त्रों के ज्ञाता (विश्वविद्याग्रणी), अशुभ विग्रह तथा 'मंगलागार'[4]

---

१. देहु कामरिपु रामचरनरति। (३)
देहु कामरिपु रामचरनरति। (७)
देहि कामारि श्रीरामपदपंकजे
भक्ति मनवरत गतभेदमाया। (१०)

२. हरहु निज माया। (६)

है[३]। राम-भक्ति के लिए राम के अनन्य भक्त हनुमान की उपासना अनिवार्य है—वह उनके 'वानराकार' का ध्यान हो या 'विग्रह-पुरी' का।

तदनन्तर देवी कालिका (१५, १६), गंगा(१७-२०), यमुना, काशी, चित्रकूट की स्तुति है[४]। गोस्वामी जी ने अबतक मानव देहधारी जितने देवों का गुणगान किया है उनसे दो बातों की कामना की है'—एक तो है 'विमल भगति रघुपति की' और दूसरी है उस देव-विशेष का वह गुण, जिसके कारण वह प्रसिद्ध है, यथा गणेश से सद्‌बुद्धि, शिव से कामविजय आदि। इस प्रकार उनका यह मत है कि भिन्न-भिन्न देवता 'कोसलाधीस जगदीस जगदेक हित अमितगुन' भगवान् राम के अंश, कला या गुण-विशेष हैं—देवों की सामर्थ्य भी रघुपति की कृपा पर ही निर्भर है, जो गुण भिन्न-भिन्न देवों में मिलते हैं वे सब के सब इकट्ठे अपने मूल स्रोत भगवान राम में ही हैं। तीर्थ आदि के गुण-गान में मन का शुद्ध आह्लाद है, कामना यदि कोई है तो यही कि उस स्थान पर निवास करके राम-नाम जपते हुए अपने जीवन को सफल बनावें[५]।

अब राजा राम की राजसभा आती है, पुस्तक का वास्तविक प्रारम्भ यहीं (पदसंख्या २५) से समझना चाहिए। यद्यपि इससे पूर्व भी एक पद (सं० १८) 'जयति' से प्रारम्भ हुआ है, फिर भी सभोचित जय-जयकार का क्रम यहीं से चलता है मानो राजसभा में प्रवेश करते ही किसी ब्राह्मण या ऋषि ने आशीर्वाद प्रारम्भ कर दिया हो, या कोई चारण राजपुरुषों की सभा में प्रवेश करते ही जयघोष करने लगा हो—पांच पदों का ऐसा ही प्रारम्भ है और केवल प्रारम्भ ही क्यों, प्रत्येक पद में सभी नवीन ग्रन्थ 'जयति' से ही चलते हैं। हनुमान की स्तुति में पूरे १२ पद हैं, फिर लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की एक-एक पद में वंदना है, सीता की विनय में २ पद लगाये गए हैं—उस दरबार में जिसका जैसा स्थान है, वैसा ही सम्मान[१] कवि ने भी किया है। आगे के १९ पद (४२ से ६१ तक) विनय-पत्रिका के सार

---

३. रघुबीर-हित देवमनि रुद्र अवतार। (२५)

४. पदसंख्या २५ से २९ तक।

५. (i) तुलसी तव तीर-तीर, सुमिरत रघुवंश-बीर
बिचरत मति देहि ... । (१७)

(ii) तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो भयो चहै सुपासी। (२२)

(iii) तुलसी जो राम-पद चहिय प्रेम।
सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम। (२३)

हैं, इनमें राज-राजेन्द्र जानकीनाथ की स्तुति सुन्दर से सुन्दर तथा मनोहर से मनोहर शब्दावली में की गई है—संस्कृत शब्दों का अकृत्रिम प्रवाह, सहजोद्भव विशेषणराजि, चरणों की लय और गति कवि की तन्मयता का परिचय देती है—यदि ये पद समझ में एकदम न आवें (यद्यपि सामान्य संस्कृतज्ञ के लिए भी कठिन नहीं है) तो भी इनके अन्तर्निहित सौन्दर्य से मन में एक सहज उल्लास का आविर्भाव होता है।

आगे के पदों में प्रायः या तो राम की स्तुति है या मन अथवा जीव को सीख। तुलसी की दार्शनिक विचारधारा का अनुमान इस ग्रन्थ में ऐसे ही पदों से लगता है। मन से एक ही बात कहनी है कि रामनाम का जप करो (६५-६६); इसके बिना अन्यथा कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु मायाग्रस्त जीव को माया की क्षणभंगुरता तथा निस्सारता बतलाकर उसको इस संसार-रात्रि के मोह से जगाकर ज्ञानभानु का प्रकाश दिखाना है, अतः जीव के हेतु कहे गए पदों में वेदान्त के दृष्टान्तों द्वारा 'जग-जामिनी' की बार-बार चर्चा है (७३-७४)। कवि का मत है कि यह जागरण भगवत्-कृपा से ही हो सकता है और जगने का अर्थ होगा मूढ़ता (अर्थात् मायाविषयक रुचि) का त्याग एवं साथ ही साथ रामचरण में अनुराग[2]। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से संचित मोह मल के समान आत्मा पर आवरण बना हुआ है, जिसके कारण सब कुछ विपरीत ही जान पड़ता है; शास्त्रों में इस 'मोहजनित मल' को छुड़ाने के लिए अनेक उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु तुलसी के विचार से यह मल केवल 'रामचरण अनुराग' से ही धोया जा सकता है। जीव को समझाने वाली इन बातों पर शंकराचार्य का प्रभाव स्पष्ट है और कबीर की वाणी से इनकी समानता खोजी जा सकती है; तुलसी के यहां जागरण का अर्थ है—संसार की सारी आशाओं को छोड़ कर उसी भाव से भगवच्चरणों में अनुरक्ति।

जिन पदों में राम की स्तुति है उनके दो विषय मुख्य हैं—अपनी

१. मानस में लक्ष्मण तथा भरत को जो उच्च स्थान मिला है वह यहाँ न मिल सका, 'पत्रिका' में तो राम के अनन्तर दूसरा स्थान उनके अनन्य सेवक हनुमान का है, कारण कदाचित् यह हो कि पवन-पुत्र में शुद्ध भक्ति है, लक्ष्मण आदि में भक्ति के साथ सामाजिकता भी काफी मात्रा में मिल गई है।

२. जानकीस की कृपा जगावती, सुजान जीव,
जागि, त्यागि मूढ़तानुराग श्री हरे। (७४)

दीनता तथा भगवान् की कृपालुता । इसे परम्परा का पालन ही समझना चाहिए, दूसरे भक्त कवियों ने भी यही किया है—मूढ़ता (६०) मंदता (६२) अघ (६५) अवगुन (६६) आदि भक्त के पेटेण्ट गुण हैं, इनके सहारे गरीब निवाज (६६) पतितपावन (१०१) कृपानिधि (११०) भगवान् के अनुग्रह का वह विशेष अधिकारी बन सकता है। दूसरे भक्तों के समान तुलसी ने भी भगवान् को उनके विरुद का ध्यान दिलाया है (६४) परन्तु अधिक नहीं। प्रातः तो वे अपनी ही भूल स्वीकार करते है—तुमने तो मेरे साथ बहुत कुछ किया, देवों के लिए दुर्लभ यह मानव-शरीर दिया, जिससे मै अनेक साधन कर सकता था (१०२) फिर भी मैने ऐसे कर्म किये जिनसे स्वप्न में भी सद्गति नहीं मिल सकती (११७) तुम्हारी कृपा से अब मै जग गया हू (१०५), तुम्हारी ही कृपा से अब संसार मुझको बांध न सकेगा (१८८) मेरा मन तुम्हारे चरणों में लग रहा है (२४३)

परन्तु बार-बार बहकाने का कारण क्या है? वही जिसकी शिकायत अर्जुन ने योगीराज कृष्ण से की थी—मन बड़ा चंचल तथा बलवान् है, वायु के समान उसको वश में करना अति दुष्कर है[4]। मन को बहुत समझाया जाता है, अनेक प्रकार से (८३-६०) परन्तु इस मन को विश्राम नहीं है। यह सहज सुख को छोड़ कर इन्द्रिय-जन्य सुख के पीछे चक्कर काटता रहता हैं। (८८) यह ऐसा पागल है कि राम भक्ति रूपी सुरसरिता को छोड़ कर ओस-कणों से प्यास बुझाना चाहता है (६०)। मनुष्य कितना ही प्रयत्न करे परन्तु इस अतिशय प्रबल तथा अजय मन को जीत नहीं सकता। इसको भगवान की प्रेरणा से ही इन्द्रियार्थों से हटा कर वश में करना संभव है।[1] वस्तुतः मन को वश में करना आवश्यक नहीं[2] प्रत्युत मन जिस प्रकार विषय में अनुरक्त रहता है, उसी तल्लीनता से राम में अनुरक्त हो तभी कल्याण है। और इसका साधन एक ही है—भगवान के चरणों में एकदम गिर पड़ना[3], तभी मन को यह पवित्र विश्वास होगा कि प्रभुपद से विमुख होकर स्वप्न में भी सुख नहीं है[4] और मन राम-चरण-कमल का प्रणधारी मधुकर बन सकेगा[5]। ध्यान रखना होगा कि भक्ति के इन पदों को आत्मविषयक हम नहीं मान सकते; जिस समय इनकी रचना हुई थी उस समय तुलसी का मन के

३- तुलसीदास व्रत, दान, ज्ञान तप सुद्धिहेतु स्तुति गावै।
रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै ॥ (८२)

४- चञ्चल हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ६-३४ ॥

साथ द्वन्द्व न चलता होगा, क्योंकि उस समय तक तो निश्चय ही उनके हृदय में अटल प्रतीति बस गई थी। अस्तु ये पद भक्ति की ओर अग्रसर होने की प्रारम्भिक अवस्था की सूचना देते है—गोस्वामी जी ने अपने अनुभव से तथा दूसरे लोगों कोदेख कर जो बाधा तथा साधन देखे उन्हीं को पाठकों के लिए सचित कर दिया। यही कारण है कि विनय-पत्रिका के ये पद सामान्य भक्त के हृदय में भी एक पवित्र गूंज उत्पन्न कर देते हैं।

गोस्वामी जी मुख्यतः भक्त थे, कोरे ज्ञानी मात्र नहीं। ज्ञानी (या दार्शनिक) जिस तर्क द्वारा ब्रह्म की चर्चा करते हैं उससे उनके अन्तःकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मन में विषय-वासना जगी रहती है और कर्मवश कोटि-कोटि योनियों में उनको घूमते रहना पड़ता है[1] ज्ञानी भी यह जानता है कि संसार देखने में ही सुन्दर है, वास्तविकता में बड़ा भयंकर है,[2] परन्तु रघुपति भगति और संत संगति" के बिना मन को इस प्रकार का विश्वास नहीं होता। वेद शास्त्रों में ज्ञान-भक्ति आदि[3] जिन

---

१. हौं हारयो करि जतन विविध विधि, अतिसय प्रबल अजै।
तुलसीदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥ (८९)

२. यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छांड़ि सुभाव निरन्तर रहत विषय अनुरागो। (१७०)

३. जाऊं कहां तजि चरन तुम्हारे ?
काको नाम पतित पावन जग ? केहि अति दीन पियारे ?(१०१)
कहां जाउं कासों कहौ, और ठौर न मेरो ? (१४९)
नाहिन आवत आन भरोसो। (१७३)
कहां जाउं ? कासों कहौं ? को सुनै दीन की ? (१७९)

४. उपजी उर प्रतीति, सपनेहुं सुख प्रभुपद विमुख न पैहौ। (१०४)

५. मन—मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं। (१०५)

१. वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह-मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।
जब लगि नहिं निज हृदि-प्रकास अरु विषय-आस मन माहीं।
तुलसीदास तब लगि जग जोनि भ्रमत, सपनहु सुख नाहीं। (१२३)

२. अन विचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी। (१२१)

३. ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं (११६)
बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा श्रुति गावै। (१२०)

पारमार्थिक साधनों का उल्लेख है, वे सबके सब सत्य है निस्सन्देह, परन्तु मन से वासना नहीं जाती[4], वह केवल भगवत्-कृपा से ही मिट सकती है[5]। यह वासना क्या है ? द्वैत[6] की भावना, अर्थात अपने और पराये का भेद[7] जिससे मेरा-तेरा यह झगड़ा होता है[8], जो सारे दुखों का कारण है।

यहां द्वैत से गोस्वामी जी का अभिप्राय ठोस व्यावहारिक है, दार्शनिक कदापि नहीं। अपने-पराये के साथ ही सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, विस्तार-संकोच सब चिपटे हुए है[9]। आत्मोद्धार का एक मात्र यही राज-पथ है[10]। सभी विघ्नों से रहित, जो भगवान की कृपा से ही प्राप्त होता है।

राम बिनु कारन पर-उपकारी[1]'' (१६६) और ''हेतु रहित कृपालु' (११४) है, यदि उनसे सच्चा प्रेम करना है तो वह भी 'हेतु रहित' (१०३) होना चाहिये। इसलिए सगुण उपासक भक्त मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते[2]। वे भगवान की 'अबिरल भगति बिसुद्ध' (उत्तर काण्ड-मानस) को चरम लाभ मानते हैं। 'पत्रिका' में गोस्वामी जी ने किसी दार्शनिक सिद्धान्त का खंडन नहीं किया, ज्ञान-भक्ति का झगड़ा भी नहीं चलाया। तर्क वितर्क तो स्वयं भ्रम है[3], इसको भगवान की कृपा से छोड़कर जब विमल विवेक की प्राप्ति होती है, तभी सहज सुख मिल सकता है। संसार के बन्धन

---

४. असि वासना न उर तें जाई। (११६)

५. तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मनमाही।

६. द्वैत-रूप तम-कूप परौ नहिं अस कछु जतन विचारी। (११३)
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा। (१२४)
द्वैत मूल, भय सूल सोक फल, भवतरु टरै न टारयो। (२०२)

७. गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाये। (२०१)

८. तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिय सुख कबहुं न पावै। (१२०)

९. देखि आन की विपति परम सुख, सुनि सम्पति बिनु आगि जरौ। (१४१)

१०. गुरु कह्यौ राम-भजन नीको मोहि लगत राज-डगरो सो। (१७३)

१. अस प्रभु दीन-बन्धु हरि, कारन-रहित दयाल। (बाल काण्ड, मानस)
कारन बिनु रघुनाथ कृपाला (अरण्य काण्ड)
बिनु कारन दीन दयाल हित। (लंका काण्ड)

२. सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।
तिन्ह कहुं राम भगति निज देहीं॥ (लंका काण्ड)

३. तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै। (१११)

अपने आप शिथिल पड़ जाते हैं, मन भगवद्-भजन तथा साधु-संगति में लगने लगता है—यही जीवन का फल है।

(३)

कला-सौन्दर्य की दृष्टि से भी विनय पत्रिका किसी से पीछे नहीं रहती, और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसमें नादसौंदर्य गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थों से अधिक है। भगवान की स्तुति में तन्मय होकर जब भाव-विभोर भक्त गाने लगता है तो सरस्वती उसकी वशगा बन कर उसके संकेत पर नाचती है। विमल संगीत की प्रत्येक तान और लय मानस में पवित्र भावों का स्फुरण करने लगती है, ऐसा जान पड़ता है मानो कवि के साथ हम भी अपनी सभी वासनाओं और कामनाओं को अंजुलिगत करके भगवान् राम के पाद-पद्मों पर समर्पित करने में कृतकृत्य हो गये। इस प्रकार का सौंदर्य अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न रागों में प्रस्फुटित हुआ है—

(क) श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुण। (४५)
(ख) जानकीस की कृपा जगावती सुजान जी ......। (७४)
(ग) जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ? (१०१)
(घ) यो मन कबहूँ तुमहि न लाग्यो। (१७०)
(ङ) नाहिन आवत आन भरोसो। (१७३)
(च) राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे। (१८९)
(छ) मोहि मूढ़ मन बहुत बिगार्यो। (२४५)

कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं ? जहां प्रत्येक धातु-खंड कांचन हो वहां कसौटी क्या निर्णय देगी ? यदि सात्विक भाव से भगवान की अर्चना में गाया जावे तो 'विनय-पत्रिका' का प्रत्येक पद व्यक्तिभेद तथा भाव-भेद से दूसरे पदों से भिन्न होता हुआ भी एक ही दिव्य आनन्द की सृष्टि करता है। 'विनय-पत्रिका' गीतिकाव्य है, संगीत की यह विशेषता साहित्यिकों की दृष्टि में भी विशेष महत्व रखती होगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति तथा संगीत के इस मणि-कञ्चन-संयोग से अभिभूषित जितने पद गोस्वामी जी के मिलते हैं उतने हिन्दी के किसी अन्य कवि या कवियित्री के नहीं।

'पत्रिका' का दूसरा मुख्य गुण इसकी भाषा है। यद्यपि आदि से अन्त तक भाषा का एक ही स्थिर रूप नहीं है, फिर भी देवार्चन में देववाणी की मनोरम छटा मानो दैवी प्रवृत्तियों के जगाने का ही काम करती है। तन्मयता वाले पदों में भी भाषा दोनों प्रकार की हो सकती है, परन्तु जहाँ

स्तुति है वहां संस्कृत शब्दावली का साम्राज्य भव्यता के लिये अनिवार्य रूप से छा गया है, भगवान् राम की स्तुति में इस बात पर और भी अधिक ध्यान जाता है। वाक्य तक संस्कृत के से है, समासों का भी वैभव देखने योग्य है। परन्तु जहां तक रचना का सम्बन्ध है वह संस्कृत की नहीं है—उस पर संस्कृत का प्रभाव है, वह संस्कृताभास है। फलतः संस्कृतज्ञ इस भाषा में दोष निकाल सकते है, और असंस्कृतज्ञ इसके संस्कृतपन से तंग आ सकते है। कुछ उदाहरण देखिये :—

(क) येन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतम् निशमनवद्यमवलोक्य कालं।। (४६)

(ख) वेदबोधित-कर्म-धर्म-धरणी-धेनु-विप्र-सेवक-साधु-मोदकारी। (४३)

(ग) जयति निगमागम-व्याकरन-करनलिपि-काव्य-कौतुक-कलाकोटि-सिंधो।
(२८)

कुछ शब्दों में विभक्तियां संस्कृत की मिलेंगी—विशेषतः सम्बोधन में तथा द्वितीय पुरुष के एक वचन की धातुओं में—भवतु, पाहि, विष्णो, गायन्ति, जयति, सिन्धो। यह संस्कृतपन जो केवल स्तुति में पाया जाता है भव्यता के ही लिए है, इससे संगीत सौन्दर्य भी बढ़ जाता है। गोस्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे फिर भी उन्होंने संस्कृत व्याकरण के अधीन अपनी भाषा को नहीं होने दिया। आगे के पदों में सामान्य विनय है वहां संस्कृत शब्दावली तक का यह प्रश्न नहीं आता—

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
या के लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो।।२४५।।

विनयपत्रिका के भव्य स्थलों में अलंकारों की प्रचुरता पर भी पाठकों का ध्यान गया है। यों तो गोस्वामी जी का साहित्यिक रूप 'मानस' में भलि भांति स्पष्ट हो चुका था, परन्तु रूपक का मोह वे यहाँ भी न छोड़ सके। रूपक 'मानस' के समान बड़े-बड़े तो नहीं हैं परन्तु संख्या में कम न होंगे। 'कामधेनु कलि कासी' (२२) 'सोच-विमोचन चित्रकूट' आदि तो प्रसिद्ध साँगरूपक हैं। स्थान-स्थान पर आनेवाले छोटे रूपकों में विशेषता यह है कि सौन्दर्य साहित्यिक न होकर आध्यात्मिक हैं, रूप और आकार पर ध्यान नहीं दिया गया, गुण और शक्ति आधार हैं। शिव के लिए 'मोहतमतरणि' (१०) 'मोहमूषकमार्जार' (११), 'अज्ञान पाथोधि-घट सम्भव' (१२), आदि; या हनुमान के 'जलधि-लंघन-सिंह' (२५) 'विश्व-भूषणं जना-मंजुलाकर-मणे' (२६) आदि से मन के

ऊपर कोई चित्र नहीं खींचता प्रत्युत एक उत्साह आ जाता है—और इस प्रकार के रूपक 'पत्रिका' में अनेक हैं। दृष्टान्तों की कमी नहीं, उत्प्रेक्षा भी अनेक स्थलों पर हैं। आगे चलकर ज्यों-ज्यों स्तुति के स्थान पर विनय आती गई है, त्यों-त्यों अलंकारों का सौन्दर्य कम होता गया है, अर्थ में गम्भीरता आती गई है ; आत्म निवेदन ने स्तवन को गौण बना दिया है।

गोस्वामी जी की यह अंतिम रचना हिन्दी-साहित्य में एक नई चीज है, भक्ति की दृष्टि से तो गोस्वामी जी की रचनाओं में ही नहीं समूचे हिन्दी-साहित्य में इसको प्रथम स्थान मिलना चाहिए। इसकी शैली और व्यवस्था नितान्त मौलिक है। कवि की प्रतिभा इसमें विशेष रूप से निखरी है। 'विनयपत्रिका' शुद्ध पारमार्थिक काव्य है, इसमें न विचार विवेचन है, न कोई प्रचार। भगवान् राम के सामने भक्त तुलसी ने जो कुछ निश्छल निवेदन किया है वह वास्तविक तथा सत्य है, उससे तुलसी के व्यक्तित्व का जितना परिचय मिलता है, उतना दूसरे किसी प्रमाण से नहीं।

अध्यक्ष-हिंदी विभाग
हंसराज कालेज दिल्ली-८

डा० ओम् प्रकाश

आधुनिक कविता—मेरी दृष्टि में

'आधुनिकता' का अर्थ प्रत्येक युग में नया संदर्भ ग्रहण करता है। इसीलिए आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करने के पूर्व हमें उसकी सीमाएं निर्धारित करनी होंगी। रूढ़ार्थ में भारतेन्दु से आधुनिक कविता का जन्म होता है और अधुनातम काव्य तक उसकी गति है। परन्तु एक संपूर्ण शताब्दी को विहंगम दृष्टि में लाना कुछ कठिन है। इसीलिए हमें इस निबंध में हिन्दी के आधुनिक काव्य-विकास का क्षिप्र पर्यवेक्षण करते हुए मुख्यतया पिछले बीस वर्षों के समसामयिक काव्य पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी होगी। इस प्रकार हम अपने विवेचन में आधुनिकता का निर्वाह भी कर सकेंगे और उसे युग-निष्ठा भी दे सकेंगे।

आधुनिक कविता हमारे उस नए जीवन की उपज है, जो विदेशी अंग्रेज जाति के शासक-रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद नई परिस्थितियों के कारण विकसित हुई और बाद में पश्चिम के साहित्य और ज्ञान-विज्ञान से अनुप्राणित हुई। पलासी-युद्ध के बाद बंगाल में इस नई राज-शक्ति की नींव जमी और उसे देशव्यापी एवं एकच्छत्र बनने में सौ वर्ष लगे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही देश के साहित्य में नई प्रवृत्तियों का उदय होने लगता है, परन्तु शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही उन प्रवृत्तियों को दृढ़ कर सका। फलतः काव्य-क्षेत्र में नवोन्मेष भी इसी युग में सामने आया। काव्य में जिसे हम भारतेन्दु-युग कहते हैं वह यही अर्द्ध-शताब्दी है। इस अर्द्ध-शताब्दी में काव्य-क्षेत्र में वही पुरानी काव्य-भाषा-ब्रज चलती रही और कवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग रीति और भक्ति युगों के संस्कारों में बंधा रहा। भारतेन्दु ने

समसामयिक विषयों पर कविता लिखकर काव्य को नई सुधारात्मक एवं राजनीतिक चेतना दी और उसे बदलते हुए जीवन से संपृक्त किया। अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में वे रसनिष्ठा का आदर्श निबाहते रहे और भाषा की विशुद्धता तथा अनुभूति की सच्चाई के आग्रह ने उन्हें नई काव्य-भूमि दी। उन्हें हम रीति मुक्त कवियों और स्वच्छन्दतावादी कवियों के बीच में रख सकते हैं। काव्य को निर्वैयक्तिक साधना और शास्त्रीय मर्यादा से बाहर लाकर उन्होंने उसे व्यक्तित्वनिष्ठ किया और भावुकता से भरा। परन्तु उनकी महत्ता किसी नए काव्यादर्श के कारण उतनी नहीं है जितनी नई काव्य भूमि के निर्माण के कारण। जातीयता, राष्ट्रीयता और सुधार-वाद के तीन प्रमुख पक्षों को लेकर भारतेन्दु-युगीन काव्य सामने आता है। इसी युग में श्रीधर पाठक की रचनाओं में प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया गया। नया कवि मध्यवित्ती समाज का सदस्य था जो पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा के कारण जहां एक ओर पश्चिम के मानवतावाद से प्रभावित हुआ वहां उसमें धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना भी जाग्रत हुई, जि..का एक पक्ष सुधारवाद था। यह मध्यवित्त समाज नागरिक समाज था और नवविकसित नगरों के व्यस्त जीवन ने प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रकृति की ओर उसे आकर्षित किया। पश्चिम के काव्य में प्रकृति की स्वतंत्र स्थिति थी। इसलिए वह प्रकृति की ओर लौटा।

परन्तु बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों में काव्य की यह प्रगति-शीलता नष्ट हो गई। द्विवेदी-युग में आचार्य द्विवेदी के द्वारा जहां काव्य-भाषा का प्रश्न खड़ी बोली के पक्ष में हल हुआ, वहां उनके पौराणिक इतिवृत्तों के आग्रह और संस्कृत के वर्णिक छन्दों के प्रयोग के कारण स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियां कुंठित रहीं। द्विवेदी जी गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं देखते थे। फल यह हुआ कि इस युग में 'गद्य' ही अधिक लिखा गया, 'कविता' कम सामने आई। यह युग भाषा, संस्कार और छन्दों के क्षेत्र में प्रयोग का युग है और अब उसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है। भारतेन्दु-युग की सुधारात्मक प्रवृत्ति इस युग में भी चलती रही, परन्तु नीतिवाद की प्रधानता होने के कारण काव्यस्फुरण दुर्बल रहा।

प्रतिक्रियास्वरूप द्विवेदी-युग में ही जयशंकर प्रसाद और माखनलाल चतुर्वेदी के द्वारा भावना और कल्पना के आग्रह के साथ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों ने बल पकड़ा और छायावाद की नींव पड़ी। इस काव्यधारा का विस्तार १९१८ से १९३६ तक माना जा सकता है। आधुनिक हिन्दी कविता

के ये बीस वर्ष काव्योन्मेष के सुन्दरतम वर्ष है। इनमें भाषा प्राथमिक प्रयोग की स्थिति से ऊपर उठकर भाव और स्वप्न का वाहन बन गई और कवियों का सद्य:जाग्रत मनोनिवेश एक अतीन्द्रिय कल्पना-लोक की सृष्टि करता है। छायावादी काव्य राष्ट्रीय क्षेत्र की बहिर्मुखी हलचलों की अन्तर्मुखी वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। उसने उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी रोमांटिक कवियों, प्रमुखत: शेली, के प्रभाव को स्वीकार किया है और रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य-चेतना और रहस्य-भावना से भी वह प्रभावित है। रवीन्द्रनाथ का काव्य जहाँ कालिदासी सौन्दर्यनिष्ठा का अभिनव संसार निर्मित करता है, वहां मध्ययुगीन वैष्णव कवियों, मर्मियों, संतों-सूफियों और लोकगायक बाउलों का विरह मिलन-भाव आध्यात्मक-भाव भी नव-युग की नई भाषा ग्रहण करता है। यूरोप की रोमाँटिक काव्यधारा से भी वे रस ग्रहण करते है। इस प्रकार छायावाद स्वीय भूमि पर आधारित होते हुए भी हिन्दी से इतर अनेक प्रभावों से उद्दीप्त है। उसमें हिन्दी भारती का कण्ठ पहली बार फूटा है। उसे हम वय:संधि का काव्य भी कह सकते हैं। एक अभिनव आश्चर्य, विश्व के प्रति एक चमत्कृत दृष्टि, प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति रहस्यमय भावना, और नारी के वन्दन-गीतों से यह काव्य मुखरित है। पिछले युगों की सामाजिक और सुधारात्मक चेतना कवि के व्यक्तिगत भावविलास के नीचे दब गई है और परवर्ती प्रगतिशील काव्य में वह भावना-सूत्रों के दुर्बल पड़ जाने पर ही उभर सकी है। परन्तु राष्ट्रीय चेतना का सूक्ष्म प्रसार प्रसाद, पंत और निराला के प्रगीतों में स्पष्ट रूप से मिलता है और यही राष्ट्रीय भाव कवियों को अतीत के स्वर्ण युगों की ओर भी प्रेरित करता है। छायावाद काव्य की प्रकृति मुख्यत: प्रगीतात्मक है, परन्तु निराला जैसे कवि के काव्य में क्लासिकल या मर्यादावादी काव्य-शैली का भी अभिनव योग है। 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी रचनाएं छायावाद के उत्कर्ष काल में ही सामने आती है, परन्तु इस काव्य की श्रेष्ठतम देन कदाचित् 'कामायनी' है जो प्राचीन ऐतिह्य को नवीन मनोवैज्ञानिक आलोक में देखती है और पश्चिम की भौतिक-वैज्ञानिक संस्कृति की एकांगिता की घोषणा करती हुई, इच्छा, कर्म और ज्ञान की समन्वयात्म भूमिका पर शैवाद्वैती मानववाद की प्रतिष्ठा करती है। इस रचना में हम छायावादी वायवी सौन्दर्य-चेतना को क्लासिकल सौन्दर्य दृष्टि से परिपुष्ट पाते है।

छायावादी काव्य के अंतर्गत रहस्यवादी काव्य की भी एक धारा प्रवाहित थी। आरम्भ में अस्पष्ट विस्मय-भाव और 'गीतांजलि' के प्रभाव

को लेकर यह रहस्य-चेतना विकसित हुई, परन्तु निराला, प्रसाद और महादेवी में उसने हिन्दी के संत-वैष्णव परम्परा से सहारा लिया और अपने दार्शनिक पक्ष को सुनिश्चित किया। इस काव्य-धारा का जैसा व्यक्तित्व महादेवी के काव्य में निखरा है, वैसा आधुनिक भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता। स्वयं रवीन्द्रनाथ के गीतों की रहस्यदृष्टि भी महादेवी की अंतरंग कोमलता और मर्म-मधुर गीति-लहरी के सामने दुर्बल जान पड़ती है।

१९३६ के बाद हमें भावना और विचार के नए सूत्र काव्य क्षेत्र में दिखलाई देते है। और आकाशचारी कवि भावातिशयता छोड़ कर 'जग के दाने, के प्रति आकर्षित हो जाता है। राष्ट्रीय क्षेत्र के नए समाजवादी और मार्क्सवादी आन्दोलनों की प्रतिक्रिया काव्य में उभरती है और विद्रोह, क्रांति एवं विध्वंस के सुर मुखर हो उठते हैं। नवनिर्माण के सपने अब वायवी नहीं रह पाते। वे 'वादों' में बंध जाते है। इससे निश्चय ही काव्य तत्व की हानि हुई है और बौद्धिकता बढ़ी है। वैचारिक काव्य निबंध-काव्य के रूप में सामने आया है और भावपक्ष की कलात्मक एवं सौन्दर्यमयि अभिव्यंजना की ओर से कवि की दृष्टि हट गई है। नवीन प्रगतिवादी काव्य रूस और चीन के नवोदित काव्य से प्रेरणा ग्रहण करता है और उसमें राजनैतिक और सामाजिक नारे ही काव्यबद्ध हो जाते है। परन्तु इस प्रगतिशील काव्यधारा के साथ ही प्रयोगवाद के रूप में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का नया प्रसार भी सामने आता है, जो फ्राइडीय मनोविज्ञान की उपलब्धियों और योरोपीय प्रतीकवाद की प्रेरणा ग्रहण कर अंतर्जगत को स्वप्नमण्डित करता है और रूप-रंग की अभिनव सृष्टि के लिये प्रयोगशील बनता है। इस क्षेत्र में अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि कवियों की रचनाएँ नए मानों का निर्माण करती हैं। 'तार सप्तक' के कवियों में हम नई अभिव्यंजना की ओर जो आकुलता देखते हैं, उसे केवल पश्चिम का प्रभाव कह कर टाला नहीं जा सकता। प्रत्येक युग में कवि की भाषा, छन्द, प्रतीक की खोज, नया रूप ग्रहण करती है और प्रयोग की ड्योढ़ी को पार करके ही वह परंपरा से अपना संबन्ध जोड़ पाता है। 'नई कविता' के पिछले दो भागों से यह स्पष्ट है कि प्रयोग प्रयोग के लिए भी किये जा रहे हैं और वैचित्र्य की मरु-भूमि में कवि के खो जाने की सम्भावना है। यह स्थिति प्रतिक्रियात्मक है, परन्तु यह निश्चय है कि छायावादी काव्य की भाँति यह काव्य भी प्रयोगों की दलदल से उभर कर आत्मविश्वास के नए चरण बढ़ाता हुआ स्वस्थ और निर्माणोन्मुख काव्य की ओर आगे बढ़ेगा। कविता में गतिरोध की पुकार प्रयोगवादियों

के लिए बहुत बड़ी चेतावनी है।

समसामयिक काव्य में भी अनेक प्रवृत्तियों का संश्लेष है। छायावादी गीतिकाव्य भाव और भाषा के क्षेत्र में नए प्रसार को लेकर आगे बढ़ा है। नए गीत लोक-कण्ठ से प्रभावित हैं और उनकी संवेदना धरती की गन्ध से आपूरित है। उनमें सुचिक्कणता नहीं, स्वर-वैषम्य है। फिर भी उनमें हिन्दी का सुर अधिक सुरक्षित रह सका है। गीतों की यह नई धारा हिन्दी काव्य का प्रमुख अङ्ग है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध और आख्यान के क्षेत्र में नए प्रयोग चल रहे हैं। बौद्धिकता के आग्रह के कारण इन क्षेत्रों में नई रचनाएँ आई हैं जो परम्परित ढङ्ग का महाकाव्य होने का दावा करने पर भी महाकाव्य नहीं हैं। परन्तु चरित्रों और कथा-सन्दर्भों में नए पक्षों का उद्घाटन हुआ है और साकेत और कामायनी की परम्परा आगे बढ़ी है। गीति-नाट्य के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट के प्रयोग, काव्य-रूपक के रूप में पंत और भगवतीचरण वर्मा की रचनाएँ, धर्मवीर भारती के "अन्धा-युग" जैसे नाट्य-प्रयोग हमें विश्वास दिलाते हैं कि नई काव्य-चेतना एकदम निष्प्राण और अमौलिक नहीं है। यह स्पष्ट है कि नया काव्य प्रयोगों की भूमि पर बढ़ता हुआ सशक्त अभिव्यंजना और मौलिक अभिनिवेश के क्षेत्र में पहुँच गया है और उसकी प्रगति को आशा और उत्सुकता से देखा जाना चाहिए। नई कविता अब नई न रह कर, हमारी संवेदना-शिराओं के लिए परिचित स्पन्दन बनती जा रही है और वह धीरे-धीरे अपनी दुर्बलताओं को पहचान कर उनके ऊपर उठना सीख रही है।

समसामयिक कविता की सब से बड़ी दुर्बलता यह है कि उसने महान् आदर्शों, महत् संवेदनाओं एवं अतलस्पर्शी अनुभूतियों से नाता तोड़ दिया है। वह हमारे आज के विशृङ्खल और आदर्शच्युत जीवन का प्रतीक बन गई है। निराला, पंत प्रसाद और महादेवी के काव्य में महत् की उपासना और अनुभूति की सच्चाई है; उनका काव्य जीवन के संदर्भ से अनुप्राणित है। इन कवियों ने अपनी भावकता और शब्द-साधना के द्वारा व्यक्तिगत कल्पनाओं और अनुभूतियों को सार्वजनिक बना दिया है। इन्होंने शाश्वत और चिरंतन का पल्ला पकड़ा है, परन्तु उनके काव्य में समसामयिक जीवन की वैचारिक और भावुक भूमियों की सम्पूर्ण प्रतिच्छाया है और उनका सूक्ष्म आकलन है। उनके स्वप्न भी यथार्थ से अधिक वास्तव हैं। नया कवि स्वप्नों को छोड़ कर यथार्थ की अनुर्वरा भूमि पर ही विचरण करना चाहता है, परन्तु यथार्थ स्वप्न की वास्तविकता ग्रहण करके ही सार्थक हो सकेगा। अभी नवजीवन

का यथार्थ नए काव्य का स्वप्न नहीं बन सका है और नए कवि के भाव-जगत को उतनी सम्पूर्णता और अतिशयता से नहीं छूता। आज का सत्य जब प्रज्ञा का सत्य-मात्र न रह कर भाव-लोक का स्वप्न बन जायगा, तभी नवीन कविता जन-जन के रस-कोष को स्पर्श करने में समर्थ होगी।

नया काव्य मुख्यतः मासिक पत्रों, वार्षिकियों, अनेकमुखी एवं व्यक्ति-मुखी संकलनों और स्फुट रचनाओं के रूप में सामने आ रहा है। पुस्तकों के रूप में आने से पहले वह पत्रों के पृष्ठों पर उतरता है और बहुत कुछ वहीं तक सीमित रह जाता है। पिछले दिनों बराबर यह शिकायत रही है कि काव्य-ग्रन्थ पड़े रह जाते हैं। उनकी बिक्री नहीं होती। आज कवि को साहित्य-क्षेत्र में वह अग्रगामिता प्राप्त नहीं, जो कथालेखक और समीक्षक को है। पश्चिम में भी यही स्थिति है और कवियों को जनता तक पहुंचने के लिए चमत्कारिक या नाटकीय रूप से प्रयत्न करना पड़ रहा है। सच तो यह है कि अधिकांश स्थानों पर कविता ने जन-सम्पर्क खो दिया है, और वह प्रयोगों एवं दुश्चिन्ताओं में डूब गई है। कदाचित नए जीवन की अभिव्यक्ति के लिए वह उपयुक्त माध्यम का निर्माण नहीं कर पा रही है। यह अवश्य है कि पश्चिम में इलियट, एज़रा पाउण्ड, स्टीफ़ेन स्पेन्डर आदि कवि नई काव्य-शैलियों के प्रवर्त्तक है और उन्होंने वैज्ञानिक युग के सन्दर्भों को रसनिष्ठ कर नई भाषा और नए प्रतीकों के सहारे काव्य को नई भूमि दी है, परन्तु वह भूमि रस-भूमि की अपेक्षा प्रज्ञा-भूमि ही अधिक है। फल यह हुआ है कि काव्य कूट बन गया है और उसका साधारणीकरण नहीं हो सका है। यह एक छोटे से संकीर्ण दायरे में घूमता है और एक प्रकार के गोष्ठी-काव्य को जन्म देता है। विद्रोह और ध्वंस, प्रचार और प्रताड़न ही उसके लक्ष्य हैं, भीतरी और बाहरी निर्माण पर उसकी दृष्टि कम जाती है। यह साधना-विरल और चमत्कार-जीवी है। आवाज़ आती है कि कविता का युग अब नहीं रहा और जीवन के गद्य ने उसका गला घोंट दिया है। विज्ञान और काव्य की विरोधी प्रकृति की दुहाई देकर बात समाप्त कर दी जाती है।

परन्तु कविता के क्षेत्र में गतिरोध की बात अंशतः ही सत्य है। इससे पुष्ट केवल यही होता है कि आज का कवि जीवन के रस-कोषों तक नहीं पहुँच पाया है और युग को नई भौतिक चेतना की उच्च एवं सूक्ष्म अध्यात्म-भूमि नहीं दे सका है। वह युग के अनुरूप सौंदर्यमय प्रतीकों की खोज में असफल रहा है और उसने जीवन की असंगतियों को ही अपनी

आगवत सीमा मान लिया है। इस चक्रव्यूह को उसे भेदना होगा। तभी वह स्वस्थ और प्रभावशाली काव्य की सृष्टि कर सकेगा। काव्य को जीवन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से नहीं, उसकी अंतरंगी अनुभूतियों और निष्ठाओं से संयुक्त करके ही हम कविता का गौरव लौटा सकेंगे। आवश्यकता है नई सौन्दर्य दृष्टि के निर्माण की, जो युग की असंगतियों और विरोधाभासों को पार कर भाव और भाषा के नए संतुलन और जीवन के निर्माणात्मक रूप-रंग पर बल दे। पश्चिम में विज्ञान का आतंक है और भौतिक एवं राजनीतिक संस्कारों ने कविता का रस-शोषण किया है। पूर्व में कालचक्र की गति ऊर्ध्वमुखी है और उसका आत्मविश्वास अभी भी सुरक्षित है। उसकी आध्यात्मिक तथा सौन्दर्यमुखी चेतना हतप्राण नहीं हुई है। युग करवटें बदल रहा है। हमारा मुख उगते हुए सूर्य की ओर है, अस्तांगत रवि की ओर नहीं। फिर समझ में नहीं आता कि हम पश्चिम की विशृङ्खल, आत्मकुण्ठित और प्रयोगविजड़ित काव्य-प्रेरणाओं का अनुकरण एवं अनुचरण क्यों करें? और अपने रसबोध के अनुरूप अपनी काव्य-परम्परा को ध्यान में रखते हुए स्वस्थ नवनिर्माण की ओर क्यों नहीं बढ़ें? नया युग कवि के लिए एक बड़ी चुनौती है। उसे स्वीकार करके ही कवि को आगे बढ़ना होगा। वह जब विज्ञानमयी संस्कृति के आतंक से ऊपर उठ कर नए जीवन की आस्था के सहारे प्रयोग की दलदल से बाहर निकल कर सब के हृदय-स्पन्दन से अपना स्पन्दन मिलायेगा, तभी नई भावना के कमल काव्य-सरोवर में खिलेंगे, तभी कवि और उसका काव्य सूर्याभिषिक्त हो सकेगा। जब तक ऐसा सुयोग नहीं आता, तब तक प्रयोग प्रयोग ही रहेंगे और उनकी रसात्मक भूमि उद्घटित नहीं हो सकेगी। नए जीवन के प्रति आस्थावान और कविता के भविष्य के सम्बन्ध से सुनिश्चित होकर ही हम नई भाव-भूमियों को प्राप्त कर सकेंगे और हमारी अभिव्यंजना शैली-मात्र न रह कर अनुभूति का पुञ्जीभूत प्रकाश-काय बन कर सार्थक हो सकेगी। कविता यदि व्यक्तिगत सौन्दर्यानुभूति की सार्वभौमिक अभिव्यंजना है तो हमें उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए इसी मार्ग से लौटना होगा। काव्य सम्पूर्ण दृष्टि है। वह युग की जागतिक अनुभूतियों और उपलब्धियों का समुच्चय है। विज्ञान काव्य का अंगी बन कर ही अपनी जड़ता से विमुक्त हो सकेगा। अध्यात्मनिष्ठ होने में ही उसकी सार्थकता है। मध्य-युग में काव्य जिस प्रकार धर्म और दर्शन को कर्मकाण्ड तथा तर्कवाद की भूमियों से ऊपर उठा कर सार्थक हुआ था, उसी प्रकार अर्वाचीन युग में वह विज्ञान को स्वप्नगर्भित करके ही सफल हो

सकेगा। पश्चिम में विज्ञान और कविता का द्वन्द्व है। पूर्व की कविता इस द्वन्द्व से ऊपर उठ कर तत्कालिक मानव की सार्वत्रिक, सम्पूर्ण और असंवृत अनुभूति को वाणी देने में प्रयत्नशील रही है। नई हिन्दी कविता अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करके ही सफल हो सकती है।

हिन्दी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म० प्र०)

डा० रामरतन भटनागर

छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी साहित्य में नूतन चेतना का उदय हुआ। इसलिये नहीं कि उस पर युद्ध का सीधा प्रभाव पड़ा, पर पराधीन देश उससे अछूता बच रहा, यह कहना भी गलत है। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय धन-जन की आहुति चढ़ाई गई (हमारे देश के चोटी के नेताओं ने भी उस समय युद्ध सहायता प्रदान की) और जब मित्रराष्ट्र जीते, तो भारतीयों को उसकी सेवा के उपलक्ष में दमनकारी कानूनों के शिकञ्जों में जकड़ कर रोंदा गया—पीसा गया। इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में हुई। गांधी जी के नेतृत्व में देश स्वाधीनता के लिए छटपटाने लगा, वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मार्ग से विद्रोह के पथ पर चलने लगा। देश की बाह्य क्रांति साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई[1]।' इस समय हिन्दी कविता के दो रूप दिखलाई दिये। एक तो वह, जिसमें देश की स्वाधीन भावना मुक्तकण्ठ से मुखरित हो रही थी—कवि अपने चारों ओर की उत्पीड़नमयी घटनाओं और जनता के रोष को अभिधा में व्यक्त कर रहे थे। ऐसे कवि राष्ट्रीय कवि कहलाये, दूसरा वह-जिसमें धर्म-समाज-साहित्य की रूढ़ियों से विमुख हो

---

१. "आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रान्ति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रान्ति का पुतला था। जिस क्रान्तिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुरावस्थाओं की अनुभूतियाँ तीव्र होती जा रही थीं; वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थीं और मनुष्य की मनोदशा, विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थीं।" —दिनकर (मिट्टी की ओर)

कवि अपनी सत्ता को स्वच्छन्द रीति से प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहे थे। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि देश के बाह्य राजनीतिक विद्रोह में भाग लेने में अक्षमपन ने साहित्य के निरापद क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्दता वृत्ति का परिचय दिया। यही स्वच्छन्दतावाद आगे चल कर छायावाद – रहस्यवाद से अभिहित किया जाने लगा। ऐसे कवि छायावादी कहलाये, पर हिन्दी छायावाद में स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के कवि हार्डी, यीट्स या डी लॉ मेरे आदि का स्वच्छन्दतावाद नहीं है। उसमें तो रोमाण्टिक-युग के वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, कालरिज आदि की आत्मा झाँक रही है, सीधे या बंगला के माध्यम से।

जिस प्रकार अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद के कवियों ने कविता की पुरातन मान्यताओं का तिरस्कार कर उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार छायावादी कवियों ने कविता को देखने की दृष्टि दी, जिससे पूर्ववर्ती शास्त्रीय समीक्षा धीरे-धीरे दूर हो कर कालेजीय विवेचना—टीकाओं में सिमट कर रह गई। प्रसाद कहते हैं, "इस युग की ज्ञान सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचना-शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप से दिखलाई देने लगा। किन्तु साथ ही साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही है।" प्रसाद ने भी साहित्य कला की विवेचना करते समय भारतीय पारिभाषिक शब्दों का विस्मरण नहीं किया पर उनकी व्याख्या में आधुनिकता भरने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। वे कहते है, "यदि हम भारतीय रुचि भेद को लक्ष्य में न रख कर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे ... तो प्रमाद कर बैठने की आशङ्का है।" इस तरह छायावादी कवि पाश्चात्य और भारतीय दोनों मान्यताओं को लेकर चले हैं। साहित्य क्या है ? कविता क्या है ? उसके प्रेरक स्रोत क्या है ? उसका भाव और बाह्य रूप विधान (form) से क्या सम्बन्ध है ? वह युग सापेक्ष है या निरपेक्ष ? आदि प्रश्नों पर उन्होंने विचार-चिन्तन किया है। प्रसाद ने काव्य को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' कहा है; जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।" वे काव्य और कला में लिखते हैं, "वह (काव्य) एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण-प्रेय

और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" संकल्पात्मक मूल अनुभूति से 'प्रसाद' का तात्पर्य है "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।" प्रसाद का श्रेय 'सत्य ज्ञान' ही है जिसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं है, उसे वे 'एक शाश्वत चेतना या चिन्मयी ज्ञान धारा' कहते है जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। 'असाधारण अवस्था' युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है।"

'प्रसाद' के काव्य की यह रहस्यमयी व्याख्या आंग्लरोमैण्टिक-युग के कवियों की अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान के समान जान पड़ती है।

ब्लेक का कथन है, 'Vision or Imagination is representation of what externally Exists Really and Unchargeably' (भीतरी झलक या कल्पना बाह्यावस्थित शाश्वत सत्य का प्रतिनिधिकरण है) काव्य प्रतिभा परम सत्य (Truth and Reality) को अनुभव करने की शक्ति का नाम है। प्रसाद का 'सत्य', 'शाश्वत चेतन' या 'चिन्मयी ज्ञान-धारा', ब्लेक के Truth and Reality से दूर नहीं है। वह भी इन्हें अपरिवर्तनशील कहता है। कालरिज भी कविता को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मानता है और उसमें 'भीतरी सत्य' का आभास पाता है।

अंग्रेजी रोमैण्टिक कवि काव्य को प्रसाद के शब्दों में प्रायः 'आत्मा की अनुभूति' मानते हैं। क्योंकि वे उसमें आध्यात्मिकता का किसी न किसी रूप में समावेश करते हैं। प्रसाद की तरह डा० रामकुमार वर्मा का मत है, 'आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौंदर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।'

छायावादी कवि आंग्ल समीक्षकों के समान कविता के आत्मपरक (Subjective) और परात्मक (Objective) भेद को नहीं मानते। डा० रामकुमार वर्मा कहते है, 'जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय हो जाता है। 'मैं' चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण कर लेता है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी का वक्तव्य है—'साँस और सूझ जिस तरह एक दूसरे के विद्रोही नहीं, उसी तरह विश्व के प्रलयंकर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण, तथा दूसरी तरफ, हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल, दोनों में कहीं विद्रोह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि एक कवि के रक्त की

पहचान और सिर का दान मांगती है तथा दूसरी ओर, वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उच्चतर समर्पण का प्रमाण चाहती है। एक कवि का निश्चय और दूसरी कवि की अनुभूति बन कर रहना चाहती है।'
'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

'मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पडी हृदय में
झर उमड़ वेदना आई।'

महादेवी कहती हैं—'जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त तथा अव्यक्त, दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य-जगत में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है, वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण को परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है, उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य, रूप मे, एकदेशीय होकर भी अनेक देशीय और युग विशेष से सम्बन्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता ।'

कालरिज श्रेष्ठ कविता उसी को मानता है जिसमें कवि अपने सुख-दु:ख से ऊपर उठ कर सृष्टि के सुख-दु:ख में अपने को मिला देता है।[1]

Self regarding emotions स्वार्थ सीमित भावनाओं में प्रेषणीयता नहीं होती। पन्त 'आधुनिक कवि' में स्वीकार करते है—'यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दु:ख के सत्य अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।' बौद्धिकता तथा भावप्रवणता (emotions) को पन्त एक मानते हैं।[2]

---

[1] 'So lorg as the Poet gives* utterances merely to the subjective feeling he has no right to the tittle.' Colleridge.

[2] 'बौद्धिकता हार्दिकता का ही दूसरा रूप है।'
(आधुनिक कवि—८

प्रसाद ने भी बुद्धि और भाव को, मन के ही दो रूप प्रतिपादित किये हैं ।[3] अतः जो वाह्यात्मक (objective) रचनाओं को बौद्धिक कह कर उनका इसलिये उपहास करते हैं कि उसमें कवि का 'मन' नहीं रमा रहता, यह भ्रान्ति है। कवि को द्रवित होने के लिए उसी पर सीधी चोट पड़ना आवश्यक नहीं है। वह बाह्य वस्तु के माध्यम से भी पीड़ित हो सकता है। विधवा की करुण मानसिक स्थिति के अंकन के लिए कवि को स्वयं विधवा बनने की आवश्यकता नहीं। उसके हृदय की संवेदनशीलता विधवा के दुःख को कल्पना के माध्यम द्वारा ग्रहण कर लेती है। इसी से कल्पना को केवल 'बुद्धि-व्यापार' नहीं कहा जा सकता। वह कवि की संवेदन-शीलता से जागृत होती है और उसमें स्वयं संवेदना भी भरती है। गीति काव्य (Lyrical Poetry) में कवि के 'स्व' को देखना और अन्य रचनाओं में उसको तटस्थ कहना पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र का गड़बड़झाला है। पन्त ने सजग हो 'स्व' और 'पर' में विभेदक पर्दा नहीं रहने दिया। इससे हिन्दी-समीक्षा को एक नई दृष्टि ही मिली है।

काव्य की अभिव्यंजना के सम्बन्ध में छायावादियों में मतभेद है। अभिव्यंजना में भाषा, छन्द, अलंकार आदि का समावेश है। वह काव्य की बाह्य आकृति (Form) है। कलाकार के मन में कलाकृति का चित्र पूर्णरूप से उतर आता है, तभी अभिव्यक्ति में पूर्णता आती है। 'प्रसाद' कहते हैं— 'जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है; वही अभिव्यक्ति अपने में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है[1]।'

भावाभिव्यंजना भाषा और प्रायः छन्द का रूप धारण करती है। भाषा को भावानुगामी होना चाहिए। इस सम्बन्ध में 'पन्त' का आग्रह है— 'कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए। जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें। जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों'—(पल्लव)। छायावादी कवियों ने 'भाषा' को माधुर्य प्रदान करने में कम योगदान नहीं दिया। कहीं-कहीं तो इसी से कवि की अनुभूति

---

[3] 'मनु'—अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है। —कामायनी (आमुख में)

[1] काव्य और कला

उसी के आवरण में ओझल हो गई। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जोर से कहना पड़ा कि छायावादी अभिव्यंजना पर ठहर गये हैं, उनकी भावना का स्रोत सूख गया है। 'प्रसाद' ने छायावादी रचना को 'अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर कर दिया। उन्होंने कहा—'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की निवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं[1]।

भाषा में 'प्रतीक' शब्दों के प्रयोग की ओर छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहा है। उसने 'कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण, और अर्थ की दृष्टि से नापतोल और काँट-छाँट कर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमल कलेवर दिया[2]।' निराला भी भाषा को 'भावों की अनुगामिनी' मानते हैं और यह भी कि बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही।' छायावादियों ने भाषा की पुष्टि और भावों में तीव्रता भरने के लिए अलकारों का उपयोग किया। 'पन्त' उन्हें 'राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान'[3] कहते हैं। जीवन में एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम लाने के लिए 'पन्त' काव्य में छन्द की आवश्यकता अनुभव करते हैं। 'हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसके सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है। संस्कृत के 'वर्णवृत्त' हिन्दी की प्रवृत्ति के प्रतिकूल हैं क्योंकि उनकी लहरों में उसकी धारा अथवा चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कलकल-छलछल तथा अपने क्रीड़ा-कौतुक-कटाक्ष एक साथ खो बैठती है। उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर, मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती है।' उसका चंचल भृकुटि-भङ्ग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है।' भगवती चरण वर्मा 'मुक्त छन्द की कविता को अधिक-से-अधिक गद्यकाव्य मानते हैं—कविता नहीं[4]।' दिनकर कविता में छन्द को स्वाभाविक मानते हैं। क्योंकि 'छन्द स्पंदन समग्र-सृष्टि में व्याप्त है। कला ही नहीं, जीवन की प्रत्येक शिरा में यह स्पंदन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रहमण्डल और विश्व की प्रगतिमात्र में एक लय है जो समय के ताल पर यति लेते हुए अपना

1. वही पृष्ठ १४६ 2. महादेवी-आधुनिक कवि पृ० १०
3. पल्लव भूमिका
4. प्रगतिशील कविता पर रेडियो प्रसारित परिसंवाद
5. मिट्टी की ओर पृ० १२१

काम कर रही है'। 'लय' और 'ताल' पर महत्व देने के कारण ही कई छायावादियों ने भाषा के व्याकरण की अधिक पर्वाह नहीं की। द्विवेदी युग में जहाँ कविता परम्परागत अलंकार-छन्दों में वस्तु वर्णन का शास्त्र बन गई थी, वहाँ छायावादी-युग में कवियों ने उसे परखने का एक नया दृष्टि-कोण प्रचलित किया। वस्तु के साथ भाव का मेल किया और उसे कला के साथ समन्वित करने का प्रयास कर क्रोशे के शब्दों में Intuition and Expression, का सुन्दर गठबन्धन किया।

उनके सामने जीवन को देखने का भी प्रश्न था—'जीवन ऐसा होना चाहिए, जीवन ऐसा है—और जीवन सबसे पृथक है—की समस्या उनके सामने खड़ी थी 'जीवन ऐसा होना चाहिए'—में आदर्शवाद, 'जीवन ऐसा है' में यथार्थ-वाद और 'जीवन सबसे पृथक है'—में व्यक्तिवाद आ जाता है।

महादेवी ने 'आदर्श' और 'यथार्थ' दोनों पर विचार किया। आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है। हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को, मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खंडित भावना को अखंड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है।' 'यथार्थ स्थूल बन्धनों के भीतर निश्चित रहता है।' 'आदर्श का सत्य निरपेक्ष है परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रहेगी।' 'आदर्शवादी कलाकार अपनी सृष्टि को अन्तर्जगत् में घेर लेता है और यथार्थवादी अपने निर्माण को केवल बाह्य जगत में बिखरा देता है।' पर यथार्थवादी कवि का 'कर्म' सहज नहीं है। महादेवी उसमें अशिवत्व-तत्त्व नहीं देखना चाहती। महादेवी जीवन में ऐसे आदर्श को अपनाना चाहती हैं जिसे प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है। ऐसा आदर्श जो यथार्थ के संकेत छोड़ जाता है। 'बच्चन' आदर्श और यथार्थ दोनों से स्फूर्ति पाते हैं। उनका इंगित है 'देखते नहीं कि उसका (कवि का) एक हाथ उपवन में खिली चमेली का हिमकण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तमोमय साम्राज्य में निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खींच रहा है। देखते नहीं, उसका एक कान निर्झरणी की रागिनी श्रवण कर रहा है, और दूसरा कान इन्द्र के अखाड़ों मे खड़े हुए गंधर्व, किन्नर और अप्सराओं के आलाप का आनन्द ले रहा है[1]। आज हिन्दी में जिस यथार्थवादी साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से

---

[1]मधुबाला-प्रलाप पृ० १०-११

पुकारा जाता है, उस सम्बन्ध में छायावादियों का दृष्टिकोण यह है कि वे इन यथार्थवादी रचनाओं में कवि का 'यथार्थ' पाते ही नहीं। 'प्रसाद' का मत है, 'यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है—समाज कैसा है या था।' प्रसाद आदर्शवाद के भी भक्त नहीं हैं। क्योंकि 'आदर्शवादी' धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वे साहित्य को इन दोनों 'वादों' से ऊपर उठा ले जाते हैं। वे आदर्श और यथार्थ का मेल कराते हैं। कहते हैं—'दुःखदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।'

महादेवी भी यथार्थवाद को 'जीवन का इतिवृत्त' (इतिहास) कहती हैं। इसीलिए वह 'प्रकृति और विकृति' दोनों चित्र देनेके लिए स्वतंत्र है। पर जीवन में विकृति अधिक प्रसारगामिनी है। परिणामतः यथार्थ की रेखाओं में वही बार बार व्यक्त होती रहती है। अतः महादेवी जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियों को प्रगति देने वाले प्रकृति चित्रकार को सच्चा यथार्थवादी मानती है। पर आज की 'यथार्थवादिनी' कविता ऐसे 'कण्ठ' से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित है।' 'महादेवी' और 'प्रसाद' चूंकि यथार्थ-जगत् के भौतिक जीवन से अधिक परिचित नहीं हो पाये, इसलिये उनमें उसके प्रति तीव्र संवेदना नहीं जाग सकी। पंत की भी यही स्थिति है—उनकी भी यथार्थ मानव-जीवन के प्रति 'बौद्धिक-सहानुभूति' रही है। प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श की उपयोगिता को नष्ट होते देखकर ही 'पन्त' ने आदर्श से विद्रोह नहीं किया पर यथार्थ की उपेक्षा भी नहीं की। दोनों का समन्वय करके कविता का एक नया 'तन्त्र' उन्होंने देना चाहा—'मेरा विश्वास है, लोकसंगठन, तथा मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं। क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं'—(उत्तरा)। 'आज साहित्यकार कभी व्यष्टि से असंन्तुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से असन्तुष्ट होकर व्यष्टि की ओर।' पन्त की धारणा है—'इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा।' इसलिए वे 'बहिरन्तर' जीवन के समन्वय को ही प्रधानता देते हैं। इस तरह 'पन्त' साहित्य में समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह दृष्टिकोण 'प्रसाद' के 'समरसता' का पर्याय कहा जा सकता है।

छायावादी कवि राजनीति के दायरे में अपने को नहीं बांधना चाहते। 'निराला' के शब्दों में 'एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा—अपनी एक देशीय भावना-

के कारण घटा देता है। साहित्यिक मनुष्य की प्रवृत्तियों को भी श्रेय देता है, जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है।' दिनकर भी साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते। 'कला क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनिषेध का होना चाहिये। कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने आपके प्रति पूर्ण रूप से इमानदार रहे।'*

संक्षेप में, छायावादी कवियों में प्रायः अंग्रेजी रोमेण्टिक कवियों की प्रवृत्ति पाई जाती है। उनमें साहित्य की रूढ़ मान्यताओं के प्रति अनास्था की तीव्रता न होते हुए भी उनसे आग्रहपूर्वक लगाव भी नहीं है। वे कविता को अन्तर्बाह्य अनुभूति का परिणाम मानते है। इसलिए उसके आत्मपरक और परात्मक भेद को बहुधा नहीं मानते। अन्तर में 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल' की मनुहार करने वाली महादेवी और 'मेरे नगपति मेरे विशाल' पर दृष्टि जमाने वाले दिनकर, एक ही पंक्ति में बैठते हैं। दिनकर की बाह्य दृष्टि होने पर उसका बिम्ब उनके अन्तरपट पर ही पड़ता है। इसी प्रकार छन्दों की रूढ़ता से विरक्ति दिखाने पर भी उन्हें त्यागने के स्थान पर नूतन छन्दों की खोज में वे व्यस्त दीखते है। भाषा में बाह्य शृङ्गार से उन्हें प्रेम है। प्रकृति के प्रति तादात्म्य प्रदर्शित कर वे उससे स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी अभिन्नता स्थापित करना उनका ध्येय है। साहित्य को युगपेक्षी बनाना उनका लक्ष्य नहीं है। पर युग चेतना से वे अनुप्राणित भी होना चाहते है।

वे भावपक्ष पर आग्रह प्रदर्शित करते हैं—इसलिए भारतीय रसवादी है। वे कला पक्ष के प्रति सहज ममता रखते हैं—इसलिए पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी हैं। उनमें भाव और कला, दोनों को समान अनुभव करने की प्रवृत्ति है—इसलिए उनका दृष्टिकोण 'समरसता' अथवा 'समन्वय' का है।

रीडर, हिन्दी विभाग,
महाकोशल महाविद्यालय,
जबलपुर (म० प्र०)

डा० विनय मोहन शर्मा

---

* मिट्टी की ओर

गीति काव्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी-साहित्य में आज गीतों की जैसी बहार देखने में आती है, वैसी पहले किसी भी युग में नहीं देखी गई थी। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो साहित्य का सुकुमार-दर्पण किसी निर्मम पाषाण-खण्ड से टकरा कर चूर्ण-विचूर्ण हो गया हो और उसके प्रत्येक टुकड़े से भावुक हृदय का प्रतिबिम्ब झलक रहा हो। अथवा यों भी कह सकते हैं कि महाकाव्य-रूपी पूर्ण चन्द्र को अमावस्या के अन्धकार ने पूर्णतः ग्रस लिया है और उसके स्थान पर अनन्त आकाश में सर्वत्र अनगिनत नक्षत्र मोती-के-दाने के समान बिखर गए हैं।

आज स्थिति ऐसी है कि कोई भी भावुक तरुण-साहित्यकार अपने गीत की पंक्तियों को गुनगुनाता हुआ ही साहित्य के द्वार पर पदार्पण करता है और ऐसी बात भी नहीं कि उसके गीतों में निरर्थक-शब्द-योजना हो। बल्कि इसके विपरीत, उसके गीत हृदय की करुणाधारा से सुसिक्त और प्राणों के दुर्दम्य आलोड़न से झंकृत होते हैं। उनमें उनके अन्तर्तम की व्याकुल रागिनी मर्मान्तक स्वरों में फूट उठती है। और न केवल उनमें झंझा की उद्दाम गति ही रहती है, वरन् वसन्त का समस्त वन-वैभव भी सुरभि से हिल्लोलित रहता है।

गीतों की यह प्राण-धारा यद्यपि वर्त्तमान युग में सहस्रमुखी होकर प्रवाहित हो रही है, फिर भी साहित्य में यह एकदम नई बात नहीं है। किसी भी साहित्य के मर्म में काव्य की यह अतिगोपन पीड़ा मन्द-मधुर-स्वर से गूँजती रहती है। वास्तव में देखा जाए, तो हृदय की अज्ञात वाणी जिस

छन्द, गति और लय के साथ गीतों की भाषा में मुखरित होती है, उतनी काव्य के अन्य किसी अंग में कदापि नहीं। गीत की स्वर-माधुरी में मानव-मन जितना घुल-मिल जाता है, उतना महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य में नहीं। बड़े-बड़े काव्यों में हृदय भाग गौण हो जाता है और मस्तिष्क प्रधान। प्रातः-काल की सुनहली धूप में फूलों के अधरों पर ओस की बूंद प्रकाश का पूर्ण प्रतिबिम्ब लेकर जिस प्रकार जगमगा उठती है, उसी प्रकार गीतों में कवि का आकुल अन्तर अपनी स्वाभाविक अवस्था में खुल-खिल कर बोल उठता है।

गीति-काव्य का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना स्वयं कविता का। प्रकारान्तर से सम्पूर्ण वेद को हम गीति-काव्य कह सकते हैं। 'वेदों में सामवेद मैं ही हूं'—गीता में यह कह कर भगवान् ने मानो इस पर अमिट छाप लगा दी है। आदि-काव्य रामायण भी अपनी गेयता के कारण ही सर्वप्रथम इतना प्रसिद्ध हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि गीति-काव्य में कवि-हृदय का प्राकृतिक उद्‌गार है। पुष्प का सौरभ जिस प्रकार तन्मय होकर अनिल के पंखों पर उड़ जाता है, उसी प्रकार कवि-हृदय का रस-माधुर्य गीत-लहरी के द्वारा अनायास जन-जन के कण्ठ-कण्ठ से उतर जाता है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में अनेक साहित्यकारों की यह मिथ्या धारणा है कि काव्य अथवा महाकाव्य का युग समाप्त हो गया और उसके स्थान पर केवल मुक्तक कविताओं अथवा गीतों की रचना ही विकसित होगी। यद्यपि यह सत्य है कि जीवन की इस अति चंचल तथा कोलाहल-पूर्ण धारा में वृहत् काव्यों के योग्य पूर्ण विश्राम, अवकाश एवं मनः स्थिति का अभाव है, तथापि, सहित्य के इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं रहा है, जब काव्यों के साथ-साथ गीतों का वैभव-विस्तार भी नहीं हुआ हो। एक ओर जब गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरित मानस की रचना हो रही थी, तब, उसी समय, दूसरी ओर सूरदास जी की पदावली भी भक्त-जन के हृदय के तारों को निरंतर झंकृत कर रही थी। क्या प्रबन्ध-काव्य और क्या गीति-काव्य, अन्तर्वीणा की एक ही रागिनी दो विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। भेद केवल इतना ही है कि एक का स्वर गम्भीर होता है, तो दूसरे का चंचल। स्थायित्व दोनों में समान भाव से उपस्थित होता है। काव्य यदि किसी काल समाज या व्यक्ति-विशेष का साङ्गोपाङ्ग चित्रण करता है, तो गीत उसके किसी एक क्षण का। पर, उस क्षण में भी महाकाव्य की सम्पूर्ण सत्ता उसी प्रकार अन्तर्हित रहती है, जिस प्रकार बूंद में पारावार

अथवा फूल में उपवन। जो सम्बन्ध बिन्दु का सिन्धु से प्रतीत होता है, वही गीत का काव्य अथवा महाकाव्य से है।

इसलिये हम यह भी देखते हैं कि महाकाव्यों की तुलना में गीतों की संख्या अपरिमेय है। केवल यही बात नहीं है कि महाकाव्यों की रचना कठिन है; समय साध्य और साधना अपेक्षित है; बल्कि, यह भी एक तथ्य है कि गीत भी अपने स्थान पर उतना ही दुर्लभ है। वास्तव में यह किसी व्यक्तिगत प्रतिभा पर ही निर्भर करता है कि उसके लिए गीत-रचना सुलभ है या काव्य की। रवीन्द्रनाथ या सूरदास ने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की; फिर भी उनकी महत्ता किसी महाकवि से कम नहीं। मीरा, विद्यापति और कबीर के केवल स्फुट पद ही प्राप्त होते है; फिर भी उनकी गणना अत्यन्त उच्च कोटि के कवियों में होती है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने महाकाव्य और काव्य भी लिखे तथा मेघदूत जैसा सरस-गीति-काव्य का भी सृजन किया। और कितने ही विद्वानों का अभिप्राय है कि केवल मेघदूत में ही वह प्राण-शक्ति है, जो कालिदास को चिर-काल के लिए अमर कर सके। हमारे सन्त-कवियों ने भी गीतों के द्वारा ही अपने हृदय की विमल भक्ति का उद्घाटन किया; भगवत् प्रेम की शीतल मन्दाकिनी प्रवाहित की। अपने नीति वैराग्यपूर्ण पदों में ही वाणी का वह अमृत भर दिया, जिसका पान कर आज भी दुःख शोक से जर्जर-पीड़ित-मानव अक्षय-शांति का लाभ करता है। सच पूछिये, तो हिन्दी साहित्य में मुख्यतः गीतों, पदों, भजनों और मुक्तकों की ही अबाध धारा निरन्तर बहती आई है और आज भी उसी प्रकार बह रही है। रीतिकाल का समस्त साहित्य ही मुक्तक काव्यों की आधार शिला पर निर्मित हुआ है। बिहारी का प्रत्येक दोहा भाव और कल्पना की दृष्टि से पूर्णरूपेण स्वच्छन्द है और अपने आप में एक स्वतन्त्र चित्र उपस्थित करता है। इसी प्रकार भूषण, मतिराम, देव या पद्माकर का प्रत्येक कवित्त स्वयं अपने आकार-प्रकार तथा गठन-बनन में पूर्ण तथा स्वतन्त्र है और गीत का समस्त वैभव विन्यास लेकर प्रस्फुटित हो रहा है। यह बात दूसरी है कि छन्द, विषय, मनोभाव तथा भाषा की दृष्टि से वह आज के गीतों से विभिन्न सा प्रतीत होता है। पर, ये वस्तुयें तो ऐसी हैं, जो साहित्य अथवा जीवन के विकास-कर्म में सदैव एक-सी रहती भी नहीं। उनमें परिवर्तन होना ही स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। किन्तु, जहां तक अभिव्यञ्जना और अन्तर की सूक्ष्म अनुभूतियों तथा मानव मन के अन्तराल में आंखमिचौनी करने वाली गहरी सूक्ष्म रेखाओं एवं जीवन के सुख-दुख, हास-रुदन, मिलन-बिरह अथवा

सौन्दर्य एवं आनन्द की असीम सत्ता और उसके बोध का सम्बन्ध है, वहां तक वह साहित्य भी उतना ही सम्पन्न विशाल और प्राणवन्त है, जितना किसी देश या काल का गौरवपूर्ण साहित्य हो सकता है।

यदि जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मानव जीवन एक काव्य है तो गीत उसमें प्रति क्षण की उठती हुई उमगों का इतिहास है। काव्य यदि सरिता का सम्पूर्ण प्रवाह है, तो गीत उसकी तरल-तरगें है। काव्य यदि वसन्त ऋतु का असीम वैभव है, तो गीत उसके एक-एक पुष्प की मुस्कान है। काव्य यदि आत्मा का संगीत है, तो गीत उसकी ध्वनि-प्रतिध्वनियां। कौन कह सकता है कि काव्य और गीत में विभेद है ?

गीतों का प्रकृति से निकट का तादात्म्य सम्बन्ध है। वे सहज ही हमारे प्राणों के तारों को झंकृत कर देते हैं। निशा रानी के एकान्त ज्योत्स्ना महल में असंख्य तारकावलियों का दीपक जिस प्रकार जगमगा उठता है, उसी प्रकार गीतों की स्वर लहरियां हमारे अन्तस्तल के निगूढ रंगभवन को अपनी किरणों से आलोकित कर देती है। जहां निसर्ग की हृदय-वीणा प्रेम और विरह के सहस्र-सहस्र छन्दों में अपनी सुरीली तान छेड़ती है, वहीं गीत की आत्मा अंगड़ाई लेकर जाग उठती है। मधुमास में कोकिल स्वर से जिस प्रकार पल्लव-पल्लव के प्राण एक अपूर्व सुख के उन्माद में पुलकित हो उठते हैं, उसी प्रकार गीत-श्री मानव-मन की रंगभूमि में उर्वशी-सी अभिनव हाव-भाव एवं साज-सज्जा से अलंकृत होकर नृत्य करती-सी प्रतीत होती है। यही कारण है कि गीतों की उत्पत्ति हमारे जन-जीवन के सहज सुकोमल वातावरण में होती है, जहां वह प्रकृति के चम्पक-हिन्दोल पर झूलती है और अपने ही शैशव से चमत्कृत होकर बाल-कुरंगी सी बन-उपवन में भयभीत डोलती-फिरती है।

पर्वत प्रान्त की विमुक्त उपत्यका के समान यदि गीत की आत्मा किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करती, तो उ.के प्राण भी निर्झर की अबाध गति के समान स्वच्छन्द बहना चाहते हैं। उसके अंग-अवयव यदि किसी षोडशी सुन्दरी के समान सुवर्ण के सांचे में ढले हुए से प्रतीत होते हैं, तो उसका भाव-लावण्य भी चम्पा कली के समान अनाघ्रात और अछूता ही रह जाता है। मर्मज्ञ हृदय उसके सौरभ से विमुग्ध होते है, तो अति-अल्पज्ञ-जन भी उसकी रस-माधुरी का पान कर परम तृप्ति का लाभ प्राप्त करते हैं। दूर से आती हुई किसी बांसुरीवाले की सुरीली तान-सी, गीत की कोई कड़ी हमारे मर्म में उसी प्रकार चुभ जाती है, जिस प्रकार अज्ञात-अपरिचित दशा में

किसी युवती के नयन-शर। एक ओर जहाँ गीत के भावों की सहज-सरलता ही उसका प्राण है, वहीं दूसरी ओर व्यंजना की कुटिलता उसका एक गुण। और गीतों की प्राणवत्ता की यही एक मुख्य कसौटी है, जिस पर हम किसी भी युग के श्रेष्ठ गीति-काव्य की भली भाँति परीक्षा कर सकते हैं।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में गीतों का जैसा क्रम चल रहा है, वह अभूत-पूर्व होते हुए भी विशेष सन्तोषप्रद नहीं है। यद्यपि हम इस बात को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते है कि प्रत्येक गीत में काव्य का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य रहता है और प्रत्येक काव्य में संगीत की प्रच्छन्न धारा भी प्रवाहित होती रहती है, फिर भी जिस पुण्य संगम पर काव्य और संगीत का महामिलन सम्भव होता है, वहां गंगा-यमुना के प्रकट प्रवाह के साथ-साथ सरस्वती की रहस्यमयी धारा भी कहीं अवश्य उपस्थित रहती है भले ही उसके अस्तित्व का ज्ञान हमें न हो। और यही सरस्वती की वीणा की वह झंकार है, जो हमें आधुनिक गीत-काव्य में उपलब्ध नहीं होती। कहीं यदि केवल काव्य की समस्त सुषमा पुंजीभूत-सी दिखाई पड़ती है, तो कहीं एकमात्र संगीत का कल-कल स्वर ही मुखरित हो रहा है। आकाश और धरित्री को एक ही आलिङ्गन पाश में आबद्ध कर लेने वाला वह क्षितिज अभी दूर है, जहाँ काव्य-कला के साथ-साथ संगीत की माधुरी श्रावण की मेघ-माला के समान दिगन्त को आप्लावित करती हुई सी उमड़-घुमड़ कर झूमे और झमाझम बरस पड़े। दक्षिण पवन का मन्द-मादक हिल्लोल तो है, पर पुष्पों का सरस-सौरभ नहीं, जिस पर चंचरीकों के पुंज-पुंज दल कुंज-कुंज में लहालोट होकर बेसुध हो जाएं।

हिन्दी-साहित्य में गीतों का वैभव-भाण्डार अक्षय है, इसमें सन्देह नहीं। शृङ्गार और भक्ति, करुण और शान्त, विशेषतः इन रसों की बाढ़ में जन-जन के प्राण आप्लावित हो रहे हैं। विद्यापति की पदावली में आज भी वह प्राण-धारा प्रतिध्वनित हो रही है, जिससे विदग्ध-हृदय आत्म-विभोर हो जाता है। मीरा के पदों में आज भी वह तन्मयता देखी जाती है, जो जीवन के तारों को क्षण भर के लिए आकुल-व्याकुल कर देती है। कबीर के निर्गुण पदों में प्रेमी-हृदय का वह स्वर आज भी एक अनिर्वचनीय भावुकता में पुकार उठता है, जिसे सुनकर मन के समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न होकर शिथिल पड़ने लगते हैं। भारतेन्दु के पद भी प्रणय और विरह का अपूर्व चित्र उपस्थित करते हैं, जो आज भी नवीन-से प्रतीत होते हैं।

हमारे साहित्य के उद्यान में गीतों के जितने पुष्प है, वे तो हैं ही; पर, उनसे कहीं अधिक विशाल भाण्डार तो उन गीतों का है, जो जन-मन के कण्ठ से सहज ही प्रस्फुटित होकर न जाने जीवन को किस मधुमयी वेला में पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुए। वनकुसुम के समान वे गीत किसी निर्जन कान्तार में अपनी कोमल सुरभि-छटा को नहीं बिखेरते; बल्कि, ग्राम्य-जीवन की निर्मल पुष्करिणी में नवजात जलजात के समान वे लोल लहरियों से निरन्तर क्रीड़ा करते है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त ऐसी कोई भी घड़ी नहीं है, जहां वे हमारा साथ न देते हों। क्या विवाह और क्या यज्ञोपवीत-संस्कार, क्या मुण्डन और क्या अन्न-प्राशनन? लोक-जीवन का ऐसा कोई भी पर्व नहीं, जो गीतो के कल-कल स्वर से मुखरित न होता हो। एक मिथिला-प्रान्त को ही लीजिए, तो उसमें अनेक प्रकार के लोक-गीतों का प्रचलन, अनेक शैलियों और अनेक स्वर-लिपियों में आप प्रस्तुत पाएंगे। कहीं सोहर है, तो कहीं बटगमनी; कभी झूमर है, तो कभी मलार। कहीं बेहुला का गीत है, तो कहीं जट-जटिन का। होली, बारहमासा, नचारी, ब्रह्म बेताल, काली, सल्हेश, बिरहा, चैत, छठ, सामा आदि न जाने कितने प्रकार और भेद से लोक-गीतों की यह सदा-नीरा-पयस्विनी तरंगित होकर जन-जीवन को सरस करती है। फिर आधुनिक युग के ग्राम-गीतों में बिदेसिया, जालिमसिंह आदि कथा-प्रधान गीति-काव्यों का भी कम महत्व-पूर्ण स्थान नहीं है।

इस प्रकार वर्त्तमान हिन्दी-काव्य की पृष्ठ-भूमि में जहां एक ओर सरस-ग्राम-गीतों से लेकर सन्तों की वाणी, पद, भजन, कीर्त्तन आदि का प्रचार है, वहां विशुद्ध कल्पना-लोक से निःसृत होकर हवा की तरंगों से अठखेलियां करती हुई सिनेमा की वे धुनें भी घर-घर को गुंजित करती हुई चली आ रही है, जिनकी मधुर हिलोर से जवानी की नई उमंगें यदि फिसल जाती हैं, तो क्या हुआ? सुकुमार बच्चे और परिपक्व बूढ़े लोग भी आहत होकर उसके स्वर में अपना कण्ठ मिला देते है। इन गीतों में साहित्य चमत्कार भले ही न हो, पर मर्म की अतल गुहा को सीधे स्पर्श कर लेने की अजेय शक्ति से भला कौन इनकार कर सकता है?

छायालोक की इस विचित्र लीलाभूमि से निकलते ही गीतों की एक और विशाल धारा भी हमें दृष्टिगोचर होती है, जो कि किसी महानदी के समान अपनी ही मन्द-मधुर गति में ताल-ताल पर थिरकती हुई न जाने किस अनादि काल से बहती आ रही है। और यही है हमारी संगीत

कला की वह विराट् प्रदर्शिनी, जो साहित्य और काव्य से बिलकुल तटस्थ एवं अप्रभावित, अपना उपादान स्वयं ही प्रस्तुत करती है और उसका उपभोग भी आप ही करती है। संगीत के इस रंगमंच पर हमारे देश के बड़े से बड़े कलाकार, गायक, वादक, नर्त्तक आदि अवत्तीर्ण होते चले जा रहे हैं; पर हमारे साहित्य के साथ जिनका कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि वे स्वयं तो क्या हमारे काव्य-जगत् से निकट-संपर्क स्थापित करेंगे, हम भी उनको किसी प्रकार प्रभावित नहीं कर पाते हैं। ये गुणी-गायक आज भी अपने उन्हीं पुराने खयाल, ठुमरी, ठप्पों और ध्रुवपद के गीतों पर ताल और स्वर दिए जा रहे हैं, जो किसी युग में मियाँ तानसेन, बैजू बावरा, सिकन्दर आदि महान् संगीतज्ञों के द्वारा रचे गए थे। इसमें सन्देह नहीं कि वे गीत स्वयं ऐसे कलाकारों के द्वारा निर्मित हुए थे, जो संगीत-कला के पारंगत विद्वान् और विशेषज्ञ थे। इसलिए, उन गीतों में संगीत के लय, ताल और गीति का सुन्दर सामञ्जस्य होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी था। और इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि उनमें कहीं-कहीं अपूर्व का काव्य-रस का चमत्कार भी देखा जाता है। मधुर भावोद्रेक के साथ-साथ मनोहर कल्पनाएँ भी प्रस्फुटित हुई हैं। पर, संगीत-शास्त्र के परम्परागत गीतों का अधिकांश समुदाय काव्यगत भावों से बिलकुल उपेक्षित-सा प्रतीत होता है। उनका संस्कार केवल गायक-गुणियों के सकीर्ण घरानों के वायु-मण्डल तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उनमें छन्दों की शृंखला भी इस प्रकार भ्रष्ट है कि स्वतंत्र रूप से न तो कोई उन्हें गा ही सकता है और न उनका साहित्यिक आनन्द ही ले सकता है। मृदङ्ग की मन्द-मन्द तरङ्ग अथवा तबले के धिन-धिन ताल पर ही वे अपनी संगीतात्मक ऋजुता को प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा, अनभ्यस्त कानों के लिए तो वह निरर्थक ता ना-री री के सिवाय जो कुछ भी शेष बचता है, वह या तो कला-हीनों के लिए इतना रस-विशेष होता है कि एकमात्र तन्द्रा का उपकरण बन जाता है अथवा कौतुक-प्रिय सुजनों के लिए हास्य-विनोद का साधन।

यही वह सरस्वती है, जो आज हमारे साहित्य समय से बिलकुल ही अन्तर्ध्यान-सी मालूम पड़ती है। एक समय था, जब विद्यापति के पदों को अपने प्रान्त के गुणी-गायक ही नहीं, सुदूर-बंगभूमि के महाप्रभु चैतन्य भी अपने कीर्त्तनों में उपयोग करते थे और स्वयं गाते-गाते मूर्च्छित भी हो जाते थे। सूरदास आदि अष्टछाप के सभी कवि पद रचते थे और वे न केवल भगवान् की झाँकी के अवसर पर ही गाए जाते थे, बल्कि उसकी तान पर

मुग्ध होकर मियाँ तानसेन भी सिर धुनते लगने थे। परन्तु, धीरे-धीरे संगीत और साहित्य का यह सम्बन्ध विच्छिन्न होने लगा और होते-होते यहां तक पहुँच गया कि अब तो दोनो की दो पृथक्-पृथक् दिशाएं बन गई है जहाँ ऐसा कोई भी लक्षण नहीं दिखाई पड़ता कि हमारे काव्य की नवीन प्राणधारा संगीत-कला विशारदों के कण्ठ से फूट कर सामाजिक जीवन को रस से तन्मय कर दे। प्रत्युत इसके विपरीत सत्य तो यह है कि संगीतज्ञ अपनी उसी उच्छिष्ट निधि को सँजोए, गाए हुए, गीतों को दुहराते, सूखी हुई धारा में कूदते-फांदते चले जा रहे है। उन्हें इस बात की न तो चिन्ता है और न अवकाश कि हमारे गीतकार, शब्दकार, कवि, भावुक आदि किस अनुभूति के सागर में गोते लगाकर कौन से नए-नए मोती ला रहे हैं और भारती का भव्य शृंगार कर रहे हैं। उन्हें हमारे साहित्य का ज्ञान भी अत्यल्प है और न प्राप्त करने की अभिरुचि है। जहां केवल ता ना-रीरी से सारा काम आसानी से निकाला जा सकता है, वहां विशेष माथापच्ची करने की आवश्यकता ही क्या है ?

पर हमारे देश का संगीत विशाल है। थोड़े से ही भेद से यह अटक से कटक और हिमालय से कन्याकुमारी तक की समस्त वसुन्धरा को एक सूत्र में बाँध रहा है। राजनीति के प्रपञ्च से तो यह अछूता ही है; सम्प्रदाय, जाति आदि सङ्कीर्ण भेद-भावों से भी यह बहुत ऊपर है। जहाँ स्वर का माधुर्य पूर्णिमा की चन्द्र-ज्योत्सना के समान रिमझिम-रिमझिम बरसने लगता है, वहां क्या दक्षिण भारत और क्या उत्तरापथ ? क्या हिन्दू और क्या मुसलमान ? क्या हिन्दी और क्या उर्दू ? क्या बङ्गाली और क्या बिहारी ? क्या गुजराती और क्या पंजाबी ? इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का भेद-भाव भी सर्वथा निर्मूल हो जाता है और रांची से लेकर करांची तक का देश एक ही भावावेश में मन्त्र-मुग्ध होकर झूमने लगता है। जब तक उस महा-संगीत के प्राणों से हमारे साहित्य का मेल नहीं खाता, जब तक उस 'सरिगमपधनि' की कल-कल ध्वनि-माधुरी से हमारे गीतों का कण्ठ आप्लावित नहीं हो जाता, और जब तक भारत-भारती की उस वीणा से हमारे शब्दों का मिलन नहीं होता, तब तक गीत-रचना एक पर्वत-प्रान्त पर पड़ी हुई वारिधारा के समान मधुर होने पर भी व्यर्थ है।

यहाँ पर हम रेकार्ड अथवा रेडियो द्वारा प्रसारित गीतों पर भी विचार कर सकते हैं। पर, अभी एक तो वह कला हमारे देश में इतनी

विकसित नहीं हुई है तथा उसके व्यापक प्रचार या प्रभाव का अधिकांश भविष्य के गर्भ में ही निहित है; और दूसरी बात यह भी है कि सिनेमा की तरह इन दोनों क्षेत्रों का वातावरण भी इतना सङ्कीर्ण है कि उनसे तत्काल कोई विशेष आशा भी नहीं है। किन्तु, इन युग-आवश्यक यन्त्रों के क्षेत्र में भी सफल क्रान्ति की अपेक्षा है, जो साहित्य के स्तर को ऊंचा उठाने का जितना ही दम्भ करते है, उतना ही उसे अधःपतित करने का कलङ्क-भार ढोते हैं।

हिन्दी में काव्य के जिस अंग को हम आधुनिक गीत की संज्ञा दे सकते है, उसकी भी सब से पहली झलक हमें छायावाद के प्रवर्त्तक कवि 'प्रसाद' में ही मिलती है। 'बीती विभावरी, जाग री!' तथा 'तुम कनक-किरण के अन्तराल से लुक-छिप कर चलती हो क्यों?' आदि गीतों में हमें आज के गीतों का भाव-सौन्दर्य अपनी अपूर्व मादकता में प्रकट होता है। 'निराला' की 'गीतिका' के अधिकांश गीत एक ओर जहां नाद के अद्भुत गाम्भीर्य को सहज-सुकुमार छन्दों में तरङ्गित करते है, वहीं दूसरी ओर हृदय की मर्मस्पर्शी वेदनाओं के सजीव-साकार रूप का भी उद्घाटन कर देते हैं। पर, 'निराला' के गीत भी सामासिक पदों से अत्यन्त बोझिल, गहन-दार्शनिक विचारों से पूर्णतः दुर्वह और शास्त्रीय संगीत की प्रदर्भ जटिलता से एकान्त ऊहा-पोह में पड़ कर जब जनप्रिय न हो सके तभी 'नए पत्ते' अथवा 'अर्चना' में कवि को पुनः एक बार संगीत और साहित्य की भावभूमि में किसी नए क्षितिज का अनुसन्धान करना आवश्यक जान पड़ा। पन्त के गीत आज भी अपनी उसी पुरातन प्राकृतिक सुषमा से रङ्गीन है। ये गीत यद्यपि संगीत की रस-धारा एवं सरल-कोमल शब्दावलियों की झङ्कार से ओत-प्रोत हैं; तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उसका कोई सम्बादी स्वर ही कहीं खो गया है। इसके बाद, जिन गीतों के राजकुमारों का दल अपूर्व भाव-भङ्गिमा के साथ साहित्य के क्षेत्र में अपना निराला राग अलापता हुआ आता है, उसके मर्म में वेदना तो है: पर, जीवन की सच्ची और गहरी अनुभूतियों के अभाव के कारण वह अरण्य-रोदन सा प्रतीत होता है। किसी उधार खाए व्यक्ति के समान उसकी करुण पुकार इतनी विवश और दयनीय सी प्रतीत होती है कि कब उसका आकस्मिक अन्त हो जा सकता है, इसका कोई निश्चय नहीं। इन तरुण स्वरों में अन्तर की आकुल पुकार की अपेक्षा बाह्य संवेदनाओं के दबाव एवं अन्ध-अनुकरण की मात्रा ही अधिक परिलक्षित हो रही है। फिर भी वे एक नया स्वर दे

रहे हैं और एक नए क्षितिज की ओर संकेत कर रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनकी भाषा में निखार है, भावों में अर्थ-गौरव है, व्यंजना में ओज और स्फूर्ति है तथा पद-पद से रस का संचार बोलता है। निश्चय ही हमारे भविष्यत् गीतोद्यान के ये सचेतन और जाग्रत भ्रमर हैं, जिनके अविराम गुंजन से निद्रित कलियों की आँखें शीघ्र ही खुलने वाली हैं। आज इन पर दूना भार है। ये स्वयं गीतों की रचना भी करते हैं और उन्हें स्वर में बांध कर जन-जन के कर्ण-गह्वरों से अन्तर में उतारने की कोशिश भी करते हैं।

पोस्ट बौक्स, १०७
पटना-१

डा० आरसीप्रसाद सिंह

साहित्यिक अनुप्रेरणा और प्रगतिवाद

प्रगतिवाद के विरुद्ध जितने मत-मतांतर हैं उनमें सबसे आपत्तिजनक वह मतवाद है जिसमें अनुप्रेरणा की स्वतः स्फूर्तता की आड़ लेकर यह कहा जाता है कि किसी प्रकार से अनुप्रेरणा में हस्तक्षेप करना उसे गन्दला करना है, और उससे रचना की साहित्यिकता में अन्तर पड़ता है। कहना न होगा कि यह वक्तव्य आपात दृष्टि से ठीक ज्ञात होता है।

सच तो है, यदि अनुप्रेरणा नहीं है, तो फिर साहित्य या कला का सृजन कैसा ? किसी बात को बौद्धिक तरीके से कह देना प्रचार कार्य या सफल निबन्ध रचना हो सकती है, पर साहित्य या कला के सृजन की प्रक्रिया तो कुछ और ही है। साहित्य और कला के सृजन की प्रक्रिया की तुलना स्वप्न के सृजन से की गई है। डाक्टर आर. एफ. राटे ने इस प्रक्रिया का जो स्पष्टीकरण किया है वह इस सम्बन्ध में बहुत उल्लेखनीय है। उनका कहना है—'स्वप्नों के सृजन में मौलिकता चमत्कारिक है, और कला तो उसी वस्तु की बनी होती है, जिससे स्वप्न बने होते हैं। कला के सृजन में अवचेतनागत गठनात्मक प्रक्रिया (Subconscious integrating process) उसी प्रकार से कार्यशील रहती है जिस प्रकार से टाइपराइटिंग के कार्य में हमारा अवचेतनात्मक मन टाइपराइटर की चाभियों की विशेष स्थितियों को याद

रखता है, और जिन अक्षरों की जरूरत होती है, उंगलियां उन्हीं पर दौड़ जाती है।'

शायद कुछ लोगों को टाइपराइटिंग कार्य के साथ कला सृजन की प्रक्रिया की तुलना किया जाना अखरे, पर यदि टाइपराइटर के स्थान पर हम सितार शब्द रख दें तो कदाचित यह उतनी अखरने वाली बात नहीं रहेगी। अब इसी उपमा का कुछ और अनुसरण किया जाय। क्या सितार बजाने वाला, या यों कहिए कि उसकी अनुप्रेरणा बिलकुल स्वतंत्र है ? उस पर कोई रोक टोक नहीं है ? क्या वह जिस प्रकार चाहे और जिस पर्दे को चाहे छू सकता है ? संगीत के सम्बन्ध में कुछ भी जानने वाला व्यक्ति फौरन कह उठेगा कि नहीं, सितारवादक को निरंकुश स्वतंत्रता नहीं है। टाइपिस्ट के सामने एक मजमून होता है, जिसे वह टाइप करता है। उसकी उंगलियों को इस अर्थ में कोई भी स्वतंत्रता नहीं है। यहां तक कि जब उसके सामने कोई मजमून नहीं है, और वह अपने मन से किसी लेख, कविता आदि की रचना करता जा रहा है, उस हालत में भी उसकी उंगलियां स्वतंत्र नहीं हैं, बल्कि लेखक या कवि के मन में मौजूद लेख या कविता की अनुगामिनी हैं।

इसी प्रकार सितारवादक के मन में एक सुर है या उसका अलाप है, और उसकी उंगलियां उसी के आधीन है। सितारवादक ने वर्षों के प्रशिक्षण और अनुशासन से उस सुर का ज्ञान प्राप्त किया है। वह अलाप में उस सुर के अन्दर ही कुछ स्वतंत्रता ले सकता है, पर उसके बाहर नहीं जा सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया है कि सितारवादक की स्वतंत्रता एक प्रशिक्षण के अनुसार है, और उसी के दायरे में उसे स्वतंत्रता प्राप्त है। किसी भी हालत में सितारवादक स्वतंत्रता के नाम पर उस सुर, ट्यून या सिंफनी के बाहर नहीं जा सकता, कोई कलाकार यह नहीं कह सकता कि उसकी अनुप्रेरणा उसे बिलकुल भिन्न दिशा में ले जा रही है, इसलिए वह मनमाने ढंग से पर्दों पर हाथ फेरेगा, चाहे उसके कारण सुर कट जाय या ताल खण्डित हो जाय।

यह कहा जा सकता है कि सितारवादक सितार के पर्दों के सम्बन्ध में जितनी स्वतंत्रता ले सकता है, या नहीं ले सकता है, उसके साथ साहित्यकार की अनुप्रेरणा की तुलना न करके उसकी कला के वाहन, भाषा या छन्द के साथ की जा सकती है, क्योंकि सितारवादक के लिए सितार उसकी

कला का वाहन है। बात ठीक है, पर इस क्षेत्र में भी एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि (अनुप्रेरणा की बात हम बाद को देखेंगे) कला के वाहन के साथ कलाकार मनमाने ढंग की स्वतंत्रता नहीं ले सकता है। यदि वह भाषा, सरगम या तूलिका, रंग आदि की सहायता लेता है, तो उसे एक बड़ी हद तक उनका नियंत्रण मानना पड़ता है। यदि कलाकार क्रांतिकारी है, और नये प्रयोग करता है, तो भी वह अपनी कला के वाहन के साथ बहुत स्वतंत्रता नहीं ले सकता—दूध का अर्थ दूध ही रहेगा, हां, वह उसे नई व्यंजना अवश्य दे सकता है। इसी प्रकार संगीत में भी वह अपने माध्यम और परम्परा से बिलकुल अलग नहीं हो सकता। मैं यहां किसी भी तरह रूढ़िवाद या परम्परावाद को बल नहीं पहुंचाना चाहता, मैं तो केवल कुछ सुपरिचित तथ्यों की ओर दृष्टि आकृष्ट कर रहा हूं। मैं यह जानता हूं कि परम्परा को तोड़ कर आगे सोचने वाले, आविष्कार करने वाले या बढ़ने वाले की ही बदौलत मनुष्य जाति की उत्तरोत्तर प्रगति सम्भव हुई है। पर यहां तो इस समय केवल वाहन की बात हो रही है।

यदि वाहन को छोड़ भी दिया जाय, तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि क्या अनुप्रेरणा बिलकुल अनियंत्रित रूप से आ सकती है! क्या अनुप्रेरणा कोई ऐसा रहस्यमय अस्तित्व है, जो लेखक, कवि या कलाकार के जीवन या विचार-धारा से सम्पूर्णरूप से स्वतंत्र है? कोई यह अस्वीकार नहीं करता कि कलासृजन की पृष्ट-भूमि में अवचेतनागत गठनात्मक प्रक्रिया कार्यशील रहती है, पर क्या मनोविज्ञान यह बताता है कि हमारा अन्तस्तल या मग्नचेतन हमारे विचारों या कार्यकलाप या पारिपार्श्विक अवस्था से बिलकुल स्वतंत्र है? इसके विपरीत तो मनोविज्ञान यह कहता है कि हमारा मग्नचेतन या अन्तस्तल हमारे जीवन के उस हिस्से से सम्बद्ध है, जिसे हम सज्ञान रूप से लोगों के सामने रखते हैं। फिर अनुप्रेरणा के नाम पर निरंकुश स्वतंत्रता की बात कहां से आती है? हमारी अवदमित इच्छाएं अतृप्त आकांक्षाएं तथा कभी-कभी भय और शंका, मग्नचेतन या अवचेतन में आश्रय ले लेती है और उन्हीं से स्वप्न और कला उत्पन्न होती है। जिस प्रकार यह कहना बिलकुल अवैज्ञानिक होगा कि हमारे अवचेतन से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि अनुप्रेरणा चूंकि एक अवचेतनात्मक गठनात्मक प्रक्रिया की उपज है, इसलिए हमारे सचेतन विचार-जगत से उसका कोई सम्बन्ध या सरोकार नहीं है, और वह

उससे किसी प्रकार परिचालित नहीं होती।

कई बार अनुप्रेरणा बहुत अजीब रूप धारण करती है। अंग्रेज साहित्यकार ब्लेक की यह धारणा थी कि वह जो कुछ भी लिखता था, वह उसके परलोकगत भाई के बोल कर लिखाने पर लिखता था। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर यह समझते थे कि वे जो कुछ लिख रहे हैं, वह उनमें स्वतः स्फूर्त होता है। रवीन्द्र-रचनावली-चतुर्थखण्ड में चित्रा की सूचना देते हुए उन्होंने लिखा था—'चित्रा काव्य में मैंने कहा था कि मेरे अन्तर्यामी मुझ से जो कुछ कहलाना चाहते है, मैं उसी को कहता हूं, पर असल में चित्रा में मेरी जो उपलब्धियां प्रकाश में आई थीं, वह दूसरी श्रेणी की थी। मैंने यह अनुभव किया था कि युग नक्षत्रों की तरह मेरी एक युग्म सत्ता है, वह मेरे व्यक्तित्व के ही अन्तर्गत है और उसका आकर्षण प्रबल है। मेरे जरिए उसी का संकल्प मेरे सुख-दुःख और मेरे भलाई-बुराई में पूर्ण हो रहा है।'

जर्मन दार्शनिक निट्शे और विद्वान रिल्फे का भी यह कहना था कि वे तो उच्च शक्तियों के मुख पात्र और माध्यम के रूप में हैं। महात्मा गांधी भी इसी प्रकार का दावा किया करते थे और उन्हें समय-समय पर उच्च शक्ति से आदेश मिला करते थे। पर उच्च शक्ति का यह आदेश किसी नियम के अन्तर्गत नहीं था। कवि ए० ई० हाउसमैन का कहना था कि जिस समय वे टहलने के लिए जाते थे, उस समय उन्हें कविताओं की अनुप्रेरणा मिलती थी। उनका कहना था कि ऐसे मौके पर मेरे मन में बिलकुल आकस्मिक तथा अप्रत्याशित भावुकता के साथ कविता की एक या दो पंक्ति, और कभी-कभी एक ही साथ एक स्टेंजा या कण्डिका आ जाता था, और उस के साथ ही, उस कविता के सम्बन्ध में एक अस्पष्ट धारणा आ जाती थी, जिसका वह अंश बनने वाली है। इसके बाद घण्टे दो घण्टे का झंझा पड़ जाता था और फिर झरना बह निकलता था। जब मैं घर पहुंचता था, तब मैं उन पंक्तियों को लिख लेता था, और बीच में खाली छोड़ देता था।'

हाउसमैन ने जिस तरह से अपने अनुप्रेरणा का ब्यौरा लिखा है, वैसा किसी ने नहीं लिखा। एक विशेष कविता के बारे में लिखते हुए उन्होंने यह दिखलाया था कि अनुप्रेरणा के बिना लिखना, उनके लिए किस प्रकार विडम्बना थी। उन्होंने लिखा कि उस कविता के दो स्टेंजा उनके दिमाग में आए। 'थोड़े ऊहापोह के बाद तीसरा स्टेंजा आ गया। एक और स्टेंजे की जरूरत थी, इसलिए मैं बैठ गया, और उसकी रचना करने लगा। बड़ा

परिश्रम लगा। मैंने इसे तेरह बार लिखा, और एक साल के पहले यह ठीक नहीं लिखा जा सका, और जब वह ठीक हुआ, तब भी वह ठीक नहीं हुआ।' यह थी कवि हाउसमैन की अभिज्ञता।

रवीन्द्रनाथ ने अपनी स्वतः स्फूर्त अन्तःप्रेरणा या एक उच्चतम शक्ति के माध्यम की ओर से लिखने का इंगित किया है। उन्होंने लिखा है कि लार्ड की तरह उच्चतर शक्ति उनमें स्वयं गीत प्रस्फुटित करती है। वे कहते हैं—

श्रावणेर धारार मत पडुक झरे पडुक झरे।
तोमारइ सुरटि आमार मुखेर परे बुकेर परे।।

यानी श्रावण की धारा की तरह तुम्हारा सुर मेरे मुख पर और मेरे हृदय पर झरता रहे-झरता रहे। हम यहाँ पर उस कविता का उल्लेख नहीं कर रहे है, जिसमें वे एक ईश्वरवादी के ढंग पर कहते हैं, कि तुम मुझे जैसा रखते हो, वैसा रहता हूं इत्यादि केवल रवीन्द्रनाथ की तरह कट्टर अध्यात्मवादी ही नहीं, दूसरे लोग भी बराबर यह दावा करते है कि वे रचना करने में स्वतंत्र नहीं हैं। सब ऐसा तो नहीं कहते कि कोई उच्चतर शक्ति कलम पकड़कर उनसे लिखवाती रहती है, पर यह तो सभी कहते हैं कि उनकी स्वतंत्रता केवल दृश्यमान है, और वे यह नहीं जानते कि आगे वे क्या लिखने वाले हैं, इत्यादि।

बर्नार्ड शा ने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं—जिस समय मैं कोई नाटक लिखता हूं, तो मैं किसी भी पृष्ठ के सम्बन्ध में न तो कोई संकल्प कर पाता हूं, और न मैं उसे पहले से देख पाता हूं। नाटक स्वयं अपने आप लिख जाता है। हाँ, ऐसा तो होता है कि मैं प्रत्येक वाक्य पर तर्क करूं और वह अन्त तक वही करता है, जो मैं कहना चाहता हूं। पर वह मुझ तक क्यों और कैसे आता है, यह मैं नहीं जानता। हमेशा परिणाम से यह ज्ञात होता है कि पृष्ठभूमि में ऐसा कुछ रहा है, जिसके सम्बन्ध में मैं सचेत नहीं था। फिर भी ऐसा होता है कि सारी रचना का वास्तविक उद्देश्य प्रमाणित होता ह। मै यह नहीं समझता कि मेरी पुस्तकों और नाटकों के लिखने में मेरा हिस्सा एक मुन्शी से किसी प्रकार ज्यादा है।'

कहना न होगा कि इस सम्बन्ध में बर्नार्डशा का वक्तव्य रवीन्द्रनाथ से किसी प्रकार अलग है। कुछ अर्थों में तो यह कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ का वक्तव्य स्पष्टतर है, क्योंकि वे पृष्ठभूमि में रहने वाले कुछ का स्पष्टीकरण करके उसे ईश्वर रूप में बता देते हैं। अतएव गहराई के

साथ देखने पर यह ज्ञात होगा कि यह किसी प्रकार स्पष्टीकरण नहीं है, बल्कि अस्पष्टता से बचने के लिए एक ऐसी सर्वमान्य अस्पष्टता की सहायता ली जाती है, जिसके नाम लेते ही कोई प्रश्न पूछना नहीं रह जाता। बात यह है कि सभ्यता के आदि काल से इस सम्बन्ध में इतने प्रश्न पूछे गए है और उनके उत्तर में इतनी अस्पष्ट बातें कहीं गई है कि प्रश्नकर्ता भी शरमा गए है, और आगे पूछने का साहस नहीं करते।

यहां पर हम ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद के बीच में चलने वाले वाद-विवाद पर कोई अन्तिम निर्णय देने नहीं जा रहे हैं। हमारे वर्तमान विषय के लिए इतना ही यथेष्ट है कि हम इस बात को मानलें कि कला की सृष्टि एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके प्रभाव में आकर कलाकार यह अनुभव करता है कि वह अपने आप में नहीं है। अनुप्रेरणा का यही रूप है। सच्चा कहा जाय, तो सभी सृजन कार्य एक अप्रत्याशित ढग से चलता है। वह प्रक्रिया बौद्धिक भी है, और यानि उससे परे भी है नहीं भी है।

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि अनुप्रेरणा या अनुप्रेरित अवस्था क्या है? इतना तो निर्विवाद है कि इस अवस्था में पहुंचे बिना किसी कलात्मक कृति की सृष्टि नहीं हो सकती। यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं, पर जब इस अवस्था के नाम पर कवि या कलाकार यह दावा करता है कि अनुप्रेरित अवस्था में वह जिस कृति की रचना करता है, उस पर समाज तथा सदाचार के कोई नियम लागू न किए जाएं, और वह सब नियमों से ऊपर है, तभी झगड़ा उठ खड़ा होता है। इसीलिए हमें अनुप्रेरणा और अनुप्रेरित अवस्था का कुछ विश्लेषण करना पड़ेगा।

जो कुछ पहले कहा जा चुका है, उससे यह तो स्पष्ट हो चुका है कि अनुप्रेरित अवस्था में कलाकार अपने वश में नहीं रहता। हम पहले भी इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कई उदाहरण दे चुके है, पर यहां पर एक और उद्धरण देंगे, जिससे अनुप्रेरणा की प्रक्रिया पर भी रोशनी पड़े। उनके 'चित्रा' नामक ग्रन्थ में अन्तर्यामी और 'जीवन-देवता' नाम से दो कविताएं है, जिनमें से यह उदाहरण दिया जा रहा है—

ए की कौतुक नित्य नूतन,
आगो कौतुकमयी,
आमि जाहा किछु चाहि बोलिबारे,
कोलिये दितेछ कई ?

अन्तर माझे बोलि अहरह
मुख हते तुमि भाषा केढ़े लह
मोर कथा लये तुमि कथा कह
मिशाये आपन सुरे ।

'हे कौतुकमयी, तू मेरे साथ नित्य क्या नया कौतुक किया करती है ? मैं जो कुछ कहना चाहता हूं उसे तू कहने कहां देती है ? तू मेरे अन्तर में दिन रात बैठकर मुंह से भाषा छीन लेती है, मेरी बात लेकर तू अपने सुर में मिलाकर अपनी बात कहती है । मै क्या कहना चाहता हूं, सब भूल जाता हूं, तुम जो कुछ कहलाती हो वही मै कहता हूं, संगीत के स्रोत में किनारा नहीं मिलता और मै कहीं दूर बह जाता हूं ।

आखिर यह कौतुकमयी कौन है ? इस पर स्वयं कवीन्द्र जो कुछ रोशनी डालते है, वह यों है—

'सुदीर्घकाल तक कविता रचना की अपनी परिपाटी की ओर जब मैं दृष्टि डालता हूं, तब मै यह स्पष्ट देखता हूं कि यह एक ऐसा मामला है, जिस पर मेरा कोई वश नहीं था । जब मैं लिखता था, तब मैं यह समझता था कि मैं ही लिख रहा था, पर आज जानता हूं कि वह बात सत्य नहीं है, क्योंकि उन स्फुट कविताओं में मेरे समग्र काव्य ग्रन्थों का तात्पर्य सम्पूर्ण नहीं हुआ था । वह तात्पर्य क्या है यह भी मैं पहले नहीं जानता था । इस प्रकार परिणाम न जानते हुए भी मैं एक के बाद दूसरी कविता जोड़ता जा रहा था । मैंने उनमें से एक-एक में जिस क्षुद्र अर्थ की कल्पना की थी, आज मैं समग्र की सहायता से निश्चय रूप में समझ चुका हूं कि उस अर्थ को पार करके एक अविच्छिन्न तात्पर्य उन सबके अन्दर से प्रवाहित होता आ रहा है । इसलिए बहुत दिनों के बाद मैने वह कविता लिखी थी 'ए की कौतुक नित्य नूतन' इत्यादि । जब मैं कोई चीज लिखता था तब मैं उसी को परिणाम समझता था; और मैं ही उसे लिख रहा हूं, इस सम्बन्ध में भी मुझे सन्देह नहीं हुआ; पर आज जानता हूं कि वह सारा लिखना उपलक्ष मात्र था, और उनके रचयिताओं के बीच में एक ऐसे रचयिता मौजूद है, जिनके सामने वह भविष्य तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान है ।'

इसी ढंग पर लिखते हुए वे और भी लिखते हैं—'क्या केवल कविता रचना में ही ऐसा होता था कि लिखने के कोई मालिक आकर कवि पर आक्रमण करके उसकी लेखनी चलाते थे ? ऐसा नहीं । इसके साथ ही मैने यह भी देखा है कि मानव-जीवन जैसा गठित होता जा रहा है, उसका सारा दुख-सुख

योग-वियोग तथा विच्छिन्नता का कोई एक अखण्ड तात्पर्य के सूत्र में गूंथते जा रहे है। यह जो कवि जो मेरी सारी भलाई-बुराई, सारा अनुकूल और प्रतिकूल लेकर मेरे जीवन की रचना कर रहे हैं, उन्हीं को मैंनें अपने काव्य में जीवन-देवता नाम दिया है। मेरी अन्तर्निहित जो सृजन-शक्ति मेरे जीवन के सारे सुख-दुख को तथा उसकी सारी घटनाओं को ऐक्य के सूत्र में बाँध रही है, उसे तात्पर्य दान कर रही है, मेरे रूप-रूपान्तर, जन्म-जन्मान्तर को ऐक्य के सूत्र में बांध रही है, जिसके माध्यम से विश्व चराचर के साथ ऐक्य अनुभव कर रही है, उसी को मैने जीवन-देवता नाम देकर लिखा था।'

ऊपर जो उद्धरण दिए गए है, उनसे अनुप्रेरणा की प्रकृति पकड़ में नहीं आई। जो रहस्य था, वह रहस्य ही रह गया। नीचे हम एक और उद्धरण दे रहे है, जिससे शायद कुछ अधिक रोशनी पड़ेगी। वे लिखते है—

'मुझे अपने बचपन की याद पड़ती है, पर वह इतनी अपरिपुष्ट है कि अच्छी तरह से पकड़ में नहीं आती। अच्छी तरह याद है कि किसी-किसी दिन प्रातःकाल बिना किसी कारण के अकस्मात मन के अन्दर जीवनानन्द जाग उठता था। तब पृथ्वी की चारों दिशाओं में रहस्य-ही-रहस्य थे। अपने देहाती घर में चीरे हुए बंश-खण्ड से मै नित्य मिट्टी खोदा करता था, और सोचता था कि न मालूम क्या रहस्य आविष्कृत होगा? पृथ्वी का सारा रूप रस, गन्ध, सारा हिलना, डुलना, घर के आंगन के नारियल के पेड़, तालाब के किनारे का वट वृक्ष, पानी पर पड़ती हुई छाया, और रोशनी, रास्ते की आवाज, चील का बोलना, सवेरे के समय की फुलवारी की सुगन्ध —ये सब मिलकर एक बृहत् अर्द्ध-परिचित प्राणी विविध मूर्तियों में मुझे अपनी संगत देता था।'

इससे अधिक स्पष्टता के साथ उन्होंने अपनी अनुप्रेरणा के उत्स की न तो कोई परिभाषा की है, और न ही इसकी आशा करनी चाहिए। फिर भी जो कुछ उन्होंने कहा है, उससे यह तो स्पष्ट है कि जिसे उन्होंने अन्तर्यामी या जीवन-देवता के नाम से अभिहित किया है, उसको वे कितना भी रहस्यमय बनाना चाहते हो, उसका प्रकाश नारियल का पेड़, फुलवारी की सुगन्ध आदि अत्यन्त ऐहिक और पार्थिक अस्तित्वों के जरिए से होता था। हां, इतना कहा जा सकता है कि कवीन्द्र उनसे परे किसी अस्तित्व को देखते थे।

हम पहले ही अन्य कलाकारों और कवियों की अनुप्रेरणा की सम्बन्ध

में कुछ बता चुके है। यहां कुछ-कुछ और कवियों की अनुप्रेरणा का वर्णन किया जाता है। अंग्रेजी के कवि कीट्स अवचेतन की क्रियाशीलता के महत्व में विश्वास करते हैं। वे यह विश्वास करते थे, कि शेक्सपियर की आत्मा उन्हें अनुप्रेरित करती है। कहते हैं कि वे पहले जिस बात को बिना समझे बूझे मनमाने ढंग से करते थे, बाद को उस किए हुए का अनेक प्रकार से समर्थन होता था।

उर्दू के महाकवि गालिब का कहना था—

आते हैं गैब से ये मजामी ख्याल में,
गालिब सरीरे खामा नवाये सरोश है।

यानी विचार में ये बातें नेपथ्य (गैब) से आती हैं, कलम की आवाज में फरिश्ते की रागिनी है। इसी को उन्होंने अपने एक फारसी शेर में यों अदा किया है—

मा न बुदेम ब-ई मर्तबा राजी गालिब।
शेर खुद ख्वाहिशे आंकर्द कि गर्दद फने मा।

यानि हे गालिब, हम तो इस बात पर राजी नहीं थे कि यह मर्यादा हमें मिले, पर कविता ने स्वयं यह इच्छा की कि वह हमारी कला बन जाए।

कवि इन्शा कहते है—

बोले है यही खामा कि किस किस को मैं बांधू,
बादल से चले आते हैं मजमूं मेरे आगे।

इसी प्रकार इकबाल कहते हैं—

जब मये दर्द से हो खिलकते शायर मदहोश,
आंख जब खून के अश्कों से बने लालाफरोश।
किश्वरे दिल में हो खामोश ख्यालों के खरोश,
अर्श से सूये ज़मी शेर को लाता है सरोश।

यानी जब व्यथा की मदिरा से कवि की सृष्टि बेसुध हो जाती है, और जब आंख खून के आंसुओं से लाला फूल को मात देनेवाली हो जाती है, हृदय के राज्य में विचारों के बज्रघोष शांत हो जाते हैं, तभी फरिश्ता आकाश से काव्य को पृथ्वी की ओर लाता है।

यहां पर यदि फरिश्तावाली बात छोड़ दी जाय, तो यह कथन आधार भूत रूप से पन्त की इन पंक्तियों से मिलता-जुलता दृष्टिगोचर होगा—

वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा गान

उमड़कर आंखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान

महादेवी की 'पीड़ा में तुझको ढूंढा, तुझ में ढूंढूगी पीड़ा' भी इससे मिलती-जुलती है। यह उस कथन से मिलती है, जिसमें कहा गया है—

Out Sweetest Songs are those
That Tell of Sadde t Thoughts.

यहाँ इस तरफ ध्यान दिलाने की आवश्यकता है कि जहाँ तक दर्द, पीड़ा या आह से कविता या कला की उत्पत्ति वाली बात है, वह बिलकुल ही स्पष्ट है, और उसमें हाथ पकड़कर किसी दूसरी शक्ति के द्वारा, काव्य-रचना कराये जाने की बात से बिलकुल भिन्न प्रकृति की बात है।

हम फिर इकबाल में लौटते हैं। उनके जो शेर पहले दिए गए, उनमें साधारण कवियों की परिपाटी बताई गई है कि उनकी कविता आसमान से जमीन की ओर फरिश्तों के द्वारा, यानी एक रहस्यमयी प्रक्रिया के द्वारा लाई जाती है, पर वे अपने सम्बन्ध में कहते हैं—

कैद दस्तूर से बाला है मगर दिल मेरा
फर्श से शेर हुआ अर्श पै नाजिल मेरा।

यानी दूसरों की परिपाटी से मेरा हृदय उच्चतर है और मेरी कविता पृथ्वी से पैदा होकर स्वर्ग की ओर जाती है। क्या इसका अर्थ यह लिया जाय कि वे कविता की, कम से कम अपनी कविता की, पार्थिव उत्पत्ति मानते थे?

इस सम्बन्ध में जोश मलीहाबादी का वक्तव्य भी विचारणीय है—

रात के तारीक लम्हे जबकि होते हैं खामोश
बाद ख्वाब आवर से जल उठती है या कंदील होश
खोलती है अपने राह पर जब सहेली मौत की
दौड़ जाता है मेरी नब्जों में खूने जिंदगी
कारवाने कशमकश होता है जब मसरूफे ख्वाब
हंस के मेरे दिल की बेदारी उलटती है नकाब
कोई पुरअसरार कुदरत कोई रूहे मुहतशम
शेर कहने को मेरे हाथों में देती है कलम।

हिन्दी कवि निराला की उक्ति रवीन्द्र के अनुरूप है—

तुम्हीं गाते हो अपना गान
व्यर्थ मैं पाता हूं सम्मान

दिनकर उसी बात को अधिक कवित्व के साथ कहते हैं—

मै रिक्त हृदय वंशी फूंके तो उठे हूक,
दे अधर छुड़ा दे बता कहीं तो रहूं मूक।

मैथिलीशरण का यह वक्तव्य भी मिलता जुलता है—

इस शरीर की सकल शिराएं हों तेरी तंत्री के तार
आघातों की क्या चिन्ता , उठने दे गहरी गुंजार

इन सब बातों से इस बात का समर्थन होता है कि अनुप्रेरणा कलाकारों की एक अपरिहार्य सहचरी थी। यह भी मालूम होता है कि सभी क्षेत्रों में अनुप्रेरणा इस ढंग से आती है कि यह मालूम होता है कि रचयिता के परे भी कोई रचयिता है। यदि ऐसी बात है, तो सारा प्रगतिवाद ही फोल हो जाता है, क्योंकि अनुप्रेरणा में कवि या लेखक अपने वश में नहीं होता और प्रगतिवाद का अर्थ ही यह है कि कवि या लेखक इरादा करके ऐसे साहित्य या कला की रचना करें, जो प्रगति में हाथ बटावे, यानी उद्देश्यमूलक सत्साहित्य की रचना करे।

पर साथ ही यह भी सत्य है कि सदुद्देश्यमूलक साहित्य की रचना हुई है। स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र अपने सारे साहित्य में एक उद्देश्य लेकर चले हैं। कहीं पर वह उद्देश्य प्रगतिवाद के साथ सामंजस्य रखता है और कहीं नहीं रखता, पर उद्देश्य के अस्तित्व के सम्बन्ध को कोई संन्देह नहीं है। कई बार उन्होंने अपने आकाश-कुसुम वाले काव्य-जगत के विरुद्ध विद्रोह किया है। 'कड़ी और कोमल' की मरीचिका नामक कविता में वे कहते हैं—'सखि, तुम कुसुमशय्या को छोड़ कर आओ और तुम्हारे पैरों के नीचे कठोर मिट्टी लगे। आकाश-कुसुम के वन में अकेली बैठ कर स्वप्न कब तक चुनती रहोगी? देखो, दूर से वह आँधी आ रही है, स्वप्न-राज्य अश्रु की तेज धारा में बह जायगा।' इत्यादि

एक अन्य कविता में वे कहते हैं—'भजन, पूजन साधन, आराधना—सब पड़े रह जांय। अरे, तू देवालय के कोने में दरवाजा बन्द करके क्यों पड़ा है? अन्धकार में छिपकर अपने मन में तू चुपचाप किसकी पूजा करता है? तू आंख खोल कर देख तो सही कि देवता कमरे में नहीं हैं। वे वहां गये हैं, जहां किसान मिट्टी तोड़ कर खेती कर रहा है और मजदूर पत्थर तोड़कर रास्ता निकाल रहा है। वे धूप और पानी में सबके साथ हैं, उनके दोनों हाथ धूल से सने हैं। अपने शुभ्र वस्त्र छोड़ कर तू उन्हीं की तरह धूल में उतर आ। मुक्ति, अरे मुक्ति तुझे कहाँ मिलेगी, मुक्ति है कहां? स्वयं

प्रभु सृष्टि के बंधन को स्वीकार कर सब के साथ बंधे हुए हैं। ध्यान लगाना रहने दे और फूल की डलिया रहने दे, कपड़े फट जाने दे, धूल लगने दे तू उनके साथ कर्मयोग में एक हो जा और तेरा पसीना बह निकले।'

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि अनुप्रेरणा की प्रक्रिया को रहस्यवादी मानने वाले कवीन्द्र रवीन्द्र भी अपनी कल्पना के स्वर्ग से वास्तविकता के मर्त्य में उतरने के लिए मजबूर होते है। उनके प्रति न्याय करने के लिए यह बताना जरूरी है कि अपने विराट साहित्य में वे बराबर उद्देश्यवादी ढंग से रचना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें जो कुछ कहना था, उसी को उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है। उनकी जो दो कविताएं अभी उद्धृत की गई हैं, उनके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वे अपनी अनुप्रेरणा में बहते नहीं थे, बल्कि उसे नियन्त्रित करते थे, उसे लड़कर उससे दूसरी ओर बहाने की कोशिश करते थे। हमारे वर्तमान विषय के लिए यही यथेष्ट है।

यह निर्विवाद है कि अनुप्रेरणा के बिना किसी उच्च कला या साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, पर इसके साथ ही जैसा कि प्रत्येक कलाकार की जीवनी और रचनाओं के विश्लेषण से ज्ञात हो सकता है, उसकी अनुप्रेरणा सम्पूर्ण रूप से रचयिता की शिक्षा-दीक्षा, परिवार, परिपार्श्व उस समय की सामाजिक और आर्थिक स्थिति, उस समय के प्रचलित मतवाद इत्यादि अत्यंत रूप से भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है। यदि हम इस बात की गहराई में जाएं कि क्या कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास के क्षेत्र में अनुप्रेरणा ने उन्हें राम नाम की महिमा गवाई और गोर्की के क्षेत्र में यही अनुप्रेरणा एक बिलकुल ही दूसरे और अनेक अर्थों में उनके विरोधी दिशाओं में पुष्पित और पल्लवित हुई।

किसी भी कवि या कलाकार की रचनाओं को उधेड़ने पर हमें कथित स्वर्गीय या रहस्यवादी अनुप्रेरणा में बड़े-बड़े अजीब उपादान दृष्टि-गोचर होंगे। शेक्सपियर, तुलसीदास आदि कई महान साहित्यकारों की रचनाओं को उधेड़ पर ने यह ज्ञात हुआ है कि उनकी एक-एक पंक्ति की जन्म-कथा बताई जा सकती है। उन्होंने कहीं से कुछ लिया तो कहीं से कुछ। यहां मैं मौलिकता पर विचार नहीं कर रहा हूं। यहां पर इतना ही कह कर हम आगे बढ़ जा सकते है कि उल्लिखित रचयिताओं ने दूसरों से ग्रहण किया, फिर भी उन्होंने चोरी नहीं की। उनके अवचेतन में ये

बातें मौजूद थीं और बिलकुल मौजू मौके पर एक नये उच्चतर रूप में उनके अनजान में उनकी कलम की नोक पर ये बातें आ गईं।

इस सम्बन्ध में अध्यापक लिविंग स्टोन लोवस ने एक बहुत दिलचस्प अध्ययन किया है। कवि कालरिज ने अपनी पढ़ी हुई सारी पुस्तकों की सूची प्रकाशित की थी। उक्त अध्यापक ने भी इन पुस्तकों को उसी क्रम से पढ़ा और अन्त में उन्होंने एक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने यह उधेड़कर दिखला दिया कि कालरिज लिखित 'जडाऊ' तथा 'पुराना मल्लाह' में एक भी शब्द या औपदानिक विचार ऐसा नहीं है, जिसका पता उनकी पढ़ी हुई पुस्तकों में नहीं लगाया जा सकता हो। अध्यापक लिविंग स्टोन ने यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य-रचना के समय कवि के मन में अपनी पढ़ी हुई बातों में से वे बातें आजाती थीं, जो उस मौके पर ठीक बैठती थीं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि कवि या कलाकार की स्मृति इस प्रकार से संगठित होती है कि उसकी स्वानुभूति (चाहे वह पढ़कर प्राप्त की गई हो या निरीक्षण से) मौके पर कलम या तूलिका में उतर आती है।

अब इसी प्रक्रिया को रहस्यवादी रूप देना संभव है, पर इसमें कोई रहस्य नहीं है। एक कलाकार ने कुछ चीजें पढ़ीं, देखी, सुनी, और अपने जीवन में अनुभव की। अनुप्रेरणा के जरिए वे ही बातें अद्‌भुत रूप से परिवर्तित होकर आईं। प्रक्रिया सज्ञान मूलक नहीं है, पर जो बातें आईं, वे आसमान से नहीं आईं, बल्कि वे ही बातें आईं जो रचयिता की अनुभूति में आ चुकी थीं। यदि कलम पकड़कर कोई लिखवाता तो क्या बात है कि गोर्की को अनुप्रेरणा रूसी भाषा में ही आई, और कवीन्द्र रवीन्द्र को बंगला में? क्या बात है कि बिठोफेन को जब संगीत की अनुप्रेरणा आई, तब वह उस समय के यूरोपीय संगीत के ढांचे के अन्दर ही आई, और तानसेन की तरह भारतीय संगीत के ढांचे में नहीं आई? इसलिए कवीन्द्र ने जिस शक्ति को कौतुकमयी करके संबोधित किया है, वह असल में कौतुकमयी नहीं है, यानी उसके कौतुक में भी एक पद्धति है, और वह पद्धति सम्पूर्ण रूप से कार्य कारण संबन्ध से परिचालित है। रहा यह कि इसे ठीक ढंग से या वैज्ञानिक मात्रा में अभी विश्लेषित नहीं किया गया है—यह बात दूसरी बात है। लोगों ने अब तक अनुप्रेरणा को एक रहस्मयी दैवी शक्ति करके टाल दिया है, और उसकी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं समझी, पर हमने जो विश्लेषण किया, उससे यह स्पष्ट है कि यदि अनुप्रेरणा की पृष्ठभूमि का सम्यक् विश्लेषण किया जाय, तो हमें किन वस्तुओं के दर्शन होंगे। इस सम्बन्ध में

यह बात भी स्मरणीय है कि प्रतिभा के वर पुत्र एक फी सदी इनस्पिरेशन यानी अनुप्रेरणा और ९९ फी सदी परस्पिरेशन यानी पसीने के बने होते हैं । दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्रतिभा के पीछे बड़ी दीर्घ साधना होती है, और वह साधना अक्सर नीरव होती है ।

बायरन ने एक दिन सवेरे उठ कर देखा कि वह प्रसिद्ध है, पर उसके पीछे जो साधना थी, वह एक रात की नहीं थी । प्रत्येक प्रतिभा को जरा अच्छी तरह सूंघने पर उसमें मध्यरात्रि के तैल की गंध आएगी । हमारे सामने तो बना बनाया तैयार माल आता है, पर उसके पीछे—खरादने रंदा करने की जो अनेक प्रक्रियाएं है वे नहीं आतीं । इसलिए हम ऐसी बातें कह कर संतोष कर लेते हे कि अमुक व्यक्ति जन्म से प्रतिभावान है । कवि पैदा होते है, न कि बनाए जाते हैं, इत्यादि । तो क्या मैं यह कह रहा हूं कि प्रत्येक व्यक्ति कवीन्द्र, रवीन्द्र या बर्नार्डशा हो सकता है, यदि वह परिश्रम करे ? इसके उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि भले ही प्रत्येक व्यक्ति रवीन्द्रनाथ न हो सके (ऐसा इसलिए नहीं हो सकता कि सबकी परिस्थितियां सोलहों आने उसी प्रकार नहीं हो सकतीं, जैसी उनकी थीं, और न सब उनकी तरह साधना ही कर सकते है । यहाँ तक कि उनके सगे भाई भी वैसा नहीं कर सके) फिर भी 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।' यह आश्चर्य की बात है कि अध्यात्मवादी यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उसी ईश्वर का अंश है, और अन्त में उसी में लीन होगा, फिर भी वे साधना की महत्ता को स्वीकार नहीं कर सकते ।

हमने अपनी 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा' नामक बृहत् पुस्तक में प्रगतिवाद क्या है ? तथा उसका क्या वक्तव्य है ?—इसका विशद रूप से स्पष्टीकरण किया है । इस लेख के लिए इतना ही कहना यथेष्ट है कि प्रगतिवाद अनुप्रेरणा की रहस्यमयता को अस्वीकार करते हुए भी और उसकी पृष्ठभूमि का भौतिक विश्लेषण करते हुए भी अनुप्रेरणा की प्रक्रिया को अस्वीकार नहीं करता । अवश्य कोई व्यक्ति अनुप्रेरणा की प्रक्रिया और पृष्ठभूमि को समझ ले, इससे वह साहित्यिक अनुप्रेरणा का अधिकारी नहीं हो जाता । जैसे कोई व्यक्ति प्रजनन की सारी प्रक्रिया को समझ सकता है, पर इससे नपुंसक व्यक्ति पुंसत्व प्राप्त नहीं करेगा । अभी तक हमारे ज्ञान की जो सीमा है उसमें प्रतिभा और अनुप्रेरणा की भौतिक कार्य-कारण परम्परा पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुई । पर इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि हम ज्ञान के नाम पर अज्ञान को अपनायें तथा अनुप्रेरणा की विशुद्धता

कायम रखने के बहाने प्रतिक्रियावादी, पलायनवादी और धनवादी कला को अपनावें।

सच्चा कलाकार वही है, जो अपनी अनुप्रेरणा को रुख और दिशा देता है। जैसा कि हम दिखा चुके, अध्यात्मवादी-रहस्यवादी रवीन्द्रनाथ भी अपनी कला को रुख देने की चेष्टा करते थे। ऐसा सभी बड़े कलाकार करते हैं। हम जो विश्लेषण कर चुके हैं, उससे अनुप्रेरणा की पृष्ठभूमि रहस्यमय नहीं रह जाती। प्रत्येक व्यक्ति की अनुप्रेरणा उसकी अपनी बनाई हुई चीज है। ऐसा हम नहीं कहते कि इसको उसने सज्ञान रूप से बनाया है, फिर भी वह उसकी अविच्छेद और उसकी इच्छाकृत तथा अनिच्छाकृत परिस्थितियों से उत्पन्न है।

आदिकाल से पेड़ से फल गिरते आए हैं, पर इस कार्य को देखकर न्यूटन के मन में माध्याकर्षण की धारणा आई। क्या इसके लिए उनकी ईश्वरदत्त प्रतिभा को दाद दी जाए या उनके मनके विशेष प्रशिक्षण को श्रेय दिया जाए जिससे एक मामूली घटना ने इतनी बड़ी प्रतिक्रिया उत्पन्न की। पोप की तरह रहस्यवादी ढंग से यह कहने में क्या तुक है ?

Each atom by s me other struck
All turns and motions tries
Till ın a lump together struck
Behold a poem arise.

यह कविता की उत्पत्ति का कवितामय सिद्धान्त है। हम यह देख चुके हैं कि कालरिज द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकों को पढ़कर लिविंगस्टोन ने क्या आविष्कार किया ? इसी कारण बर्नार्ड शा ने कहा है—

The great man leads his inspiration, makes its course for it; removes obstacles, holds it from gadding erratically after this or that, passing fancy, thinks for it and finally produces with it and admirable whole.

अर्थात् 'जो बड़ा आदमी होता है, वह अपनी अनुप्रेरणा का पथ-प्रदर्शन करता है, उसके लिए मार्ग निर्धारण करता है, उसके रास्ते से रोड़े हटाता है, इस या उस अस्थायी खामख्याली के मार्ग में उसे बहकाने से रोकता है, उसके लिए चिंतन करता है और अन्त में उसके साथ मिलकर एक प्रशंसनीय सम्पूर्णता की सृष्टि करता है।

इकबाल ने मानो इसी के समर्थन में कहा है—

बाचुति जोरे जू नूं पासे गरीबां दाश्तम,
दरजुनूं अज खुद न रफ्तन कारे हर दीवाना नेस्त।

यानी इस कद्र पागलपन के जोर के बावजूद मैंने हर वक्त अपने गरेबान का ख्याल रखा, पागलपन में आपे से बाहर न होना हर दीवाने का काम नहीं है।

इस प्रकार साहित्यिक जुनून की बात अस्वीकार न करते हुए भी जुनून पर नियंत्रण रखने की बात इकबाल ने कही है, और यह साफ कर दिया है कि वही जुनूनवाला सबसे ऊंचा है जो अपने ऊपर नियंत्रण रखता है।

इस प्रकार यह प्रमाणित है कि अनुप्रेरणा की दुहाई देकर समाज विरोधी, प्रगतिरोधी साहित्य को प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता।

१६०; खैबर-पास हास्टल,
दिल्ली—८।

मन्मथनाथ गुप्त

आधुनिक साहित्य और मनोविकृति

आधुनिक कला में असुन्दर का चित्रण बढ़ता जा रहा है; उसी प्रकार आधुनिक साहित्य में विद्रूप और जुगुप्सित, बीभत्स और विकृत रूपों का निरूपण भी एक समस्या बन गई है। आलोचकों के लिए यह एक चिन्ता का विषय है। क्या नये साहित्य में ही मनोविकृतियों का चित्रण बढ़ता जा रहा है; या प्राचीनकाल से बीभत्स और अरम्य (ग्रोटेस्क) के प्रति मनुष्य का आकर्षण इसी प्रकार विद्यमान है? यदि यह चित्रण एक नई वस्तु है, तो वह क्यों इतनी बढ़ रही है और क्या इन मनोविकृतियों के चित्रण का परिणाम हितावह है? और यदि यह विकृतियां अनिष्ट हैं, तो इनके निराकरण का क्या उपाय है?

रोदाँ और इप्स्टाइन का शिल्प, पिकासो और पॉलक्ली के चित्र, जोइस और सार्त्र के उपन्यास, हेन्रीमूर का अर्ध-शिल्प और ऐसे कई दुर्बोध आधुनिक कला के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि कला में इस प्रकार की विचित्र, चौंकाने वाली, असंतुलित रचना एक विश्वव्यापी समस्या है। और भारतीय साहित्य-कला में तो प्रगतिशील चिंताधारा की नवीन उद्भावना के साथ-साथ, इधर सन् '३४ के बाद, उससे अधिक गत महायुद्ध के बाद, इस समस्या ने बहुत तीव्र रूप धारण किया है। यह कला जानबूझ कर अब तक अछूत और अस्पृश्य माने जाने वाले विषय चुनती और छूती है। उनका कहना है कि अवचेतन का यथार्थ चित्रण हमें ऐसी ही दुःस्वप्न-सम कला की ओर ले जायगा। इन सब कला-कृतियों की एक विशेषता यह भी है कि जनसाधारण के लिए वे एक-दम दुर्ज्ञेय और कठिन

पहेली बुझौवल के समान है ।

एक तो पुराण-पन्थियों का—सनातन आलोचकों का—दल है, जो इस सारे अघटित व्यापार को सहज ही एक वाक्य से टाल देना चाहेगा कि यह सब तो कला ही नहीं, साहित्य ही नहीं । इस प्रकार कविता में एजरा पाउण्ड और नरूदा के समान 'व्यक्तिगत कल्पना चित्रों के माध्यम से विचार करना अकलात्मक है, क्योंकि उसमें प्रेषणीयता का नितान्त अभाव है । परन्तु जो विख्यात शिल्पी-चित्रकार-कवि-उपन्यासकार आदि नाम मैंने ऊपर गिनाये है; उनकी कला कृतियाँ हीन कोटि की, केवल प्रयोग के लिए प्रयोग वाली' अधकचरी, मानसिक अजीर्ण की द्योतक वस्तुए नही—अर्थात युगान्तरकारी रचनाएं हैं ।' अतः इस समस्या को और भी मूलतः पकड़ना होगा ।

क्या मनुष्य के मन में जैसे सुन्दर और भव्य, रम्य और कोमल-मधुर के लिए स्वाभाविक आकर्षण है, वैसे असुन्दर और घिनौने, विद्रूप और घृण्य के प्रति भी कोई प्रबल आकर्षण है ? मनोवैज्ञानिक इस बात का समर्थन करते है । प्रेम और घृणा वस्तुतः उसी एक मनोव्यापार के दो पहलू मात्र है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों में विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में वीभत्स रस की मीमांसा इस प्रकार की है—

> चित्तद्रवी भावनयो ह्लादो माधुर्य मुच्यते ।
> संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात ।।
> मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विता ।
> रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ।
> अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।
> ओज-श्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।।
> वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।
> वर्गस्याघतृतीयाभ्या वर्णौ तदन्तिमौ ।।
>
> (अष्टमः परिच्छेदः श्लोक २ से ५ तक)

इसका अर्थ है—चित्त का द्रुतिस्वरूप आह्लाद जिसमें, अन्तःकरण द्रुत हो जाए—ऐसा आनन्द विशेष, माधुर्य कहाता है । यह जो किसी ने कहा है । कि माधुर्य द्रुति का कारण है, सो ठीक नहीं है क्योंकि द्रवीभाव याद्रुति आस्वाद स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है । आस्वादया आह्लाद रस के पर्याय हैं । द्रुति रस ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है, और रस कार्य नहीं, अतएव द्रुति भी कार्य नहीं । जब द्रुति कार्य ही नहीं, तो उसका कारण कैसा ? द्रुति का

लक्षण कहते हैं—रस की भावना के समय चित्त की चार दशायें होती हैं—काठिन्य, दीप्तत्व, विक्षेप और द्रुति। किसी प्रकार का आवेश न होने पर अनाविष्ट चित्त की स्वभावसिद्ध 'कठिनता' वीर आदि रसों में होती है। एवं क्रोध और अनुतस्य आदि के कारण चित्त का 'दीप्तत्व' रौद्र आदि रसों में होता है। विस्मय और हास आदि उपाधियों से चित्त का विक्षेप, अद्भुत और हास्यादि रसों में होता है। इन तीनों दशाओं—काठिन्य, दीप्तत्व और विक्षेप के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत सहृदयों के हृदय का पिघलना 'द्रुति' कहलाता है। सम्भोग-शृंगार, करुण, विप्रलम्भ-शृंगार और शान्त रसों में क्रम से माधुर्य बढ़ा हुआ रहता है। शान्त रस में सबसे अधिक माधुर्य रहता है। ट, ठ, ड, ढ, से भिन्न वर्ण, आदि में वर्गों के अन्तिम वर्णों (ञ, म, ङ, ण, न) से युक्त होने पर माधुर्य के व्यंजक होते हैं। समास-रहित अथवा अल्पवृत्ति, अर्थात छोटे-छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है। चित्त का विस्तार स्वरूप दीप्तत्व 'ओज' कहाता है। वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से इसकी अधिकता होती है। वर्णों के पहिले अक्षर के साथ मिला हुआ, उसी वर्ग का दूसरा अक्षर और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का अगला चौथा अक्षर, तथा ऊपर या नीचे, अथवा दोनों ओर रेफों से युक्त अक्षर, एवं ट ठ ड ढ श और ष, ये सब ओज के व्यंजक होते हैं। इसी प्रकार लम्बे-लम्बे समास और उद्धत रचना ओज का व्यंजन करती है—जैसे चञ्चद्भुजेत्यादि। विश्वनाथ ने आगे 'प्रसाद' की व्याख्या की है।

वीभत्स रस के सम्बन्ध में विश्वनाथ की शब्द-वर्ण वाली बात को पूर्णतः सही न भी मानें—क्योंकि शब्दों की अभिधाओं में तब से अब तक बहुत परिवर्तन और विकास हुआ है—तो भी यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है कि वीर से वीभत्स में और वीभत्स से रौद्र रस में क्रमशः दीप्तत्व का आधिक्य होता जाता है।

पहिले वीर-रस को लें। मराठी के कवि-आलोचक 'अनिल' ने संस्कृत में 'प्रक्षोभरसस्थापनम्' नामक निबन्ध में प्रतिपादित किया है कि आधुनिक काल में से राष्ट्रीय कविता अथवा मानवतावादी (विश्वबन्धुतावादी) कविता में दोनों के प्रति करुणा तो होती है, उस दैन्य के कारणों के प्रति 'हुङ्कार' भी होती है, परन्तु पूर्व सूरियों की बताई हुई 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयान् उत्साह उच्यते' वाली जिगीषा उत्साह उसमें नहीं होता। यदि वीर रस का स्थायी भाव अमर्ष मान लें, यानी तितीक्षा-साहित्य मान लें, तो भी यह

भाव-दशा मात्र होगी ; रस-दशा नहीं। अतः 'अनिल' के मत से मानवता पर होने वाले अन्याय आक्रमण की, दलितों के प्रति छल की, जो तीव्र अनुभूति होती है, इससे मन में संवेग स्थायी भाव निर्माण होकर प्रक्षोभ रस निर्मित होता है।

यह नया रस छोड़ भी दें, तो भी आधुनिकतम कविता या कला के रसास्वाद में जो कटुतिक्त अनुभूति होती है, उसे क्या वीभत्स रस में लें ? ओजगुण यदि उसे मानें तो उसमें आवेश, जोर, सामर्थ्य होना चाहिए। परन्तु कड़वी कविता पढ़ कर मनस्त्रास होता है, आवेश नहीं उत्पन्न होता। ओजस् की व्याख्या उच्चारण और अर्थ-दृष्टि से कठिन, समास-प्रचुर रचना मानी गई है। वामन, भोज और जगन्नाथ ने कठिनतामयी रचना को 'गाढ़-रचना' भी कहा है। भोज ने ओज और औजित्य में भेद किया है। ओज समास-प्रचुर रचना से निर्मित होता है, तो औजित्य गाढ़ रचना से। मम्मट भी ओज के पीछे मन की एक प्रकार की व्याकुलता बताते हैं। जैसे—'घटःपटु इतीतरे पद् रटन्तु वाक् पाटवात्' रचना है। जगन्नाथ ने अर्थप्रौढि को ओज कहा है और उसका लक्षण उदारता अथवा अग्रामता बताया है। वामन ने रचना की विकटता को उदारता कहा है। परन्तु इस उदारता का जोड़, इस नवीन, असुन्दर का जान-बूझ कर निरूपण करने वाली अद्भुत रचना से कैसे लगाया जाय ?

इसके दो-तीन कारण बताये जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि रचनाओं में कठिनता या दुरूहता निरी उदारता के कारण नहीं, अद्भुत रस की, या वीभत्स रस की उद्भावना के कारण नहीं होती, अपितु सत्य के नग्न, बेमुरौव्वत, सीधे-सच्चे चित्रण के कारण, सत्य के दबाव के कारण, the truth bare truth, nothing but the truth की व्यंजना के कारण ऐसा असन्तुलन होता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार-चर्चा में, तीसरी कारिका में लिखा है कि—

> काव्ये हृदयसम्पादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्
> तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः।

अर्थात्—सत्यप्रत्यय आ रहा है, ऐसा निश्चय हो सके तो काव्य-हृदय को जंचता है। उसमें होने वाले वास्तव दर्शन से ही कवि ऐसा लेखन करें। वही इष्ट है।

इस भूमिका में मैंने संक्षेप में बताया कि आज के साहित्य और कला में कुछ ऐसा ऊबड़-खाबड़, विचित्र-अजीब, नया और असहनीय-सा उभरता चला

आ रहा है, जिसे हम संक्षेप में मनोविकृति कहेंगे। उसी के रूपों और कारणों तथा यथासम्भव निराकरण के उपायों की चर्चा हम यहाँ करना चाहते हैं।

मैं कुछ नमूने लेकर चलता हूं। अपने ही एक कवितानुमा सानेट से आरम्भ करता हूं—जिससे स्थिति की कल्पना की जा सकती है—

जीवन में आ गई बहुत खोखली शून्यता,
एक अपूरणीय-सा फैला है अभाव।
टूट रही है सब रसज्ञता, अहम्मन्यता,
छितर गया है रसोद्रेक का ही स्वभाव।
यह क्यों है, इसकी चर्चा भी हमको रुचती नहीं,
और हम सब भेड़िया-धसान बने जाते हैं।
एक अजीरन-सा युग में छाया है, बातें पचती नहीं,
व्यर्थ सभी जो बात-बात पर तने-तने जाते हैं।
सब कुछ पहिले का मिटता-सा, खंडित, जर्जर, रोगग्रस्त है;
अस्त-व्यस्त है, साज रागनी बेठाठा है;
निकल भागता जीवन का कैदी पस्ती से खा शिकस्त है,
मानों पहरेदारों ने कुन्दे से झपट-डपट डांटा है।
जीवन का बौना, घिघियाता, बहरा, पंगु, घिनौना, गन्दा,
और कलाकारों का उससे बचते रहने का है धन्धा।

तो एक पक्ष उन कलाकारों का है, जो ऐसी बुराइयों से बचते रहते हैं और गालिब के समान कहते हैं—

किस्मत बुरी सही पै तबीयत बुरी नहीं,
है शुक्र, की जगा के शिकायत नहीं मुझे।

दूसरा पक्ष उस सारी बुराई से भागता नहीं, मगर उसका वर्णन करता जाता है और उसी में जैसे डूब सा जाता है, खो जाता है। एजरा पाउण्ड अपने नवीन कविता संग्रह 'पिसान कन्टोज' में कहते हैं, जिसकी प्रशंसा टी० एस० इलियट ने 'वाणी की नई प्रखरता' कहकर की है—

The ant's a centau' in his dragon world
Pull down thy vanity. it is not man
Made courage, or made order, or made grace,
Pull down thy vanity, I say pull down......
Thou art a beaten dog beneath the hail
A swollen magpie in a fitful sun;
Half black, half white

चित्र बनाये हैं, जिनमें से कुछ के विवरण सुनिए— ये एक गिर्जे की प्रार्थना-पीठिका के मण्डन के लिए बनाये गये थे। मृत्युलोक का चित्रण इस प्रकार है—एक नदी किनारा। नदी के पानी के नीचे एक अण्डा है, जिसमें से एक गोल खिड़की काट ली गई है, जो कि बाहर एक कांच की नली के रूप में नीचे झुकती है। उसमें से एक आदमी झांक रहा है और उस नली में घुसने वाले चूहे की ओर घूर रहा है। अण्डे के दूसरे छोर पर एक विचित्र पौधा है, जिसका फूल फैल कर एक विचित्र शिराओं वाला बुद्‌बुद् बन जाता है, जिसमें एक नग्न प्रेमियों का जोड़ा बैठा है। उस फूल के पास एक प्राणी एक राक्षसकाय उल्लू से आलिंगन कर रहा है। और ऊपर कुछ नग्न आकृतियां निराश रूप में प्रचण्ड कठफोड़ों पर बैठी हैं।

नरक के चित्रण में एक नग्न मानवाकृति एक वीणा पर गरुड़ की तरह फैली है। यह वीणा एक बांसुरी में से उगी है, जिसमें सांप लिपटा हुआ है और वह सांप अपनी गुंजलक में एक नग्न मानव को बांधे हुए है। ऊपर चौतरे पर एक पक्षी के सिर वाला राक्षस बैठा है जिसके पैर सुराइयों के बने हैं। वह एक मुर्गा खा रहा है, जिससे पक्षी भाग गये हैं। उस चौतरे के नीचे एक बुद्‌बुद् है जिसमें से एक मानवाकृति एक गहरे गड्ढे पर आधी झुकी है। एक आदमी एक सूअर का चुम्बन ले रहा है; इतने में एक काल्पनिक कीड़ा आकर उसे कुतरता है जिसके पैर आदमी की तरह हैं और सिर से एक टूटा हुआ आदमी का पैर लटक रहा है.........

(हमारे यहां भी जैन पुराणों में ऐसी कई विचित्र घटनायें मिल जावेंगी) सालवादोर दाली इसी प्रकार संगत प्रतीक-योजना करता है। वह अपसर लेडी शू में दूध का गिलास चित्रित करता है।

'आर्ट नाउ' के पांचवें अध्याय में हर्बर्ट रीड सुपररियालिज्म का स्वयंचलनवाद (Automatism) कह कर पिकासो की कला की चर्चा करता है। पिकासो पर एम. जर्वोस पांच खण्डों में एक ग्रन्थ लिख रहे हैं, जिसका यह अंश रीड ने उद्‌धृत किया है—पिकासो ने अपनी दृष्टि और अपनी कामना (Will) को कभी विरोध में नहीं रखा ..दृष्टि और कामना भिन्न बातें हैं। दूसरे में एक सतत प्रयत्न रहता है; अन्तर्ज्ञान अज्ञात में एक साहस पूर्ण उड़ान है। वस्तुओं का सारत्व, जब तक आत्मानुभूति का तनाव नहीं होता, कोई नहीं ग्रहण कर सकता। पिकासो ने कहा कि मैं दूसरों के लिए देखता हूं। उसकी सम्पूर्ण इच्छा आत्म प्राप्ति है। पिकासो देखता है कि उस पर कई तरह के परत जम गए हैं, जिन्हें वह झाड़ फेंकना

चाहता है। वह सब बाधाओं को तोड़ना चाहता है। अतिवास्तववादियों ने युग के सामूहिक अवचेतन की स्थापना को मान कर निरीक्षण के स्थान पर अपरवास्तवता को प्रश्रय दिया है।

जर्वीस के आंतरिक स्वगत भाषण की तुलना करके रीड आगे कहते हैं कि साहित्य और कला में आकृति या रूप की कल्पना का पुनर्निरीक्षण आवश्यक है। रोजर फ्रास के 'कलाकार और मनोविश्लेषण (होगार्थ) १६२४ नाम के प्रबन्ध से वे उद्धरण देते हैं—'प्रतीक दो तरह के होते हैं; एक इन्द्रियसंवेद्य, दूसरे अचेतन पर आधारित। वैज्ञानिक और और कलाकार प्रतीकों का सहारा छोड़ देगा; क्योंकि कविता जितनी ही अशुद्ध होगी, उतनी स्वप्न पर आश्रित होगी।' (In Proportion as Poetry becomes impure it accepts dreams)

सुररियालिज्म के पूर्व ज्यूरिच में १६१६ में जन्मा और १६२४ में मरा 'दादाइज्म' था। उसी की रक्षा में अतिवास्तववाद का जन्म हुआ। आंन्द्रे ब्रेटान ने उसका उद्घोषण-पत्र प्रकाशित किया। उसके अनुसार हमारी साधारण दुनिया से एक और बड़ी दुनिया हमारे अवचेतन मन की है। अतिवास्तववादी यद्यपि लौत्रीमां (Lautreamont) को अपना गुरू मानते है; और हेगेल के दर्शन में कुछ अपना समाधान खोजते हैं; फिर भी उसकी प्रेरणा का स्रोत फ्रायड से अधिक सम्बद्ध है। स्वप्न चित्रों का आधार दोनों ही लेते हैं। सुररियालिज्म को केवल स्वप्न या अचेतन मन के कई अविजित प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह प्रक्रिया स्वयं चालित है। जो लोग इन नये चित्रों को नहीं समझते, उनसे पिकासो ने प्रश्न किया है—हर कोई इन चित्रों का अर्थ पूछता है, आप पक्षियों के गाने का अर्थ क्यों नहीं पूछते ? रात और फूल और यह आस-पास का सब कुछ समझने का प्रयत्न न करते हुए, आप क्यों और कैसे चाहते हैं कि ये चित्र ही आपकी समझ के विषय हों ? जो लोग इन चित्रों को समझाने का यत्न करते हैं, वे अक्सर गलत समझाते हैं।

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद पर मैं 'अभिरुचि' के अगस्त १६४८ के अङ्क में प्रकाशित अपने मराठी लेख 'सार्त्र व मार्क्स' का अनुवाद यहाँ दे रहा हूं—

मई १६४७ के 'देमॉक्रेसी नावेले' में सेसील ऑनग्रांड ने एक लेख में अस्तित्ववाद का सच्चा स्वरूप खोल कर दिखाया है। अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद-विरोधी, समाजवाद-विरोधी, जनतन्त्र विरोधी, पुराने आदर्शवाद

को बासी कढ़ी में उबाल लाने वाला व्यक्तिवादी दर्शन है—यह इस लेख में प्रतिपादित किया गया है। 'माडर्न क्वार्टर्ली' के शिशिर १९४७ के अङ्क में कुर्त ब्लाउकाफ ने 'आइडियालोजी एण्ड रियालिटी' नामक छोटे लेख में, अस्तित्ववाद पर जो कुछ आध्यात्मिक कलई चढ़ी रहती है, उसे भी पूरी तरह खोल दिखाया है। यह लेख मैं दो लेखों के आधार पर लिख रहा हूं।

जीनपाल सार्त्र के ८०० पृष्ठों के 'अस्तित्व और नास्तित्व' (L'etrect le Neant) ग्रन्थ में पृष्ठ ३५९ पर का यह उद्धरण पढ़िए; इससे उसकी शैली की दुर्बोधता का परिचय होगा— 'इस आध्यात्मिक प्रश्न की सम्भावनीयता जरा अधिक सूक्ष्मता से देखें। सब से पहिले यह जो कुछ दिखाई देता है, वह ऐसा है, कि दूसरे के लिए अस्तित्व नाम की जो चीज जान पड़ती है वह वस्तुतः 'स्व' के लिए जीने की तीसरी कैवल्य स्थिति है। पहिली कैवल्य स्थिति, यानी 'स्व' के लिए जीने की मनःस्थिति का अनस्तित्व के ढंग पर घटित अस्तित्व की ओर त्रिगुणात्मक प्रक्षेपण है। इस प्रक्रिया में से पहिला प्रस्फोट दिखाई देता है, जिससे 'स्व-के-लिए' जीना स्वत्व-प्राप्ति करना है। और स्व की घटना से सुसंगत ऐसी स्वतः अलग होने की क्रिया का अभाव उस स्थान पर व्यक्त होता है[1]।'

उसके शिष्य भी उसका ग्रन्थ समझते हैं या नहीं, भगवान जाने।

वी० जे० जेरोम ने अपनी 'कल्चर इन दी चेंजिंग वर्ल्ड, ए मार्क्सिस्ट एप्रोच' नामक दिसम्बर १९४७ में अमरीका में छपी पुस्तक में 'एक सुस्थ समाज-व्यवस्था के लिए विचार-प्रणाली' इस शीर्षक के नीचे निम्न दर्शनों की अलोचना की है—

(१) अबुद्धिवादी : बर्गसाँ, क्रोचे, ड्युई, स्लेंसिगर स्टाइनबेक : (२) वैयर्थ्य के डिडम—अस्तित्ववादी : सार्त्र, अलबर्ट कैमस् : (३) मृत्यु-पूजक दार्शनिक : सरेन् कीर्केगार्ड, फ्रैंक काफका और मार्टिन हाइडेगार ; (४) श्रद्धापन्थी; ईलियट, जे राल्डहर्ड, आल्डस् हक्सले, ईशरवुड, कार्ल-शिपारी, मक्स्वेल अंडरसन; (५) राक्षसपूजा और वैश्वानरपन्थ : एच०एफ०

---

[1] 'Let us examine the possibility of the metapysical question more closely. What appears first of all is that being-for-others represents the third 'ek-stasy' of being-for-oneself. The first 'ek-stasy' in effect; the three-dimensional projection of being-for-oneself becomes itself, the tearing away of being-for-oneself from all that it is, in so far as this tearing-away is constitutive of its being........'

नीग्रोविरोधी हालिवुड के दिग्दर्शक और चित्रपट-निर्माता, अमरीकी समाचार संचालक, जेरोम लिखता है—

'आजकल अमरीकी पराश्रय (बोर्जुआ) वर्ग एक नया परदेशी 'वाद' उधार लाया है। वह एक रहस्यवादमय भानमती के पिटारे की भांति वाद है—अस्तित्ववाद। यह आजकल चलने वाला एक साहित्यिक दार्शनिक फैशन है और अबुद्धिवाद की आकाशवाणी है।

'अस्तित्ववाद सर्वोपरि या चरम-परम (ट्रान्सडेन्टल) मानव पर अधिष्ठित है। मनुष्य अपने सङ्कल्प और रुचि के चुनाव में सर्वथा पूर्णतः स्वतन्त्र है। 'मनुष्य का अर्थ है स्वातन्त्र्य' (मैन इज़ फ्रीडम) ऐसा जीनपाल सार्त्र का सूत्र है। मनुष्य स्वयं का जो कुछ बनाएगा, उसके परे कुछ है ही नहीं। यह अस्तित्ववाद का प्रथम सिद्धान्त है। उनकी दृष्टि से मनुष्य में 'स्व' के प्रति चेतना निर्मित करना, सब जिम्मेदारी 'व' पर ही है, ऐसा मानना काफी है।'

'मनुष्य को—यानी जनता को—स्वयं के अस्तित्व के लिए जिम्मेदारी पहचानने के लिए बाध्य करना मार्क्सवादी की दृष्टि से एक सामाजिक आवश्यकता है। परन्तु यह चेतना सिर्फ हवा में जाग्रत नहीं होती। उसके सामाजिक परिपार्श्व में, ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में, यह जाग्रत मनुष्य अनुभव करता है। स्वतन्त्रता आवश्यकता की पहिचान मात्र है। मार्क्स के शब्दों में—'मनुष्य इतिहास बनाता है, परन्तु वह इतिहास अपने स्वयं के सम्पूर्ण कपड़े में से काटकर नहीं निकालता।'

'संक्षेप में, मनुष्य स्वयं निर्माण करने वाला, बनाने वाला है, उसी प्रकार वह निर्मित होने वाला भी है। यही सच्चा ऐतिहासिक मानव है। सार्त्र का निरा अध्यात्मजीवी मनुष्य सर्वथा मुक्त, पूर्णतः अमर्यादित (इनडिटर्मिनेट) है। ऐसे आदमी की छलांग उसे स्वतन्त्रता के उच्च स्तर में नहीं उड़ा ले जाती; परन्तु वह दासता की अंधेरी गुहा में डुबाने वाली है। मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता का सब्ज बाग दिखा कर उसे प्रत्यक्ष अस्तित्व में प्रचलित समाज-व्यवस्था का जूआ मनवाने पर बाध्य करना ही उसका ध्येय है; क्योंकि सब पाप—जैसे अस्तित्ववादी समझते हैं, उस प्रकार से वैयक्तिक ही हों और सामाजिक पाप न-ही हों, तो मनुष्य के दुःखों की सामाजिक जिम्मेदारी, सामाजिक कारण-परम्परा पूर्णतः नष्ट हो जाती है।'

'अस्तित्ववाद के इस परम और सर्वोपरि व्यक्तिवाद में कार्य-कारण परम्परा को स्थान नहीं है। 'विज्ञान में कारण-विचार है, न?' इस प्रश्न

का उत्तर देते हुए सार्त्र कहता है—

'बिलकुल नहीं। विज्ञान तो अतीन्द्रिय होते हैं। वे भाववाचक तत्त्वों के अन्तर का अध्ययन करते हैं। उनका प्रत्यक्ष वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं[२]।' इस प्रकार कार्य-कारण-परम्परा का त्याग करके अस्तित्ववाद सब प्रकार की सुसंगति, सम्बन्ध, परस्पराश्रय, परस्पर-परिणाम को नष्ट करता है। इस प्रकार प्रकृति की मानव पर और मानव की प्रकृति पर होने वाली परस्परावलम्बी प्रक्रिया की ओर से पीठ फेर कर, सार्त्र आदमी की क्रियाओं का उसकी चेतना पर होने वाला परिणाम अमान्य करता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन के द्वार बन्द करके अस्तित्ववाद गूढ़, गुञ्जन, रहस्यवाद, अध्यात्मप्रवणता और उसके राजनीतिक पर्याय, प्रतिक्रियावाद को पास बुलाता है।

'सार्त्र का यह एकाकी आदमी कार्य-कारणों के, समाज-परिस्थिति के, इतिहास-नियमों से ऊपर उठा हुआ यह आदमी, सिर्फ पाप की छाया में घूमता रहता है। यह असमाजिक, चिरव्यथित, आत्मविश्वास-शून्य और तिरस्कार से भरा हुआ प्राणी है। सार्त्र कहता है—'मनुष्य का अर्थ ही है एकाकीपन।' 'बाहर जाने के लिए राह नहीं' नामक-नाटक में उसने एक अर्थपूर्ण वाक्य लिखा है—'और सब कुछ नरक है।'

'सार्त्र को १९४७ में अमरीकन नाट्य परीक्षक मण्डल ने सर्वोत्तम विदेशी नाटककार का इनाम दिया। उसने फ्रान्स से लड़ने वाले लोगों से मैत्री करके थोड़े से शिष्य भी जुटा लिए और अपने आस-पास क्रान्तिकारकता का आभा-वलय भी फैला लिया है। परन्तु वस्तुतः अत्यन्त व्यक्तिवादी, टटपूंजिये अराजकवाद का आत्मसमाधान सिर्फ उसमें से मिलता है। उसका शिष्य आल्बर्ट केमस कहता है—

'आत्महत्या, यही एक मात्र गम्भीर दार्शनिक समस्या है।'

'इस अबुद्धिवाद के उत्तम नमूने काफ्का के उपन्यास में, किर्कगर्द की धार्मिक आत्म-स्वीकृतियों और मार्टिन हाइडेगार के लेखों में व्यक्त होते हैं। काफ्का कहता है—'सिर्फ आध्यात्मिक जगत ही सच्चा है। जिसे हम भौतिक जगत कहते हैं, वह आध्यात्मिक दृष्टि से पाप है, इसीलिए सच्चे कैवल्य ज्ञान की प्रथम सूचना मृत्यु के प्रति कामना पैदा होना है......'

---

[२] Absolutely not. The sciences are abstract; they study the variations of equally abstract factors and not real casuality.

किर्कगार्द के अनुसार —

'आत्म-परक बनना ही यदि जीवन-कार्य है तो व्यक्ति के लिए मृत्यु का विचार निरी सामान्य कल्पना न होकर, वस्तुतः वही कर्त्तव्य-कर्म है।'

हाइडेगार कहता है—'मनुष्य प्राणी के अन्तःकरण में से सतत इस व्यथा का कम्पन चल रहा है......इस व्यथा का अभाव ही मनुष्य के मौलिक शून्यसत्त्व का आविष्कार है।'

'इस प्रकार अस्तित्ववादी अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा के समृद्ध तत्त्वों को भी अमान्य करते हैं। वाई-फिव के मासिक के मूल रूपी लेख का एम० एन० राय के द्वारा किया हुआ एक अनुवाद 'माडर्न क्वार्टर्ली' १९४७ के ग्रीष्म अङ्क में प्रकाशित हुआ है—'A philosophy of unbelief and indifference: Jean Paul Sarte and Contemporary Bourgeois Individualism' नाम से। उसमें अस्तित्ववादियों की ओर से माने जाने वाले इस बड़े श्रेय का खण्डन किया गया है कि अस्तित्ववादियों ने आध्यात्मिक उपन्यास साहित्य में रूढ़ किया। सार्त्र की पहिली किताब 'दीवार' (एक कहानी संग्रह) दूसरे महायुद्ध से पहिले प्रकाशित हुई। उसके बाद 'नाशीया' या 'मितली' नामक उपन्यास में उसने जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। उसके अनुसार जीवन अर्थ-शून्य, फीका, ऊबा देने वाला, सिर्फ ऊबते जाने वाला घृणास्पद कुछ तो भी है, अतः मनुष्य स्वयं तथा आत्मकर्मों के प्रति उत्तरदायी है। पश्चिमी-साहित्य में यह नई बात नहीं है। आंद्रे मालरो, आंद्रे जीद, स्टि्डबर्ग के पात्रों के और जेम्स जाइस्, डास पासास्, ज्यूलस रोमन्स इत्यादि के नमूने की प्रतिकृतियाँ सार्त्र में सर्वत्र मिलती हैं। सार्त्र के गुरु है—हाइडेगार और किर्कगार्द। १९१६ में प्रकाशित रोनाल्ड लैथैम नाम के अंग्रेज लेखक की 'इन सर्च आफ सिविलिजेशन' नाम की किताब में अस्तित्ववाद के बीज मिलते हैं।

'इन सब के अनुसार मानव अपूर्ण है। सिर्फ कुछ अस्तित्ववाद और व्यक्तिवाद के नेता अपवाद हैं। सारी मानव-जाति आज असन्तुष्ट, अपनी ही स्वयं की परस्पर-विरोधी वासनाओं और कामनाओं के भँवर में पड़ी हुई, विसंगत और व्यक्तित्व शून्य बनी है। इसलिए मनुष्य कृति की एक बड़ी भारी भूल है। दोष पूंजीवादी समाज व्यवस्था का नहीं, इस अप्राकृतिक स्वभाव का है। इसलिए कटु सत्य मानवी अपूर्णता का है। यही कटु सत्य

लैथम जैसे अंग्रेजी इतिहासकार, ब्रेटान जैसे आत्कोवादी सुररिअलिस्ट और नीत्सेपन्थी लोग मानते आ रहे हैं। मनुष्य के भविष्य के विषय में जो निराश है, वे ही प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति से भागना चाहते हैं, और वही सार्त्र के जाल में अटकते है। उनके मत से मनुष्य ऐसा ही अपूर्ण रहेगा और उसे निरा अस्तित्व प्राप्त होगा।

'ऊपर-ऊपर देखने वालों को सार्त्र का सूत्र, 'मनुष्य जो कुछ अपने आपको बनाये; वही है, (Man is only what he makes of himself) बड़ा मीठा जान पड़ता है। परन्तु वस्तुतः सार्त्र आज के जीवन की विषमता, अन्याय और दुःख के कारणों को एक बना देता है, साफ दृष्टि को धुंधला बनाना चाहता है। उसके अनुसार नियति अपरिवर्तनीय है। सार्त्र के Reprive नामक उपन्यास में मनुष्य को डराने वाली यह नियति युद्ध के भय के रूप में अवतरित हुई है।

'सार्त्र को सामाजिक घटना से, व्यक्ति की बेकारी या रोजगार से कोई मतलब नहीं। वह केवल 'शापित मानव' के अस्तित्व की मर्यादाओं का विचार करता है। उसके शब्दों में, यही अन्त में जान पड़ा कि मनुष्य सर्वथा एकाकी हुआ कि उसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मिल जाता है। दस्ताएवस्की ने कहा—परमात्मा न होता तो सब कुछ चल जाता। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी इसी छोर से शुरू करते हैं—'परमात्मा नहीं है। अब सब कुछ चल सकता है।' परन्तु इस 'सब कुछ' की भी कुछ मर्यादाएं हैं या नहीं? अकेला बेकार आदमी कितना भी सिर पचाये तो भी मिल-मालिक नहीं बन सकता, और रेलगाड़ी के आगे सो जाने से भी बेकारी की समस्या हल नहीं होती।

'अस्तित्ववादियों का प्रगति पर विश्वास नहीं। उनके मत से सब-कुछ ज्यों-का-त्यों रहता है। अच्छे बुरे का निर्णायक व्यक्ति-मन है और उसे चुनने वाला क्षण है। इस प्रकार अस्तित्ववाद, क्षणिकवाद और सन्देहवाद का विचित्र मिश्रण है। यदि व्यक्ति की उस क्षण की चुनी हुई बात निष्पाप ही होती, तो फिर परिताप क्यों होता है? दुःख का मूल क्या है? सार्त्र के मत से, 'मानवी अपूर्णता' उसका कारण है। वह निष्काम कर्मयोग के समान 'to act without hope of future' की चर्चा करता है और अनासक्त या 'स्टोइक' बन कर मार्क्स की ओर हिकारत से देखकर कहता है—'उंह, यह तो स्वयं की शक्ति बढ़ाने का व्यर्थ का झमेला है।'

'लेनिन ने १६२६ में दि प्रालितेरियन रिवोल्यूशन में कहा था—

'अराजकवाद पराक्षयी व्यक्तिवाद का ही दूसरा रूप है। व्यक्तिवाद ही अराजकवादी दृष्टिकोण का मूलाधार है ... .. अराजकवाद निराशा का परिणाम है'।[1]

'सार्त्र की उपन्यासत्रयी के प्रथम खण्ड 'The age of reason' का मुख्य पात्र दर्शन का मैथ्यू दलार्न है, जिसका व्यवसाय है बालू के प्राध्यापक किले तैयार करना और उन्हें फिर मिटा देना। इस किले की स्तुति वह 'वाह बहुत अच्छे ! हवा से आवृत, निराधार और फिर गिरेगा भी नहीं !' कह कर करता है और फिर वह अपने ही हाथों तोड़ भी देता है। इस रचना से वह शेर याद आता है—

'बना-बना के जो दुनिया मिटायी जाती है।
जरूर कोई कमी है जो पायी जाती है॥'

'यही मैथ्यू आगे चल कर स्पेन के युद्ध को 'आशा शून्य संघर्ष' कह कर युद्ध के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। अस्तित्ववाद के ट्राय के लकड़ी के घोड़े के पेट में बहुत सा प्रतिक्रियावाद छिपा हुआ सार्त्र के 'Morts Sane Sepulture' नामक नाटक पर पेरिस में रोक लगा दी गई। लन्दन के लिरिक थिएटर में उसी नाटक का 'Men without Shadows' नामक अनुवाद जुलाई १९४७ में दिखलाया गया। इस नाटक के पात्र शान्ति से अन्याय सहन करते हैं; मौन से प्रतिकार करते है—और फ्रान्स की स्वतन्त्रता के लिए नहीं—व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए।

'ए-कानु' ने 'मार्क्सवाद और साहित्यिक सड़ांध' नामक प्रबन्ध में 'अस्तित्ववाद की जड़ों पर चर्चा की है और रैनरमारिया रिलके की भावुक, दुर्बल, रुग्ण, प्रेमनिराश, दुःखान्त कविताओं को इस नये दर्शन का आदिसूत्र कहा है। 'The Notebook of Malte Lourids Brigge' ग्रन्थ में आत्महत्या की कामना करने वाला नायक पेरिस शहर में जाता है—वहां एकाकी, दुःख से पीड़ित रहते समय वह अपना चेहरा रखने में, नख वगैरह काट कर व्यवस्थित रखने में सन्तोष प्राप्त करता है। रिलके के युवक नायक का यह अपमानयो आत्मिक विद्रोह स्वप्न-सृष्टि में खो जाता है और मृत्यु-पूजा ही उसका अन्तिम धर्म बन जाता है। कानु के मत से टामस नाम के बुडेनब्रूक्स विश्लेषण में भी सामाजिक कारणमीमांसा छोड़ कर उसी

1 'Anarchism is bourgeois individualism turned inside out........ Individualismarc is the bas is of the whole outlcok of anarchism..........Anarchism is the child of despair.'

कुण्ठा का वह स्वयं शिकार बना जान पड़ता है।'

अपने मूल मराठी लेख का केवल एक अंश मैंने सुनाया। इससे अस्तित्ववाद के एक पक्ष का काफी दिग्दर्शन होगा ऐसी आशा है।

× × × ×

क्या कवियों में कुछ दोष है जो उनकी रचनाएं गद्यप्राय हो गई हैं? क्षेमेन्द्र का यह उद्धरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'आजकल के छायावादी कवि और कविता' में बहुत वर्षों पूर्व उद्धृत किया था—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाप्यविद्धकर्णः सुकवि प्रबन्धैः।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

अर्थात्—जिसका हृदय स्वभाव से ही पत्थर के समान है, जो जन्म-रोगी है, व्याकरण 'घोटते-घोटते जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, धटपट और अग्नि-धर्म से सम्बन्ध रखने वाली फक्किका रटते-रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता, उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और जितना अभ्यास कराएं, वह कभी कवि नहीं हो सकता। जैसे सिखाने से भी गधा गा नहीं सकता या अन्धा सूर्य-बिम्ब नहीं देख सकता।

एक: दल उन लोगों का है जो सारा दोष वर्तमान युग पर मढ़ते हैं। मराठी उपन्यास 'बाक बकुला' में एक तरुणी अपने चार स्खलनों की कहानी सुनाती है। उपन्यास की भूमिका में लिखा है कि जिन्हें पुस्तक में अश्लीलता जान पड़े, उन्हें मैं बता दूं कि आज का युग ही अश्लील है। प्रगतिवादी आलोचक कुछ इसी प्रकार का तर्क प्रयुक्त कर कहते हैं कि आज का युग ही ह्रास और सडांध का (Decadence) का युग है। अतः जो इसमें लिखा या कहा जायगा उस मर्ज से जरूर अछूता नहीं रह सकता।

तात्पर्य यह है आज की साहित्यकला में—कुरूहता, दुर्बोधता, ग्राम्य तथा अशिष्ट विषयों की चर्चा, मनोविकृति पूर्ण चरित्रों का चित्रण, यौन तथा अन्य मनोविकारों से ग्रस्त मानवों के संज्ञा प्रवाह का यथातथ्य वर्णन, कुण्ठा और त्रास, मनोदौर्बल्य और हताशता, एतादृश्यत्व से समझौता अथवा आत्म-हन्तामयी खीझ, बौखलाहट और एक डण्डे से सबको पीटने की पाशवी वृत्ति; अवर्ण्य की अवतारणा और जुगुप्सित

का जान-बूझ कर वर्णन बराबर बढ़ता जा रहा है।

इसके कुछ कारण जो आलोचकों ने सुझाये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) साहित्य-कला के वर्ण्य-विषय में ही दोष बढ़ते जा रहे हैं।

(२) ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है; अतः चेतना अधिक बहुमुखी और चक्राकार होती जा रही है।

(३) साहित्यकार का व्यक्तित्व कुचला हुआ और आत्मपीड़क है।

(४) साहित्यकार एकान्त व्यक्तिवाद का पोषण करता है। अतः उसकी चिन्ता—धारा ही कल्पनाश्रित 'रूपवाद' में खो गई है।

(५) साहित्य की अभिव्यञ्जना के नये-नये माध्यम और साधन बढ़ते जा रहे हैं। अतः साहित्यकार की प्रयोगशील अवस्था की यह तुतलाहट है।

(६) जीवन के विराट संघर्ष में साहित्यकार दिशि-हारा, पथ-हारा हो गया है। इसलिए राह न सूझने से वह अन्धेरे में टटोल रहा है।

(७) या, आज का पाठक और श्रोता ही विकृति का प्रशंसक और इच्छुक बन गया है। अतः फिल्मों के समान साहित्य और कला में भी एक प्रकार का सस्तापन, भद्दापन या हल्कापन आ गया है।[1]

मैंने कुछ कारण ऊपर सुझाये हैं। और भी कारण हो सकते हैं। मैं विस्तार में जाना नहीं चाहता। परन्तु एक तो हमें आज के साहित्य में अस्वास्थ्य को मान कर चलना चाहिये; और उससे लड़ने का यत्न करना चाहिये; अथवा फिर उसे एक अनिवार्य युग-रोग मान कर

---

1 अस्तित्ववाद के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं— भाव सामान्य निरपेक्ष है (Existence preceds emence) एवं जीवन चिन्ता, एकाकीपन तथा निराशा है (Anginish, despair and abandonment)। मनुष्य स्वयं के कार्यों के प्रति उत्तरदायी होने से आत्मनिर्माण करता है, जिसमें उसे उपस्थित घृणा, मुक्ति एवं नैराश्य में अपना मार्ग-निर्माण करना पड़ता है। —सम्पादक

स्वीकार करके चुप रहना चाहिये जो कि इष्ट नहीं। साहित्य में स्वास्थ्य कैसे लाया जा सकेगा, यह दूसरा विषय है, अतः दोषों के निराकरण की चर्चा अन्य प्रबन्ध में करूंगा।

---

*यह निबंध मूल रूप में परिमल-गोष्ठी, प्रयाग में सन् १६५० में पढ़ा गया था।

साहित्य अकादमी
नई दिल्ली

डा० प्रभाकर माचवे

प्रगतिवादी साहित्य और कला

यह कहना कि कला और समाज का अविच्छिन्न सम्बन्ध है कुछ न कहने के बराबर है। परन्तु यह कहना कि किसी विशेष समाज में कला उस समाज के अधिकारीवर्ग की रचना है और उसी वर्ग विशेष के उद्देश्यों की पूर्ति करती है, एक निश्चित मत है, भले ही वह सोलहों आने वैज्ञानिक न हो। कला को हम एक वर्ग विशेष के अस्त्र के रूप में अब तक देखते आये हैं। इस समय सारे संसार में दो पक्ष है—शोषक और शोषित। हमारे देश का सामाजिक प्रगति-क्रम आज ऐसी अवस्था पर पहुंच गया है, जहाँ हम समाज के दो मुख्य वर्गों, मेहनत करने वाले आम लोगों और विशेष अधिकार प्राप्त चन्द लोगों को अलग-अलग पहचान सकते हैं। दोनों के हितों का आपस में संघर्ष होता है। यह संघर्ष हमेशा मौजूद था। आज वह इतना साफ है कि हम उसे अनदेखा नहीं कर सकते। यह संघर्ष इतने महत्व का है कि यह हमारे सारे राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्य-क्रमों की कुञ्जी बनेगा। सामाजिक सन्तोष ही सच्चे प्रजातन्त्र की पहली माँग होती है। प्रगतिवाद इसी सामाजिक सन्तोष के लिए आर्थिक और आचारिक आधार प्रस्तुत करता है।

हिन्दी के प्रत्येक लेखक और कवि के सामने प्रश्न है—वह किधर जाना चाहता है? प्रत्येक बुद्धिजीवी के सामने यह सवाल है—उसकी प्रवृत्तियाँ उसे किधर ले जा रही हैं? हिन्दी के साहित्यिक को जागरूक बनना पड़ेगा—उसे अपना पक्ष चुनना होगा। शोषितों का पक्ष—जनता का पक्ष—लोक-पक्ष ही प्रगतिवाद है। दुनिया के किसी युग का कोई कला

कलाकार लोकपक्ष के विपरीत नहीं गया। आज दुनिया के प्रतिनिधि कलाकार इसी जन-पक्ष से स्फूर्ति और प्रेरणा पा रहे हैं। जिस साहित्य का आधार और विस्तार बलिष्ट जनतामयी लोकसत्तात्मक भावनाओं पर नहीं है, वह राष्ट्र और सस्कृति के साथ मजाक है। आज दुनियां के प्रत्येक देश में बढ़ती भूखों कङ्गालों की सेना अधिक समय तक इस मजाक को, इस बौद्धिक शोषण को बरदाश्त नहीं करेगी। सभी देशों में कलाकारों ने शोषकों, साम्राज्य-वादियों, फैसिस्टों के विरुद्ध लेखनी उठाई है। स्पेन की लड़ाई में यूरोप के बहुत से लेखकों ने कर्मक्षेत्र में पदार्पण किया। जनता का पक्ष ग्रहण करने के कारण कितने लेखक मारे गये—कितने कन्सेन्ट्रेशन कैम्प में बन्द रहे। कितनों को देश-निकाला हुआ।

प्रगतिवादी कला विलासिता या आलस बौद्धिकता की हिमायती नहीं है। वह दुर्धर्ष मानवता का विकासोन्मुख आदर्श-प्रेरित किन्तु यथार्थ जीवन-दर्शन सामने रखती है। वह गुलामी, अत्याचार और अन्याय का प्रतीकार करके स्वातन्त्र्य, क्रान्ति और न्याय के लिए लड़ने की दीक्षा देती है। प्रगतिवादी कला में कला की मूलगत ऊंचाइयों और गहराइयों में अन्तर नहीं आता। हिन्दी के कुछ प्रगति-विरोधी पेशेवर आलोचकों ने कला और चिरजीवी कला के नाम पर एक मुगालता खड़ा कर रखा है। वह अब मिटता जाता है। जनता यह समझने लगी है कि जो साहित्य समाज की, जनता की स्वस्थ वृत्तियों पर अवलम्बित न होकर बौने व्यक्तियों के छिछले व्यक्तिवाद पर आधारित है, वह एक बासी विलास है—झूठी या काल्पनिक आध्यात्मिकता है। स्वस्थ भावनाओं के हेतु संयुक्त क्रान्तिकारी सामाजिक दृष्टिकोण ही साहित्य का सच्चा दृष्टिकोण है। हम साहित्य में एक पराक्रमी उद्धत हेतुवाद की प्रतिष्ठा चाहते हैं। हिन्दी के सब से बड़े गद्य-लेखक प्रेमचन्द ने बराबर यही किया। आजीवन उन्होंने लोक-भावना की महान परम्परा को आगे बढ़ाया और सामाजिक असंगतियों के विरुद्ध अपनी प्रबल आवाज उठाई। जीवन की वैसी सच्ची वैज्ञानिक आलोचना उनके बाद हमें न मिली। आत्म-ज्वाला और आत्म-विश्लेषण के नाम पर चलने वाला रुग्ण व्यक्तिवाद साहित्य में चल पड़ा।

तो जनता विरोधी नीति के आधार पर खड़ा होकर जो अस्वस्थ व्यक्तिवाद हिन्दी साहित्य में उग आया है, वह कब तक चलेगा? कब तक फासिस्टों द्वारा किये गये इस वैचारिक षड्यन्त्र में हमारे कलाकार योग देते रहेंगे? कब तक समाज की भयङ्कर राष्ट्रीय और आर्थिक हलचलों से इस

अन्न-सङ्कट और वस्त्र-सङ्कट से वे उदासीन रहेंगे? राष्ट्रीय सामाजिक स्थितियों की कठिनाइयों और सङ्घर्षों में वे क्यों नहीं दिलचस्पी लेते? हमारी साँस्कृतिक आकांक्षाओं की ऊष्मा, भव्यता और तेज क्यों नहीं उनकी कृतियों में मुखर होता? उच्च मानवता की स्थापना के भौतिक आधारों पर क्यों उनका विश्वास दृढ़ नहीं होता? पराजयवादी भाग्यदर्शन और पराजित देश के मुर्दा संस्कारवाद को वे क्यों अब तक नई दृष्टि से नहीं देख सके? वे जितने अन्तर्मुख हैं उतने बहिर्मुख क्यों नहीं हो जाते? विशाल जीवन क्षेत्र की व्यापक और मूल समस्याओं की ओर क्यों उनकी दृष्टि नहीं जाती। जाग्रत प्रबुद्ध भारत की आकांक्षाओं के साथ वे क्यों नहीं चलते? वह व्यक्ति से अधिक प्रतीक और देश के सब से बड़े समूह के प्रतिनिधि क्यों नहीं हो जाते? देश के सामाजिक अङ्गों के नये वर्गीकरण में वह अपना स्थान क्यों नहीं लेते?

प्रगतिवादी साहित्य में कला वह नशा बन कर नहीं आती जिसके सपनों में मानव दरिद्रता और शोषण के बीच एक सूक्ष्म अतीन्द्रियवाद के ऐश्वर्य में निश्चिन्त आनन्द से दिन काट सके। इसके विपरीत प्रगतिवाद में, सामाजिक परिवर्तन और प्रगति के ऐतिहासिक आन्दोलनों में कला का स्थान निश्चित और सकर्मक होता है। मार्क्स ने ठीक ही कहा है कि मानव समाज का इतिहास वर्गद्वन्द्वों का इतिहास है। काल विशेष में वह सङ्घर्ष मूलगत सामाजिक और असङ्गतियों की उपस्थिति के कारण स्वयं एक क्रिया बन जाता है जो उस समय तक स्थापित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध एक विस्तृत अन्तर्विरोध के रूप में चलती है। विशाल भूखण्ड का ऐतिहासिक वास्तविक रूप, दरिद्रवर्गों का भयावह जीवन संग्राम, उनकी विजय गाथा, यूरोपीय और देशी पूंजीवाद के आघात से उनकी पराजय और रूस की क्रान्ति के अधिनायकत्व में उनकी पुनः जय-यात्रा प्रगतिवादी साहित्य में अङ्कित हो चली है। इतिहास का भयावह क्षमाहीन रूप हम उसमें देख रहे है। साहित्य को आज अन्ध-श्रद्धा का वाहन न बना कर एक सजीव गतिशील सामाजिक और सांस्कृतिक विज्ञान माना जा रहा है। प्रगतिवादी साहित्य में कला समाज के स्वातन्त्र्य के महान आदर्श को सामने रख कर चलती है।

साहित्य में कला के स्थान-निरूपण की चर्चा के साथ समाजवादी आदर्श की रेखा-लेखा सुन कर चौंकने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में कलाकार की जिम्मेदारी होती है। यह आवश्यक है कि वह

उसके पक्ष या विपक्ष में सोचे और काम करे। निरपेक्षता और कला की उदासीन ऐकान्तिकता की दुहाई देकर वह बुराई में बढ़ावा ही देगा। अपने अन्नदाता समाज से उसका यह विश्वासघात होगा। मनुष्य के मन में भावी समाज व्यवस्था को न्याय एवं साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए कल्पना को वास्तव रूप प्रदान करने की प्रेरणा कलाकार को देनी होगी। केवल अवचेतन मन की अस्फुट, अबुद्ध, सुषुप्त अनुभूतियों को जाग्रत करना ही कला का ध्येय नहीं है, जैसे बहुत से क्षेत्रों में आधुनिकता और प्रगति के नाम पर समझा जा रहा है। प्रज्ञावाद का आधार लेकर उसे चलना होगा। मानव संस्कृति की प्रवाहमान धारा को आगे बढ़ाना, स्रोत के मार्ग के रोड़े, पत्थरों को अलग करना उसका ध्येय है। उसकी गति मानवता की ओर है। आखिर मुट्ठी भर लोगों के मनोरञ्जन और उपभोग के लिए समाज के सुख-दुःख की उपेक्षा कब तक होगी? अवचेतन मन की लीलाओं को लेकर कब तक कलाबत्त्-बाजी होगी? मन के गहन प्रदेश में चलने वाले परस्पर-विरोधी, असंलग्न विचारों के सङ्घात कब तक रस और माधुर्य के नाम पर हम पर लादे जायेंगे? श्रेणी सीमा में बंधे होने के कारण जो कलाकार जनता के दैनिक संग्राम में पूर्ण आत्म-नियोग करने के बजाय अपनी कुलीनता के प्रति चेतन बने रहना ही ध्येय बना लेते हैं, वे फाशिज्म और साम्राज्यवाद के जुड़वां सांप पर कैसे मारात्मक प्रहार कर सकेंगे? एक बात और है—प्रगतिवादी साहित्य में कला की यह मान्यता है कि बुद्धिजीवी और श्रमिकों के सम्मेलन के बिना फाशिज्म के फन्दे से संस्कृति की रक्षा होना असम्भव है। यथार्थ वातावरण में—जनता के दैनिक संग्राम के मध्य में, जीवन का जो इतिहास बनता है वही सच्चा होता है।

रवि बाबू की उक्ति याद आती है। अपनी रूस-यात्रा को उन्होंने जीवन की तीर्थ-यात्रा कहा था। चीन पर जापानी आक्रमण को जब कवि नागूची ने संस्कृति प्रसार के लिए किया गया आक्रमण बताया था तो उन्होंने कठोर शब्दों में उस जापानी सैनिकवाद के गुलाम कवि को फटकारा था। मनुष्यता के विकास के लिए स्वतन्त्रता और संस्कृति के विकास के लिए समानता आवश्यक है। प्रगतिवादी कलाकार प्राण दे देगा परन्तु अपनी कला को जनता-विरोधी और विपथगामी न होने देगा। वह व्यवस्थित, सुसंयत और सङ्गठित रूप से सामाजिक विरोधों, अन्यायों, अत्याचारों और दम्भों से लड़ता चलेगा। फैसिज्म का नाश हो जाने पर भी वह उससे

आजीवन घृणा करेगा। उसके साथ रोमा रोलाँ, गोर्की, आरी बार ब्यूस, अप्टन सिन्कलेयर, राल्फ फाक्स, कारवेल, टालर और प्रेमचन्द की बलिष्ट लोक-भावना की परम्परा है। कला की यही सच्ची परम्परा है। यही उसका सच्चा स्वरूप है, जो प्रगतिवाद में सुरक्षित है।

प्रगतिवादी साहित्य में कला की एक और मान्यता है जिसे आज पेशेवर विरोधियों द्वारा न समझने का यत्न किया जा रहा है। वह यह है कि यौन सम्बन्ध ही जीवन के सम्पूर्ण सम्बन्ध नहीं हैं। प्रत्येक सत्य शिव नहीं होता और सुन्दर तो बिलकुल नहीं होता। यथार्थ और वास्तव के नाम पर अपनी कृतियों में सामाजिक सम्बन्धों के गंदले चित्रों को अङ्कित करना और वह भी निरुद्देश भाव से केवल चित्रण के लिए चित्रण प्रगतिवादी चिन्ताधारा और कला प्रणाली में स्थान नहीं पाते। समाज की बुराइयों को देख कर उन्हें ठीक वैसा ही, बिना उनके कारणों को पकड़े और जाने, चित्रित करना, सीमेण्ट से पटी नालियों के नीचे बहने वाले मलमूत्र को ज्यों का त्यों पाठक के मुंह पर फेंक देना एक बात है और समाज के गर्भ में पनपती और बाढ़ की तरह बहती हुई उन ताकतों को सजग, सबल सक्षम ढङ्ग से पेश करना, जो उस मैले को और उसके पैदा करने वालों को साथ-साथ समाप्त कर देंगी, दूसरी बात है। मनुष्य की विराट, दुर्जेय जीवन-शक्ति की परिचायक स्थितियों का चित्रण प्रगतिवादी कला में होता है। साहित्य भी एक क्रिया है जिसकी अवस्थाएं होती हैं। यह क्रिया और उसकी अवस्थायें सामाजिक प्रगति की क्रिया और अवस्थाओं पर निर्भर हैं। साहित्य इतिहास का सहचर है। इतिहा.. घटनाओं के घटित होने के पूर्व नहीं लिखा जा सकता। प्रगतिवादी कला की रचना सामाजिक आन्दोलनों के आधार पर होगी। यही समाज चेतना और ऐतिहासिक बोध प्रगतिवादी कला का मेरुदण्ड है। जीवन की वास्तविकता से भाग कर छायामयी और रहस्य की दुनिया की तीर्थ-यात्रा उसमें नहीं होती।

प्रगतिवादी कला को अक्सर प्रचार का एक सङ्गठित दस्ता कहा जाता है। परन्तु कला की जो एक असाधारणता, विन्यास-सुघरता और सौन्दर्य-योजना की पूर्णता की सत्ता होती है उससे प्रगतिवादी ने कब इनकार किया है। उद्देश्य और हेतु का प्रश्न साहित्य में वह अवश्य खड़ा करता है। परन्तु साहित्य और कला के ऊपर फैसिस्ट निजाम में जो बन्धन

लगाये गये है उनका विरोध प्रगतिवाद ने किया है। जीवन की प्रत्येक स्वस्थ्य प्रवृत्ति के लिए प्रगतिवादी कला में स्थान है। साहित्यिकों के ऊपर सैनिक अनुशासन लगाने वाली राजकीय आज्ञाओं का उसमें प्रबल विरोध हुआ है। हर युग और हर देश में जीवन से दूर हटते हुए लेखकों का एक दल रहा है जिसने सदैव जीवन और साहित्य में निकटता की स्थापना का विरोध किया है और करता रहेगा। परन्तु ज्यों-ज्यों उसका सामाजिक प्रगति के नियमों का ज्ञान बढ़ेगा, त्यों-त्यों उसका विरोध कम होता जाएगा। वर्तमान को सर्वथा व्यर्थ एवं नैराश्यपूर्ण समझने की प्रवृत्ति घटती जायगी। आधुनिक महाजनी सभ्यता ने जीवन में जो सन्देह, अविश्वास, आस्थाहीन और अश्रद्धा लाकर भर दी है, वह नष्ट होती चलेगी।

प्रगतिवादी कला के अन्तर्गत यन्त्र-विज्ञान की असीम उन्नति, मनः समीक्षाशास्त्र की नवीनतम प्रणाली और परिणति, फासिस्ट मलवाद के शव पर एक युग से असफल पड़े गणतन्त्र का अभ्युत्थान, समाजवाद का व्यापक प्रचार, राष्ट्र एवं सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण रूपान्तर ये सभी क्या जाते हैं? जीवन के आदर्श के, सँस्कृति की धारा के सारे उतार-चढ़ाव उसमें है। निश्चित जीवन-दर्शन और नूतन रसादर्श की नियोजना उसमें होती है। लोगों के परम्परागत विश्वास क्यों उठ रहे है—आस्तिक बुद्धि की भित्ति ढह रही है—इसके कारणों को विस्तार से उसमें समझाया जाता है। आत्म केन्द्रिकता से उत्पन्न होने वाली सिम्बालिस्ट और इमेजिष्ट कला की भांति वह केवल कलाकार की बुबुर्गी अहम् की तुष्टि नहीं है, वरन् वर्तमान क्षयी समाज-व्यवस्था को नष्ट करने और न्याय एवं साम्य के ऊपर भावी समाज की प्रतिष्ठा का कर्मशील आग्रह उसमें है। मनुष्य के मन की स्वस्थ्य स्वाभाविक बुद्धि-वृत्तियों का मजाक बनाने वाली 'सुररियलिज्म' की रचनायें इस ह्रासोन्मुख समाज के साथ-साथ खत्म हो जायेंगी। प्रगतिवादी कला में सामाजिक परिस्थितियों के प्रति मनुष्य के विक्षुब्ध मन और आत्मा के प्रकाश को फैलाकर जटिल नैतिक प्रश्नों और उसकी भौतिक, द्वन्द्वात्मक चेष्टाओं की सूक्ष्म आलोचना मार्क्सवादी चेतनाओं की नई जमीन पर की जाती है। जीवन को नर्क के समान धूसर, रुक्ष और वीभत्स देखकर भी प्रगतिवादी कलाकार नैराश्यवाद, अवसाद और न्यूरासिस से ग्रस्त चित्रण को पनाह नहीं देता। महापण्डित राहुल जी की कृतियाँ, भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नवीनतम उपन्यास 'निमन्त्रण' और यशपाल का नया उपन्यास 'देशद्रोही' प्रमाण स्वरूप पेश किये जा सकते हैं। इतिहास की अनिवार्यता को

साहित्य में स्वीकार करना ही होगा।

प्रगति-विरोधी पुरानी मान्यताओं और रूढ़ियों में मग्न साहित्यकार साहित्य में इन नये जीवन तत्त्वों के प्रवेश से क्यों घबराते हैं? अपने विश्रृङ्खल मानसिक अनुभवों से कला को रञ्जित करते रहने के बजाय वे ए: अखण्ड जीवन बोध उसमें क्यों नहीं देते? उन्हें यह मानने में क्या एतराज है कि स हित्य जीवन को अच्छा बनाने का, जीवन पर अधिकार करने का एक अस्त्र है? और यदि मानते हैं, तो वे इस दृष्टिकोण का मानसिक रूप से साथ क्यों नहीं दे पाते? उनके जीवन रहित, साहित्यिक मकड़ी के जाले, कब तक बुने जायेंगे? सच तो यह है कि सामाजिक प्रगति और आन्दोलनों को समझे बिना ईमानदार कलाकार रचना नहीं कर सकता। साथ ही भविष्य का साथ दे सकने के लिए उसे जन-जीवन और जन-आन्दोलनों की प्राण-वाहिनी क्षमताओं का रस खींचना होगा। तभी उसके जीवन की और कला की आवश्यकतायें पूरी होंगी। प्रगतिवादी कला जनता के मनोबल के नीचे के स्तर को ऊपर उठाती है। देश-जीवन की संयुक्त और संगठित शक्ति को जाग्रत करती है। नासमझी या असहायता के भाव से पैदा होने वाली साहस-हीनता, निराशा और निष्क्रियता के लिए उसमें स्थान नहीं। मुर्दा अवसाद और तज्जनित गतिरोध का खात्मा करना उसका लक्ष्य है।

इतिहास में—प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के इतिहास में, समूची मानव जाति के इतिहास में, ऐसे अवसर कम आते हैं जब जीवन की मांगें मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा, आकांक्षाओं के साथ पूर्ण रूप से विनिमय कर सकें। आज वही समय आ गया है। प्रेरणा से भरे हुए अग्रसर, नई दुनिया के निर्माण में अपने अनुराग और लगन की ज्वाला में सुलगते हुए कलाकारों का दल आज साहित्य की एक नूतन व्यवस्था का निर्माण कर रहा है। वह सौन्दर्यात्मक निराशावाद, जो एक युग तक उनके पीछे पड़ा रहा, आज छूट गया है। प्रगतिवादी कला में उन सभी परिवर्तनों का उल्लेख होता है जो सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों में हो रहे हैं। जिन्होंने उनको कभी नहीं देखा—जिन्होंने उनके देश को कभी नहीं जाना, उन करोड़ों आदमियों का पक्ष लेकर धन के राक्षसों और उनके चापलूस लेखकों के विरुद्ध प्रबल विरोध प्रगतिवादी कला में मिलेगा। पूंजीवादी निर्दयता और मानवीय सम्बन्धों की पूंजीवादी विकृति सदा के लिए खत्म कर देने को वह कटिबद्ध है। युद्ध ने नई सृजन शक्ति भर दी है। अपने अधिकारों के लिए लड़ने

वाली देश की मेहनतकश जनता के असीम उत्साह, उद्दाम विवेक भावना और आत्म-बलिदान को प्रकट करना प्रगतिवादी कला का लक्ष्य है। आज प्रगति की शक्तियां और उसकी विरोधी ताकतें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्तिम युद्ध के लिए सङ्गठित हो रही है। तमाम विरोधी शक्तियों के खिलाफ संयुक्त मोर्चे की आवाज उठ रही है। जनता के वास्तविक मुक्ति संग्राम के सर्वाग्रगामी भावादर्श को लेकर प्रगतिवादी कला के उपादान चलते है। रैल्फ फाक्स ने ठीक ही लिखा है कि मार्क्सवाद रचनात्मक कलाकार को वास्तविकता की कुञ्जी सौंप देता है, जिससे वह देख सके कि प्रत्येक व्यक्ति का आश्रय और स्थान उसमें क्या है, साथ ही मार्क्सवाद बहुत सावधानी से मानव को उसके सम्पूर्ण मूल्य का आभास कराता है।

प्रगतिवादी कला में गतानुगतिकता, रूढ़ि-पूजा का आदर नहीं, क्योंकि जहाँ यह होगा वहां प्राणों का स्पन्दन, जीवन का स्फुरण और नव-नव शक्तियों का उन्मेष नहीं मिलेगा। मानव-जीवन स्थितिशील होकर कभी नहीं रह सका है। वह या तो आगे बढ़ेगा या पीछे की ओर हटेगा। इसलिए परिवर्तन की अवहेलना करके स्थिरत्व की कामना करना, समाज-विज्ञान की गति से अनभिज्ञता प्रकट करना है। जिन जीर्ण पुरातन आदर्शों में अब सृजन-शक्ति नहीं रह गई है उनकी पूजा करते समय हमें 'नित्शे' के शब्द याद रखने चाहिये—'स्मारक से सचेत रहो ताकि उसके नीचे दब कर मर न जाओ।' प्रगतिवादी कला में मानव के आत्म-विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। मुट्ठी भर धनिक विलासी लोगों के जीवन के सङ्गी—फूल, चांदनी मलय पवन की अपेक्षा नित्य-जीवन के साथी—धुआं, धूल, धक्का और मिट्टी के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है। उसमें साम्यवादी समाज का रूप निखरता है और श्रमजीवियों को मुक्ति संग्राम में भाग लेने की प्रेरणा रहती है। जीवन के समस्त दुःख, कष्ट, नैराश्य एवं व्यर्थता के बीच भी भविष्य का ज्योतिर्मय रूप सामने रहता है। प्रगतिवादी कला मानव मन को समाज-चेतना, वर्ग-सङ्घर्ष एवं ऐतिहासिक बोध की वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित करती है। Thoughts of a dry brain in a dry season—मनुष्य की मुक्ति नहीं, जीवन का परित्राण नहीं, ध्वंसोन्मुख धनिक सभ्यता के क्षयी कलेवर को देख-देख कर नैराश्य का शोक सङ्गीत गाना—जीवन की पंगुता, उसकी गतिछन्द शिथिलता, वैराग्य, नैराश्य सर्वजन सम्मत कर्तव्य ज्ञान के विरुद्ध विद्रोह, ये सब हमारी कला से बहिष्कृत

हो चुके हैं और उनके स्थान पर आकर खड़ा हुआ है—व्यक्ति द्वारा व्यक्ति, वर्ग द्वारा वर्ग, देश द्वारा देश के शोषण के नाश का, जन-शक्तियों के उदय और जागृति का उज्ज्वल सन्देश ।

शिवकुटी; नेपियर टाउन
जबलपुर (म० प्र०)

उ० अञ्चल

हिन्दी आलोचना : अगला कदम

हिन्दी में आधुनिक अर्थात् योरोपीय ढङ्ग की आलोचना का आरम्भ हुए प्रायः तीन-साढ़े-तीन दशाब्द ही बीते हैं। इस छोटी अवधि में हिन्दी-समीक्षकों तथा साहित्यकारों ने अनेक वादों की आजमाइश की है। हमारे लेखक ही नहीं, आलोचक भी समय-समय पर रहस्यवाद तथा छायावाद, प्रगतिवाद अथवा मार्क्सवाद, प्रतीकवाद एवं प्रयोग-वाद के समर्थक रहे हैं; और हैं। इन वादों के उत्थान से पूर्व के महत्वपूर्ण समीक्षक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल भी वाद-मुक्त न थे— वे एक प्रतिगामी सीमा तक मर्यादावादी थे। इनके अतिरिक्त राष्ट्रवाद, अभिव्यञ्जनावाद तथा मनोविश्लेषणवाद के नारे भी जब-तब सुनाई देते हैं। हाल ही में अतिवस्तुवाद (Surrealism) तथा अस्तित्वव.द (Existentialism) की चर्चा भी छिड़ने लगी है।

कोई भी साहित्यिक-वाद दो में से एक का आश्रय लेकर खड़ा होता है, एक विशिष्ट जीवन दर्शन का, अथवा एक निराली शैली का। यह विभाग स्थूल रूप में ही सही है, वास्तव में जीवन दर्शन तथा शैली—दोनों विशेष प्रकार की अनुभूतियों का आधार लेकर ही अभिव्यक्ति पाते हैं। छायावाद और प्रगतिवाद का सम्बन्ध विशिष्ट जीवन-दर्शनों से रहा है, यही बात मर्यादावाद और राष्ट्रवाद पर भी लागू है। इसके विपरीत अतिवस्तुवाद तथा प्रयोगवाद—मुख्यतः शैलियों के भेद जान पड़ते हैं। किन्तु यदि गहराई में घुस कर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि उक्त सब वादों का सम्बन्ध अनुभूति के विशिष्ट क्षेत्रों से है।

बात यह है कि अपनी समग्रता में मानव जीवन नितान्त विविधता-

पूर्ण और जटिल है। विभिन्न वाद उस जीवन के विभिन्न अङ्गों अथवा क्षेत्रों को ज्यादा महत्व देते तथा साहित्यकार से तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की माँग करते हैं। इसी के फलस्वरूप प्रत्येक वाद दूसरी कोटि के अनुभूति के प्रकाशन को महत्व नहीं देना चाहता। उदाहरण के लिए, छायावादी कवि जीवन की माँसल अभिव्यक्ति से कतराते थे और लौकिक प्रेमानुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति को भी अलौकिक प्रतीकों में बांध कर व्यक्त करना चाहते थे। छायावाद की स्वच्छन्द वैयक्तिकता के विरुद्ध प्रगतिवाद साहित्यकार से सामाजिक अनुभूति की माँग करता है। शुक्ल जी का आग्रह था कि लेखक जीवन की अभिव्यक्ति प्राचीन भारतीय मर्यादाओं के भीतर करे। हिन्दी के प्रगतिवादी भी एक प्रकार के मर्यादावादी है, यद्यपि उनका मर्यादावाद मार्क्सीय भौतिकवाद तथा सामाजिक यथार्थवाद की सीमाओं में आबद्ध है। मनोविश्लेषणवाद स्पष्ट ही विशेष प्रकार के अनुभवों की अभिव्यञ्जना को महत्व देता है; अतिवस्तुवाद भी उसी से सम्बद्ध है। प्रयोगवादी भी वास्तव में कवि से ऐसी अनुभूति का प्रकाशन माँगता है, जो परम्परागत मूल्यों पर आधारित नहीं है। वह शब्दों के ऐसे प्रयोगों का पक्ष पाती है, जिसमें उनके पुराने अनुषङ्गों को (और ये अनुषङ्ग सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि की मूल्य भावना से सम्बद्ध रहते हैं) पूर्णतया परित्यक्त कर दिया गया है।

प्रश्न है—जीवन अथवा जीवन दर्शन के सम्बन्ध में सोचने का, युग-जीवन को आंकने और उसके दिशा-निर्धारण का कार्य किसका है? पुराने जमाने में धर्म-शिक्षक तथा दार्शनिक जनता को भलाई-बुराई की शिक्षा दिया करते थे। आज धर्म-शिक्षकों का महत्व बहुत कम हो गया है। प्राचीन धर्मों की मान्यता भी जाती रही है। और दर्शन जीवन से तटस्थ होते जा रहे हैं। आज दर्शन की अपेक्षा विज्ञान की मान्यता बढ़ गई है। भौतिक जगत के बारे में तो दर्शन का कुछ भी कहना अनधिकार चेष्टा समझी जाती है। इसके अलावा बर्ट्रेंड रसेल तथा 'लाजिकल पाजिटिविज्म' का कहना है कि धर्म-अधर्म, अच्छाई-बुराई, सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि मूल तत्व (Values) वैज्ञानिक चिन्तन के विषय नहीं हो सकते—वे केवल भावना के विषय है। और चूँकि भावना अवैज्ञानिक है इसलिए जीवन मूल्यों के सम्बन्ध में कोई निश्चित एवं सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त नहीं दिया जा सकता। मतलब यह कि बीसवीं शताब्दी का दर्शन जीवन दर्शन नहीं रह गया है। निष्कर्ष यह कि आज का लेखक अपनी जीवन-दृष्टि बताने

के लिए, न धर्म-शिक्षकों पर निर्भर रह सकता है, न दार्शनिकों पर। वस्तुतः आज विचारशीलों का जीवन दर्शन मुख्यतः विभिन्न भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों की खोजों में प्रभावित एवं निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त लेखक को अपनी मानवीय सम्वेदना का आश्रय लेना पड़ता है।

हम पूछ रहे थे—जीवन के सम्बन्ध में चिंतन करने का अधिकार किसे है? साहित्य के क्षेत्र में यह हमारा निश्चत मत है—यह अधिकार लेखक को है, समीक्षक को नहीं। जीवन का द्रष्टा साहित्यकार होता है, न कि समीक्षक। अपनी विशिष्ट हैसियत से—समीक्षक साहित्य का पारखी है; साक्षात जीवन का पारखी नहीं। समीक्षक की हैसियत से वह साहित्य के गुण-दोषों की परख करता है, जीवन के विभिन्न पक्षों की आलोचना उसका काम नहीं है। यदि कोई समीक्षक यह समझता है कि उसके पास मानव-जीवन एवं मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति के सम्बन्ध में महत्व पूर्ण विचार है, तो उसे उन विचारों को, समाज-दर्शन अथवा समाज विज्ञान के रूप में दुनिया के समने पेश करना चाहिए—साहित्य समीक्षा इस तरह के विचारों के प्रदर्शन का स्थान नहीं है। जो समीक्षक एक समाज-दार्शनिक अथवा समाज-वैज्ञानिक के रूप में प्रसिद्ध नहीं है उसे यह अधिकार नहीं कि वह साहित्यिक समीक्षा में लेखकों को जीवन-दर्शन का उपदेश दें। जब कोई समीक्षक लेखक को इस प्रकार का उपदेश देता है, तब प्रायः वह किसी न किसी न्यूनाधिक प्रचलित जीवन-दर्शन की दुहाई देता है। किन्तु एक स्वतंत्र जीवन द्रष्य होने के कारण साहित्यकार ऐसी किसी भी दुहाई से विचलित होने को बाध्य नहीं।

कहा जा सकता है, कि जीवन सम्बन्धी चिन्तन की क्षमता में समीक्षक भले ही लेखक का समकक्ष न हो, किन्तु जिन प्रसिद्ध जीवन दर्शकों अथवा चिन्तकों की वह (समीक्षक) दुहाई देता है वे अवश्य ही लेखक के समकक्ष अथवा उससे ऊंचे थे। उदाहरण के लिये एक मार्क्सवादी समीक्षक स्वयं भले ही बढ़िया विचारक क्यों न हो, किन्तु जिस कार्ल मार्क्स के नाम पर वह किसी लेखक या कृति को भला बुरा कहता है, वह अवश्य ही एक बड़ा चिंतक था, जिसकी बात लेखक को मान्य होना चाहिए। उत्तर में हमें दो निवेदन करने हैं। प्रथमतः जीवन के जिस विशिष्ट क्षेत्र के सम्बन्ध में लेखक बातचीत करता है, उसकी जानकारी उसे दार्शनिकों तथा समाज-शास्त्रियों से अधिक है। दूसरे मार्क्स, जैसे दर्जनों समकक्ष

विचारकों के जीवन के बारे में परस्पर-विरोधी मंतव्य प्रतिपादित किये हैं; अतएव लेखक किसी एक के विचारों को मानने के लिये बाध्य नहीं है, कोई कारण नहीं कि लेखक अपनी स्वतन्त्र चिंतन-शक्ति से काम न लेते हुये शंकर अथवा हीगल के अध्यात्मवाद एवं मार्क्स अथवा एंगेल के भौतिकवाद को स्वीकार करके चले। यह भी मुमकिन है कि लेखक को जीवन के एक विशिष्ट पहलू की अभिव्यक्ति में शंकर एवं मार्क्स-दोनों की शिक्षायें अप्रासंगिक जान पड़ें। किसी भी दशा में समीक्षक को यह अहंकार पूर्ण दावा करने का अधिकार नहीं है, कि जीवन और उसकी जरूरतों के बारे में वह लेखक से अधिक जानकारी रखता है।

एक उदाहरण लीजिये। गांधी जी एक वीर पुरुष थे या नहीं, इस प्रश्न का निर्णय कौन करेगा ? लेखक अथवा समीक्षक ? एक प्रगतिवादी समीक्षक कह सकता है कि गांधी जी की अपेक्षा लेनिन अथवा स्टालिन श्रेष्ठतम महापुरुष था, इसलिए हिन्दी के कवि को स्टालिन के जीवन पर महाकाव्य लिखना चाहिए, गांधी के नहीं। स्पष्ट ही गांधी के कवि को अहिंसावाद का समर्थन करना होगा, जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। अहिंसावादी न होते हुये भी लेखक यह सोच सकता है कि महा काव्य का नायक कोई राष्ट्रीय नायक होना चाहिए या महापुरुष। (यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दुस्तान की कम्युनिष्ट पार्टी ने कोई ऐसा महापुरुष उत्पन्न नहीं किया।) ऐसी दशा में कट्टर कम्युनिष्ट लेखक किसी भारतीय महापुरुष पर कैसे काव्य लिख सकता है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने मेघनाथ वध में रावण और उसके पुत्र को सहानुभूति दी है लेकिन वे भी एक प्रकार के भारतीय पात्र हैं। प्रश्न है क्या एक हिन्दू आलोचक 'मेघनाथ-वध' के काव्य-सौष्ठव को दाद दे सकता है ? और क्या एक कम्यूनिष्ट आलोचक गांधी के व्यक्तित्व पर लिखे हुए काव्य या नाटक का सही मूल्यांकन कर सकता है ? क्या किसी समीक्षक के लिये यह निर्णय देना सम्भव नहीं है कि ईसाई दांते तथा हिन्दू तुलसीदास दोनों ही श्रेष्ठ कवि है ? और यदि समीक्षक अतीत साहित्यकारों के जीवन दर्शनों के सम्बन्ध में उदार हो सकता है, और यह सहन कर सकता है कि आज के पाठक भौतिकवादी ल्यूक्रीशियस एवं कट्टर धार्मिक दांते दोनों का अध्ययन करे, तो क्या वह आज के साहित्यिकों के सम्बन्ध में वैसी ही दृष्टि नहीं रख सकता ? क्या जरूरी है कि इस युग के सारे साहित्यकार एक ही जीवन-दर्शन के अनुयायी हों ? वस्तुतः आज के युग में जबकि

भूमंडल की असंख्य संस्कृतियां एवं विचारधारायें हमारी चेतना के सम्मुख एक साथ उपस्थित हो गई है, किसी लेखक से एक कट्टर जीवन दर्शन की मांग करना हठधर्मी ही नहीं, हद दर्जे की मूर्खता है।

इतनी भूमिका के बाद अब हम हिन्दी आलोचना की ओर लौटें। हमारा ख्याल है कि पिछले तीस वर्षों की हिन्दी-आलोचना-साहित्य में अभिव्यक्त जीवन दर्शन को कुछ ज्यादा महत्व देती आई है। यह नहीं कि इसका कोई ऐतिहासिक कारण नही है लेकिन कारण तो सही गलत सभी घटनाओं तथा क्रियाओं का होता है। पिछले तीन दशकों में मनुष्य के जीवन तथा विचारों में अनेक क्रांतियां हुई हैं, अनेक विश्वास बने और बिगड़े है, बहुत सी पुरानी मान्यताएं बह गई है, मानवीय जीवन तथा संस्कृति की बाहरी परिस्थितियो में भी बड़े उलट फेर हुये हैं। पिछले तीन चार दशकों में दो बड़े महान युद्ध हुये और विनाश के यन्त्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई। ऐसे संकटो की स्थिति में यदि जनता असहाय भाव से अपने लेखकों तथा कवियों से त्राण कर सकने वाले जीवन-दर्शन की मांग करे तो आश्चर्य नहीं। यह भी स्वाभाविक है कि लेखक लोग अपनी शक्तियों के अनुसार, इस मांग को पूरा करने का प्रयत्न करें। और यह भी अनिवार्य है कि समीक्षकों की दृष्टि साहित्यिक कृतियों के विचार-तत्व की ओर आकृष्ट हो। किन्तु किसी लेखक के विचारों पर दृष्टिपात करने और उन विचारों को मूल्यांकन का पैमाना बना डालने में अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करना ही प्रस्तुत लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

छायावाद के पारखियों ने उसके काव्य सौष्ठव का विश्लेषण करने के प्रयत्न किये, यह उचित ही था। किन्तु इसके साथ एक घांधली भी चलती रही। रहस्यवाद के नाम पर छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल, तथा अप्रकाश रचनाओं की भी जी खोल कर प्रशंसा की जाती रही। कवि तथा आलोचक दोनों के हाथों में एक विशेष जीवन दर्शन, जिसकी उन दिनों रवीन्द्र आदि के प्रभाव के कारण मान्यता थी—छायावाद की अभिव्यक्तिगत दुर्बलताओं पर पर्दा डालने का अस्त्र बन गया। हमने कहा कि छायावाद के आलोचकों ने उक्त काव्य के गुण-दोषों का विशुद्ध कलात्मक विवेचन भी किया, किन्तु प्रगतिवादी आलोचकों ने अभिव्यक्तिगत सौष्ठव अथवा पूर्णता की एकदम ही उपेक्षा की, और बेतकल्लुफ होकर साहित्यकारों से विशिष्ट जीवन दर्शन की मांग करने लगे। मुख्यतः प्रगतिवादियों के प्रचार से आज उपयोगी जीवन-दर्शन की मांग इतनी प्रबल हो गई है, कि हम यह भूल

ही गये हैं कि समीक्षक का प्रधान कार्य साहित्यकार के जीवन-दर्शन को परखना नहीं है। समीक्षक साहित्यकार के जीवन-दर्शन की बिलकुल ही उपेक्षा करे—यह आवश्यक नहीं; किन्तु किसी भी दशा में समी॰ से उस योग्यता की अपेक्षा नहीं की जा सकती, जो जीवन-दर्शन के मूल्यांकन के लिये आवश्यक है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि एक साहित्य-समीक्षक अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद-जैसे दुरूह दार्शनिक सिद्धान्तों एवं विवादों पर निर्णय देने की क्षमता से सम्पन्न होगा। दार्शनिक चिन्तन की गम्भीर 'डिसिप्लेन' में गये बिना जो समीक्षक ऐसा समझने लगते है, वे अनधिकार चेष्टा के अपराधी होते है। आस्तिकवाद तथा नास्तिकवाद—दोनों सिद्धातों का मानव-जीवन तथा मानवीय संस्कृति के लिये अलग-अलग तरह का महत्व है; किसी समीक्षक को यह अधिकार नहीं कि वह लेखक को इस सम्बन्ध में शिक्षा देने का प्रयत्न करे। लेखक को यह पूर्ण अधिकार है कि वह मानवता के कल्याण के लिए उस किसी भी जीवन-दर्शन का, जिसे उसकी संवेदना तथा बुद्धि स्वीकार करती है, प्रचार संकेत करे। हमारा यह मन्तव्य जनतन्त्र के अनुकूल तो है ही, विश्व के मनीषियों की उस सङ्घर्ष-परम्परा के भी अनुकूल है, जो लगातार विचार-स्वातन्त्र्य की उपलब्धि के लिए अनुष्ठित होती रही है।

संसार के समस्त जीवन-दर्शनों के ऊपर है—मानव-जीवन का सत्य। अपने ढङ्ग से साहित्यकार भी जीवन-विषयक सत्य को प्रगट करने का प्रयत्न करता है। इस सत्य को स्वीकृत दर्शनों द्वारा सीमित करने की छूट नहीं दी जा सकती। इस शर्त को स्वीकृत कर यदि ऐसी छूट दी गई होती तो संसार न चार्वाक तथा कार्लमार्क्स के विचारों को सुन पाता, न डार्विन तथा आइन्स्टाईन के। विचार-क्षेत्र में सब से बड़ा प्रतिक्रियावादी वह है, जो स्वीकृत सत्यों से भिन्न नई सच्चाइयों के उद्‌घाटन की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता।

प्रश्न है, किसी साहित्यिक कृति में समीक्षक को मुख्यतः क्या देखने का प्रयत्न करना चाहिये? उत्तर है—समीक्षक को मुख्यतः दो चीजें देखनी चाहियें। एक यह कि किसी कलाकृति में कहाँ तक अनुभूति की सच्चाई है, उसमें निबद्ध अनुभूति कहाँ तक ग्राह्य अथवा संवेद्य हैं; जिस अनुभूति को साहित्यकार ने उपस्थित किया है वह किस हद तक सजीव जीवन-स्पन्दन का रूप ले सकी है? दूसरे, समीक्षक को देखना चाहिये कि अभिव्यक्त अनुभूति का स्तर या धरातल क्या है; वह प्रौढ़ता अथवा परिपक्वता की

किस भूमिका तक पहुँच सकी है ? इसके साथ समीक्षक को यह देखना होगा कि अभिव्यक्त अनुभूति कहां तक कलाकार की अपनी निराली संवेदना का प्रतिफलन है; दूसरे शब्दों में, वह अनुभूति कहां तक दूसरे युगों अथवा विचारकों की परम्परायुक्त अनुभूति न होकर लेखक की स्वयं अनुभूति है।

खास तौर पर आज के हिन्दी-समीक्षक को अनुभूति अथवा कृतित्व के धरातल को परखने की योग्यता सम्पादित करनी है।

इस वक्तव्य को पल्लवित करने की जरूरत है। किसी भी युग में नये साहित्य की जरूरत इसलिये पड़ती है कि उस युग के जीवन की सम्भावनाएं विगत युगों की जीवन सम्भावनाओं से भिन्न अथवा नई होती हैं ? साहित्य को हम या तो जीवन का चित्रण कह सकते हैं या जीवन की (रागात्मक) सम्भावनाओं का उद्‌घाटन। जीवन का यथार्थ मूलक चित्रण फोटोग्राफी के अर्थ में सम्भव नहीं है। जीवन की असंख्य छवियों से चयन करते हुये कलाकार उसकी न्यूनाधिक यथार्थ संभावनाओं की विकृति या सृष्टि कर सकता है। क्योंकि जीवन के तत्वों का अन्वेषण एक अखण्ड ऐतिहासिक परम्परा है, इसलिये नये युग की अनुभूति विगत युगों की निषेधक न होकर उनकी जीवन अनुभूति में वृद्धि करने वाली होती है। अतएव नए लेखक की समस्या होती है—वर्तमान अथवा निकट अतीत के एक विशेष बिन्दु तक संचय किये हुए मानवता के ज्ञान एवं अनुभव की नई सम्भावनाओं का निर्देश करना। परिपक्व मस्तिष्क का लेखक वह है जो ऐतिहासिक, अर्थात् समग्र इतिहास में बिखरी हुई, मानव-चेतना के अविकृत सार्थक रूपों से सुपरिचित है, और उस परिचय के आलोक में जीवन की नई दिशाओं का संकेत करने में प्रयत्नशील है।

उक्त कथन को हम उदाहरण देकर स्पष्ट करें। जीवन की एक नई सम्भावना के निर्देश को दो तरह से समझा जा सकता है। प्रथमतः इस सम्भावना का अर्थ है जीवन तथा जगत के अन्वेषित यथार्थ से एक नया सम्बन्ध; दूसरा अर्थ है, उस यथार्थ के प्रति एक विशेष रुख या मनोभाव जिन्हें हम अध्यात्मवादी या भौतिकवादी दर्शन कहते हैं, वे उल्लिखित यथार्थ के प्रति विशिष्ट रुखों का प्रतिपादन करते हैं। एक विचारशील व्यक्ति में ये मनोभाव यथार्थ जगत की विशिष्ट चेतना से निर्धारित और निरूपित होते हैं। उच्च कोटि का लेखक यथार्थ-सम्बन्धी चेतना और उसके प्रति भावनात्मक दृष्टि अथवा रागात्मक मनोभाव

(Emotional Attitude) दोनों का ही प्रकाशन करता है।

इसका मतलब यह है कि यदि कोई लेखक अपने पाठक में भौतिक वादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो उसे उस समग्र बोध-चेतना का संकेत करना पड़ेगा जो आज के विचारशील व्यक्ति को भौतिकवादी कह कर दर्शन की ओर आकृष्ट करती है। यही बात अध्यात्म वादी अथवा ईश्वरवादी जीवन-दृष्टि के रागात्मक प्रतिपादन पर लागू होगी।

आज यदि ईश्वरवादी लेखक हमारे सामने भावुक भाषा में केवल उन तथ्यों को रखे, जिनके आधार पर पुराने लोग आस्तिक बन जाते हैं, अथवा कोई दार्शनिक केवल उन्ही तर्कों को दुहरा दे जो उदयनाचार्य ने अपनी 'कुसुमांजलि' में उपस्थित किये थे, वह न तो हमारे विशिष्ट युग का विचारक ही होगा, न एक प्रौढ़ अथवा परिपक्व मस्तिष्क का लेखक ही माना जा सकेगा! प्रौढ़ एवं परिपक्व बुद्धि का लेखक वही है जो किसी प्रश्न से सम्बद्ध मानवजाति की आज तक की अशेष शंकाओं तथा संदेहों के बीच गुजर चुका है।

सम्भव है कि जीवन के भावनात्मक दृष्टिकोण संख्या में सीमित हैं जैसे आशावाद और निराशावाद, संदेहवाद और आस्थावाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, इहलोकवाद तथा परलोकवाद; किन्तु वह यथार्थ जिसकी चेतना में इन मनोभावों का उदय होता है। स्वयं मनुष्य की अन्वेषण क्रिया से लगातार बदलता रहता है विभिन्न विज्ञानों के सतत अन्वेषणों के द्वारा ज्ञात विश्व का मानचित्र लगातार बदलता जा रहा है। इस बदलते मानचित्र की चेतना को देते हुये ही कलाकार हममें विभिन्न रागात्मक दृष्टियों या मनोभावों को उत्पन्न करता है। अतः साहित्यिक कृति की परीक्षा करते हुये हमें यह देखना चाहिये कि उसके लेखक ने अपने पाठकों में जिस रागात्मक मनोवृत्ति को उत्पन्न करना चाहा है, उसकी पुष्टि में वह कितनी समृद्धि यथार्थानुभूति अथवा बोध-चेतना का उपयोग कर सका है।

संक्षेप में, किसी कलाकृति के धरातल की जाँच करने के लिये यह देखना उतना महत्वपूर्ण नहीं है कि लेखक भौतिकवादी है या अध्यात्म-वादी, वह संशयवादी है या आस्थावादी; महत्वपूर्ण बात यह देखना है कि वह अपनी विशिष्ट जीवन-दृष्टि को कितनी सूक्ष्म गहरी तथा आधुनिक यथार्थ-चेतना से सम्बन्ध करके व्यक्त कर सका है! शास्त्रीय भाषा में समीक्षक को यह देखना चाहिये कि मानवता के आज तक उपलब्ध ज्ञान

विज्ञान के आलोक में, किसी लेखक या कृति का विभावपक्ष कितना समृद्ध है ?[1]

अन्वेषित यथार्थ से सम्बन्ध चेतनाओं की समानता के कारण एक आधुनिक भौतिकवादी, बीसवीं सदी के एक अध्यात्मवादी की बात चीत में जितना रस ले सकेगा, उतना ही एक चार्वाक-युगीन भौतिकवादी की बातचीत में नहीं। दार्शनिक समझदारी की दृष्टि से यह भेद उतना महत्वपूर्ण नहीं है कि एक व्यक्ति भौतिकवादी है और दूसरा अध्यात्मवादी जितना कि वह जो एक आधुनिक परीक्षक की यथार्थ चेतना और एक दो हजार वर्ष पूर्व के तत्व-चिंतक की यथार्थ-चेतना में है।

हिन्दी समीक्षा अभी तक प्रौढ़ि अथवा परिपक्वता (Maturity) की इस धारणा से न तो परिचित ही है और न इसका उपयोग ही कर सकी है। छायावादी कवि किस जीवन-दर्शन को मानते हैं ? यह एक बात है; वे उस दर्शन को कितनी सूक्ष्म एवं विस्तृत यथार्थ चेतना अथवा बोध-दृष्टि से सम्बन्ध करके प्रकाशित कर चुके हैं—यह दूसरा और ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न है। 'कामायनी' से हमारी यह शिकायत नहीं है कि उसमें श्रद्धा और बुद्धि के द्वन्द्व को दिखाते हुये श्रद्धा को श्रेष्ठतर घोषित किया गया है—यदि एक समीक्षक स्वयं बुद्धिवादी है तो भी उसे यह शिकायत करने का अधिकार नहीं है। हमारी शिकायत दूसरी है—यह कि उक्त काव्य में श्रद्धा और बुद्धि के संघर्ष को अपने युग के विकसित धरातल पर चित्रित नहीं किया गया है। उसमें न तो बुद्धि-पक्ष का ही ऐसा प्रतिपादन है जिसमें मानव बुद्धि के महत्व का सशक्त प्रतिफलन हो—जो बुद्धिवादियों की भावनाओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके—और न श्रद्धा के पक्ष का ही ऐसा गम्भीर समर्थन है, जो युग की सन्देहवादी बौद्धिकता को हिला भी सके। जान पड़ता है, 'कामायनी' काव्य साधारण कोटि के पाठकों के लिए लिखा गया है, उन विचारशील जिज्ञासुओं के लिए नहीं, जो सुचिंतित जीवन-दर्शन की खोज में विश्व के अशेष ज्ञान विज्ञान का मंथन कर डालते हैं। सच पूछिये तो 'कामायनी' में तेजस्वी चिंतन का गम्भीर आलोड़न कहीं प्रतिफलित नहीं हो सका है।

उच्चतम कोटि के धरातल पर लिखे हुये महाकाव्य अथवा उपन्यास से दूसरे क्षेत्रों के श्रेष्ठतम विचारकों को कुछ सीख सकना चाहिये।

---

[1]विभाव पक्ष की सम्बद्धता में समीक्षक लेखक की जीवन दृष्टि का विश्लेषण और उसकी प्रौढ़ता का मूल्यांकन कर सकता है—उसे करना चाहिए।

किसी भी युग का उच्च कोटि का कलाकार बौद्धिक अर्थात् चिंतन के धरातल पर अपने समय के ऊंचे से ऊंचे विचारकों के समकक्ष होता है। उदाहरण के लिये बौद्धिक परिपक्वता में टी० एस० इलियट अपने क्षेत्र में उतनी ऊंची कोटि का विचारक है जितनी बर्ट्रांड रसेल तथा आईन्स्टाइन अपने क्षेत्र में। अपने देश के रवीन्द्रनाथ भी इसी कोटि के विचारशील लेखक हैं। इस दृष्टि से खड़ी बोली के अब तक के किसी भी लेखक का नाम उक्त प्रतिभाओं के साथ नहीं लिया जा सकेगा।

अब हम साहित्यिक प्रौढ़ता के स्वरूप का संक्षिप्त निर्देश करने का प्रयत्न करेंगे।

किसी साहित्यिक कृति में एक श्रेणी की प्रौढ़ता तब उत्पन्न होती है, जब उसमें निबद्ध अनुभूति अखण्डित रूप में यथार्थ जान पड़ती है। उस कोटि के साहित्य में नियोजित कल्पना पूर्णतया यथार्थ कल्पना होती है, वहां यथार्थ के सघन चित्रों के बीच घटिया कल्पना के पैबन्द नहीं रहते। प्रेमचन्द के 'गोदान' में किसान-जीवन का चित्रण इस दृष्टि से प्रौढ़ बन सका है; किन्तु उसी उपन्यास में दार्शनिक महत्ता तथा दूसरे वर्गों का चित्रण उतने सघन रूप में यथार्थ नहीं है। इसके विपरीत गोर्की का 'मां' उपन्यास शुरू से अन्त तक यथार्थ के सघन प्रतीति का वाहक है। इसलिये, शायद गोदान की तुलना में 'मां' उपन्यास श्रेष्ठतर है। 'शायद' इसलिये कि प्रेमचन्द ने किसानों की परम्परागत संस्कृति का भी सूक्ष्म अंकन किया है; उसका यह अंकन अमेरिकी लेखिका पर्ल बक के 'द गुड अर्थ' से अधिक बहुमुखी है। इसी प्रकार शरच्चन्द्र के उपन्यासों में मध्यवर्ग के जीवन के सघन यथार्थ मूलक चित्र पाये जाते हैं।

यथार्थ मनोवैज्ञानिक भी होता है और सामाजिक भी; विच्छिन्न न होते हुये भी ये दोनों कोटियां विविक्त या अलग की जा सकती हैं। कुछ लेखक मानवीय कर्मों द्वारा गहरे मनोवैज्ञानिक स्थलों का सशक्त परिचय देनेकी क्षमता रखते हैं; जैसे दास्ताएव्स्की; दूसरे लेखक कर्म की सामाजिक प्रेरणाओं का जटिल चित्रण कर सकते हैं, जैसे टालसटाय। ये दोनों ही लेखक उक्त तीनों लेखकों से बड़े हैं।

प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों तथा समाज का चित्रण मुख्यतः वर्तमान के दायरे में किया है, सांस्कृतिक परम्परा को वहीं तक लिया है जहां तक वह वर्तमान को प्रभावित कर रही है। उनकी दृष्टि में अच्छाई बुराई के पैमाने पूर्णतया निश्चित हैं। अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं की और उनसे

उत्पन्न विचारात्मक संघर्ष की गहरी ऐतिहासिक चेतना प्रेमचन्द में नहीं है। उसके विपरीत 'शेष प्रश्न' तथा 'पथ के दावेदार' का लेखक एक से अधिक परम्पराओं अथवा जीवन-दृष्टिओं के संघर्ष को देखने-चित्रित करने की क्षमता रखता है। इस दृष्टि से शरच्चन्द्र प्रेमचन्द्र से बड़े कलाकार है। और इसी दृष्टि से 'वार एण्ड पीस' का लेखक टालसटाय शरच्चन्द्र से महत्तर कलाकार है। टालसटाय की यथार्थ विषयक दृष्टि भी उक्त भारतीय लेखकों से अधिक सघन और समृद्ध है। दोस्ताएव्स्की की विशेषता इसमें है कि वह मानव-चेतना की गहराईयों की विवृति करते हुए हमारे सामने मनुष्य की नैतिक धार्मिक अनुभूति से सम्बन्ध क्रांतिकारी प्रश्न उत्पन्न (उपस्थित) कर देता है!

संक्षेप में बहुत बड़े लेखक हमारे सामने केवल एक विशेष देश काल के मनुष्य का नहीं, अपितु लम्बे इतिहास वाले मनुष्य का समस्या जटिल जीवन उपस्थित कर देते है। महान लेखक कभी-कभी ऐसे संकेत भी दे देते है जिनसे हम मनुष्य को भूमण्डल के समाजों की ही नहीं, अपितु अखिल ब्रह्मांड की पृष्ठभूमि में देख सके।

यहां सक्षेप में एक प्रश्न का विचार और करेंगे—साहित्य की उपयोगिता का। मनुष्य का कोई भी प्रयत्न एक साधारण,'छिछले अर्थ में उपयोगी हो सकता है और एक बड़े, गम्भीर अर्थ में भी! अपेक्षाकृत कम पढ़े लिखे लोगों को सुविधा की दृष्टि से राधेश्याम कथावाचक की रामायण तुलसी के 'मानस' से भी अधिक उपयोगी सिद्ध की जा सकती है। किन्तु किसी साहित्यिक कृति की उपयोगिता का अन्तिम मानदण्ड यह है कि वह किसी यथार्थ के विस्तार और गहराइयों से हमारा कितना सघन परिचय कराती तथा हमारे चेतना-मूलक एव सृजनशील जीवन को कितना समृद्ध करती है।

पूछा जा सकता है—यदि समीक्षक में विशिष्ट जीवन दर्शन का आग्रह नहीं होगा तो वह व्यवसायी दृष्टि से लिखे गये अश्लील साहित्य एवं स्वस्थ साहित्य में किस प्रकार अन्तर करेगा। उत्तर में निवेदन है--तथाकथित अस्वस्थ साहित्य कभी समृद्ध जीवन-दृष्टि में जन्म नहीं ले सकता, और न वह पाठकों को वैसी जीवन-दृष्टि दे ही सकता है। इसलिये अनुभूति के धरातल के पैमाने से ही ऐसे साहित्य को निकृष्ट सिद्ध किया जा सकता है। हमें कहना है कि उस दृष्टि से डी० एच० लौरेंस जैसे अन्तर्दृष्टि सम्पन्न लेखकों की कृतियां न निकृष्ट ही कही जा सकती है न अश्लील।

अवश्य ही लारेंस टालसटाय जैसे कलाकारों की कोटि का नहीं है ! टॉलसटाय के, वार एण्ड पीस' की प्रशंसा में एक लेखक ने लिखा है—

'The reality of war and peace is of three kinds. reality of character creation, reality of background, reality of moral law.

अर्थात 'युद्ध और शांति' उपन्यास की यथार्थानुकारिता अथवा सचाई तीन प्रकार की है—चरित्र-सृष्टि की यथार्थता, पृष्ठभूमि की यथार्थता और नैतिक सत्य की यथार्थता। हमारी कामना है कि उगती हुई तथा आगे आने वाली पीढ़ियों के हिन्दी पाठक और समीक्षक अपने लेखकों से इस प्रकार की वास्तविकता या सचाई की मांग करना सीखें और प्रौढ़ता की विभिन्न कोटियों के समुचित मूल्यांकन की योग्यता सम्पादित करें !

प्राध्यापक: दर्शन विभाग
लखनऊ विश्व विद्यालय लखनऊ

डा० देवराज